माला का परिचय

जोधपुर के स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी मुंसिफ इतिहास और विशेषतः मुसलिम-काल के भारतीय इतिहास के बहुत बड़े ज्ञाता और प्रेमी थे, तथा राजकीय सेवा के कामों से वे जितना समय बचाते थे, वह सब वे इतिहास का अध्ययन और खोज करने अथवा ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने में ही लगाते थे। हिंदी में उन्होंने अनेक उपयोगी ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे हैं जिनका हिंदी संसार ने अच्छा आदर किया।

श्रीयुत मुंशी देवीप्रसाद की बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि हिंदी में ऐतिहासिक पुस्तकों के प्रकाशन की विशेष रूप से व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिए उन्होंने ता० २१ जून १९१८ को ३५०० रुपया अंकित मूल्य और १०५०० रु० मूल्य के बंबई बंक लि० के सात हिस्से सभा को प्रदान किये थे और आदेश किया था कि इनकी आय से उनके नाम से सभा एक ऐतिहासिक पुस्तकमाला प्रकाशित करे। उसी के अनुसार सभा यह 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' प्रकाशित कर रही है। पीछे से जब बंबई बंक अन्यान्य दोनों प्रेसीडेंसी बंकों के साथ सम्मिलित होकर इंपीरियल बंक के रूप में परिणत हो गया, तब सभा ने बंबई बंक के हिस्सों के बदले में इंपीरियल बंक के चौदह हिस्से, जिनके मूल्य का एक निश्चित अंश चुका दिया गया है, और खरीद लिए और अब यह पुस्तकमाला उन्हींसे होनेवाली तथा स्वयं अपनी पुस्तकों की बिक्री से होनेवाली आय से चल रही है। मुंशी देवीप्रसाद का वह दान-पत्र काशी नागरीप्रचारिणी सभा के २६ वें वार्षिक विवरण में प्रकाशित हुआ है।

आशीर्वचन

खड़ीबोली हिंदी अद्भुत शक्तिशालिनी भाषा है। यद्यपि दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी के उपलब्ध साहित्य से ही इसके अस्तित्व का कुछ न कुछ पता चलने लगता है, पर व्यापक रूप में साहित्य भाषा के रूप में इसका प्रचार बाद में हुआ। मुसलमान लेखकों और कवियों ने इसका साहित्य भाषा के रूप में अधिक प्रयोग किया। दक्षिण (हैदराबाद) में तो चौदहवीं शताब्दी से ही इसमें गद्य का प्रयोग मिलने लगता है लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि भक्तिकाल के उत्थान के समय ब्रजभाषा और अवधी (श्रीकृष्ण और श्री रामचन्द्र की जन्मभूमि की तात्कालिक भाषा) अधिक प्राधान्य पा गई और खड़ीबोली फारसीलिपि में लिखी जाकर प्रधानरूप से मुसलमानी भाषा मान ली गई। फारसीलिपि और मुस्लिम संस्कृति में सनद्ध होकर उसने नया नाम भी ग्रहण किया। उन दिनों फारसी भाषा राजकीय व्यवहार की भाषा थी और इस देश के मुस्लिम शासकों की सांस्कृतिक प्रेरणा की स्रोत थी। यह बात तो नहीं है कि जो खड़ी हिंदी मुस्लिम संस्कृति के वातावरण में पलकर उर्दू के प्राणवान् साहित्य का माध्यम बनी उसके लेखक या प्रशंसक केवल मुसलमान ही थे। सच बात तो यह है कि उन दिनों का राजकीय कार्यों का निर्वाहक हिंदू सहृदय भी इस भाषा को उतने ही प्रेम और उत्साह से अपना रहा था जितने प्रेम और उत्साह से उस समय का मुसलमान नागरिक अपनाता था। वास्तव में यह भाषा फारसी और भारतीय भाषाओं का सुंदर मिश्रण थी इसके माध्यम से मनुष्य के मार्मिक और सुकुमार मनोभावों की बड़ी ही सुंदर अभिव्यक्ति हुई। अधिकतर नागरजनों द्वारा व्यवहृत और समादृत होने के कारण उसमें कोमल भावव्यंजना बहुत निखरे हुए रूप में प्रकट हुई। किंतु धीरे धीरे वह लाक्षणिक प्रयोग बहुल परिमार्जित भाषा के रूप में अधिक आत्मप्रकाश करने लगी और देश की कोटि-कोटि जनता ने जिस संस्कृति से प्रभावित विचारधारा को भक्तजनों की वाणी के रूप में स्वीकार किया था उससे दूर होती गई। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में यह व्यवधान और भी विस्तृत हो गया और खड़ीबोली हिंदी

पारसीक-भारतीय मिश्रित संस्कृति के वाहन की अपेक्षा पारसीक प्रभाव से लदी भाषा के रूप में व्यवहृत होने लगी। बाद में तो यह व्यवधान बढ़ता ही गया और उसकी प्रतिक्रिया भी तीव्र से तीव्रतर होती गई। उन्नीसवीं शताब्दी में यह भाषा फिर से देवनागरी लिपि में लिखे जाने की ओर बढ़ने लगी। जिस भाषा को किसी समय देश के मुसलमान नागरिकों और हिंदू राजपुरुषों के सहृदयतापूर्ण पोषण और संरक्षण के बलपर फारसीलिपि का स्वतंत्र प्राप्त हुआ था वह अब देश की पुरानी लिपि देवनागरी में भी लिखी जाने लगी। यद्यपि इस बात का महत्त्व शुरू से ठीक नहीं आका गया और इस पक्ष और उस पक्ष से अनेक प्रकार के आरोपों का इसे शिकार बनना पड़ा परंतु यह घटना बहुत शुभ परिणाम को वहन करनेवाली सिद्ध हुई। यहाँ आकर इस भाषा को अवधी और ब्रजभाषा से अभिन्न मान लिया गया और इन दो प्रधान साहित्यिक भाषाओं में जो कुछ लिखा गया था उसे इसी भाषा का साहित्य स्वीकार कर लिया गया। आरंभ में गद्य तो खड़ीबोली में लिखा जाने लगा था किंतु पद्य के लिए यह अनुपयुक्त मानी जाती थी। अनेक संघर्षों और विवादों के बाद बीसवीं शताब्दी में इसे काव्य सरस्वती का वाहन स्वीकार किया गया। देखते देखते यह 'नवीन' भाषा भारतवर्ष के मुख्य भाग की साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भाषा बन गई। लोग आश्चर्यचकित होकर इसकी अद्भुत उन्नति को देखते हैं और कभी कभी क्षुब्ध होकर उलटी सीधी आलोचना भी करते हैं। मुसलमान भाइयों द्वारा पाली पोसी गई, भक्त और संत कवियों की अपूर्व अमृतवर्षा से पुनरुज्जीवित और देश की अधिकांश जनता के सांस्कृतिक जीवनसे गतिशील बनी हुई यह नागरी-लिपिशाली खड़ीबोली सांस्कृतिक त्रिवेणी के रूप में महत्वपूर्ण पद प्राप्त कर सकी। इसके संघर्षों और सफलताओं की कहानी बड़ी ही स्फूर्तिदायक है। डा० शितिकंठ मिश्र ने उसी मनोरंजक और प्रेरणादायिनी कहानी को इस पुस्तक में लिपिबद्ध किया है। यह महत्त्वपूर्ण भी है और विचारोत्तेजक भी। मेरा विश्वास है कि सहृदयों को यह पुस्तक बहुत प्रिय होगी। आयुष्मान् शितिकंठ और भी महत्वपूर्ण साहित्यिक भेंट हिंदी जगत् को समर्पण करते रहें, यही मेरी शुभकामना है।

जन्माष्टमी
सं० २०१३ वि०।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

परिचय

खड़ीबोली का आंदोलन हिंदी काव्य के लिए खड़ीबोली के प्रयोग का आंदोलन था जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में प्रारम्भ हुआ था। गद्य में खड़ीबोली का प्रयोग तो स्वेच्छा से लोगों ने स्वीकार कर लिया उसके लिए न किसी प्रचार की आवश्यकता हुई न आंदोलन की। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जब जन-शिक्षा का प्रारंभ हुआ तब निखिल हिन्दी क्षेत्र में खड़ीबोली हिंदी ही शिक्षा और परीक्षा का माध्यम स्वीकृत हुई। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी संपूर्ण हिन्दी क्षेत्र में खड़ीबोली हिन्दी के माध्यम से हुआ। इनके लिए भी प्रचार और आंदोलन की आवश्यकता नहीं हुई। परंतु जब १८८७ ई० में अयोध्याप्रसाद खत्री ने हिन्दी काव्य के माध्यम रूप में खड़ीबोली के प्रयोग की बात उठाई तो चारों ओर से सहसा इतने विरोधी स्वर सुनाई पड़े और खंडन-मंडन की इतनी लम्बी परम्परा चल पड़ी कि इसने एक बृहत् आंदोलन का रूप धारण कर लिया।

यों, आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास विविध आंदोलनों का ही इतिहास कहा जा सकता है। आधुनिक युग के प्रारम्भ से ही हिन्दी क्षेत्र में परस्पर विरोधी शक्तियाँ संघर्षशील थीं। भाषा में तत्सम, तद्भव और विदेशी शब्दों के प्रयोग को लेकर राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, राजा लक्ष्मण सिंह और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का विवाद चल ही रहा था, कचहरियों में नागरी और फारसी लिपि का झगड़ा भी कुछ कम महत्वपूर्ण न था। हिन्दी और हिन्दुस्तानी का झगड़ा तथा जनपद आंदोलन के साथ ही साथ छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के आन्दोलन भी हिन्दी में हलचल मचा रहे थे। आंदोलनों की इस परम्परा में आधुनिक युग का सबसे प्रभावशाली और महत्वपूर्ण आंदोलन खड़ीबोली का आंदोलन था इसमें रंच मात्र भी संशय नहीं है।

खड़ीबोली का आंदोलन मूल रूप में दो युगों का संघर्ष था—प्राचीन आदर्शवादी धार्मिकता और आधुनिक यथार्थवादी उपयोगिता का संघर्ष था। युगों से साहित्य के माध्यम के रूप में ऐसी भाषा का प्रयोग होता रहा है जो पवित्र भाषा मानी जाती रही है। मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व भारत में ब्राह्मण मतावलम्बी साहित्य का निर्माण अधिकांश देववाणी संस्कृत के माध्यम से करते थे क्योंकि ब्रह्मा के मुख से निकली यह भाषा गंगा जल के समान पवित्र समझी जाती थी। बौद्ध धर्मावलम्बी

भगवान बुद्ध के मुख से निकली पालि भाषा को ही साहित्य का उपयुक्त माध्यम मानते थे और जैन धर्मावलम्बियों ने अपभ्रंश को पवित्र भाषा मान लिया था। मध्य काल में वैष्णव धर्मावलम्बियों ने अवधी और ब्रज को पवित्र भाषा मानकर उन्हें काव्य का माध्यम स्वीकार किया। अवधी भगवान राम की जन्मभूमि में बोली जाने वाली भाषा थी और ब्रज भाषा, भक्तों की कल्पना के अनुसार, वह पवित्र भाषा थी जिसमें भगवान् कृष्ण ने माता यशोदा से माखनरोटी मांगी होगी। इसी कारण सुदूर बंग देश और दूर दक्षिण प्रांत में भी कृष्ण भक्त तथाकथित ब्रजवाणी में काव्य रचना करने का प्रयत्न कर रहे थे। धर्म का कुछ ऐसा ही अमोघ आकर्षण था। विशाल हिन्दी क्षेत्र में शताब्दियों से ब्रजभाषा काव्य की स्वीकृत भाषा थी और गुजरात में भी यह देववाणी संस्कृत के समान ही पूज्य और पवित्र भाषा मानी जाती थी। ऐसी ब्रजभाषा को पदच्युत कर खड़ीबोली को काव्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का उद्योग केवल उपयोगिता के सिद्धांत पर ही किया गया। वैज्ञानिक - साधन - सम्पन्न इस युग में उपयोगिता और यथार्थ ने धार्मिक भावना और आदर्श पर विजय प्राप्त की खड़ीबोली के इस आंदोलन ने इसे स्पष्ट कर दिया। इसी लिए खड़ीबोली का आन्दोलन प्राचीन युग पर आधुनिक युग के तथा भावना पर बुद्धि-वैभव के विजय का आंदोलन था। वास्तव में यह आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व करनेवाला महान् आंदोलन था।

परंतु इस युगांतर-कारी महत्वशील आंदोलन को, आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में जितना गौरव मिलना चाहिए था, अब तक नहीं मिला। प्रस्तुत प्रबंध में डा० शितिकंठ मिश्र ने इस आंदोलन का सभी दृष्टियों से विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन कर इसका युगांतर-कारी महत्व प्रतिपादित किया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की डाक्टर ऑव फिलासफी उपाधि के लिए मिश्र जी ने मेरी इच्छानुसार यही विषय लिया और तीन वर्षों के कठिन परिश्रम से उन्होंने यह प्रबंध प्रस्तुत किया जिसकी उनके परीक्षकों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की। आशा है डा० शितिकंठ मिश्र भविष्य में इसी प्रकार की महत्वपूर्ण रचनाएँ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते रहेंगे।

दुर्गाकुंड, वाराणसी
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, सं० २०१३ } श्रीकृष्णलाल

दो शब्द

खड़ीबोली हिंदी के आंदोलन का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि मध्यप्रदेश की भाषा, जिसका क्षेत्र कुरुक्षेत्र से प्रयाग अथवा राजमहल और हिमालय से विन्ध्याचल तक माना जाता रहा है, प्राचीन काल से अंतर्प्रांतीय व्यवहार की भाषा रही है। मध्यप्रदेश में प्रचलित संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का बराबर उत्तर तथा दक्षिणापथ में सचार रहा है। तमिल वाङ्मय में ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि ईसा के २५० वर्ष पूर्व से ईसा सन् की प्रथम शती पश्चात् तक पुलकित के पूर्व और पटक्कल के पश्चिम तक का प्रदेश आर्य-सत्ता के अधीन था और वहाँ आर्यभाषा प्रचलित थी। प्राचीन अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि ईसा सन् की प्रथम शती से पाँचवीं शती तक वहाँ के अभिलेख प्राकृत भाषा में लिखे जाते थे। कृष्णा जिले के जगय्यापेठ के स्तूप पर जो 'लेख' अंकित है वह प्राकृत में है और उसमें इक्ष्वाकु कुल के माठरीपुत्र श्री वीरपुरुषदत्त नामक राजा का उल्लेख है। कांची में जब पल्लवों का राज्य स्थापित हुआ तब वहाँ भी पाँचवीं शताब्दी में ह्यूनसांग के अनुसार मध्यप्रदेश की भाषा बोली जाती थी। यदि जनता प्राकृत भाषा से परिचित न होती तो अभिलेख उसमें क्यों लिखे जाते? इससे यह सिद्ध होता है कि आर्य देश के जिस जिस कोने में पहुंचे, अपने साथ अपनी भाषा लेते गये और उनके राजकीय शासन तथा धार्मिक आंदोलनों के साथ उनकी भाषा का भी फैलाव हुआ। अर्नेस्ट हारविच ने अपनी 'शार्ट हिस्टरी आफ इंडियन लिटरेचर' में लिखा है कि ईसा की छठी शताब्दी में जब मगध साम्राज्य की अधोगति हुई तब उसकी भाषा भी क्रमशः विच्छिन्न होती गई। संस्कृत का स्थान मागधी ने राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण कर लिया और फिर यथा समय मागधी के भी अपने स्थान से च्युत हो जाने पर उसका स्थान अन्य प्राकृत भाषाओं और बोलियों ने ले लिया। देश में मुसलमानों के आगमन के पूर्व निश्चित शौरसेनी अपभ्रंश का उपयोग अन्तप्रान्तीय भाषा के रूप में हो रहा था। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का यह मत ठीक है कि "वह एक महान

साहित्यिक भाषा के रूप में ठेठ महाराष्ट्र से बंगाल तक प्रचलित थी"। महाराष्ट्र और बंगाल ही क्यों ? हमें तो गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ में भी शौरसेनी अपभ्रंश और व्रजभाषा के प्रति कवियों की रुझान के प्रमाण उनकी रचनाओं के रूप में प्राप्त हुए हैं। गुजराती हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरण में खड़ी बोली हिन्दी का आभास देनेवाली पंक्तियाँ मिलती हैं। विक्रम की नवीं शताब्दी में प्राकृत में रचित 'कुवलयमाला' में मध्यदेश की भाषा के उदाहरणों में "मेरे, तेरे, जाओ," जैसे शब्दों का उल्लेख है। राम और कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण मध्य देश अखिल भारत का धार्मिक केन्द्र है। अतएव प्रत्येक प्रांत की जनता का उससे सम्पर्क चला आ रहा है। स्वभावतः वहां जो भी भाषा लोक प्रचलित रही, वह समस्त राष्ट्र के व्यवहार की भाषा बन गई। धार्मिक कारण के अतिरिक्त आर्थिक और राजकीय कारणों से भी मध्यदेश की भाषा को सर्व व्यापकता प्राप्त हुई। मध्यदेश की खड़ी बोली को सर्व व्यापकता का यही रहस्य है।

प्रस्तुत ग्रंथ के उत्साही लेखक ने खड़ी बोली के देशव्यापी प्रचार के विभिन्न रूपों की सम्यक एवं गहन परीक्षा की है। विकीर्ण सामग्री का अनेक स्रोतों से सचयन कर उसने उसके आन्दोलन का एक सुसम्बद्ध इतिहास प्रस्तुत कर प्रशंसनीय कार्य किया है। खड़ी बोली को जब भारतीय संविधान में राजभाषा का स्थान दिया गया है तब उसके इतिहास के प्रति हिंदी अहिंदी भाषी जनता का जिज्ञासु हो उठना स्वाभाविक है।

इस अवसर पर इस शोध प्रबन्ध के प्रकाशन से एक बड़ी भारी आवश्यकता की पूर्ति हो रही है।

आशा है, हिन्दी जगत में इस कृति का सोल्लास स्वागत होगा।

नागपुर
दिनांक १२ जून, १६५६

—विनयमोहन शर्मा

आमुख

लोकभाषा खड़ी बोली १६ वीं शती के प्रारम्भ में गद्य के लिये निर्विरोध स्वीकार कर ली गई, परन्तु पद्य में व्रजभाषा का ही प्रयोग होता रहा। गद्य और पद्य की भाषा में जमीन और आसमान का अन्तर देखकर उसके लिए आन्दोलन की आवश्यकता पड़ी। खड़ी बोली के पक्ष और विपक्ष में काव्यभाषा के प्रश्न को लेकर जो आन्दोलन हुआ, उसे ही खड़ी बोली का आन्दोलन कहा गया है। यह आन्दोलन पूर्णतया साहित्यिक था। भाषा विज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः आन्दोलन का हिन्दी साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा या उसकी जो प्रतिक्रिया हुई, उसी का अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध में अंकित किया गया। इसके प्रथम अध्याय में जो थोड़ी सी भाषावैज्ञानिक चर्चा की गई है वह केवल इसकी स्वाभाविक उत्पत्ति का आभास देने के लिए और आन्दोलन के पक्षों को ऐतिहासिक आधार पर अधिक स्पष्ट करने के लिए।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में खड़ी बोली का आन्दोलन एक युगान्तकारी घटना है। भक्ति आन्दोलन के बाद पूरे तीन सौ वर्षों के पश्चात् लोकभाषा को काव्य भाषा का गौरव खड़ी बोली आन्दोलन के फलस्वरूप पुनः प्राप्त हुआ। हिंदी साहित्य को रीतिकालीन कृत्रिमता के बाद पुनः जनसाहित्य बनाने और उसे स्वाभाविकता तथा स्वच्छन्दता से अनुप्राणित करने का सच्चा श्रेय 'खड़ीबोली आन्दोलन' को ही है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विविध पक्षों-भाव, विषय, छन्द और कला आदि—में क्रान्ति की बाह्य अभिव्यक्ति खड़ी बोली आन्दोलन के रूप में हुई।

यह विषय जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही उपेक्षित रहा है। हिंदी साहित्य के प्रथम प्रमाणिक इतिहास लेखक आचार्य रामचद्र शुक्ल ने अपने प्रायः ५०० पृष्ठों के बृहद् इतिहास में इस घटना को केवल एक पृष्ठ दिया। उन्होंने अयोध्याप्रसाद खत्री की पांच स्टाइलों में से केवल चार का ही उल्लेख किया है। इस विषय को अपना प्रतिपाद्य स्वीकार करके भी 'हिन्दी कविता में युगान्तर' में डा० सुधीन्द्र ने आन्दोलन के आरम्भिक उत्थान को

केवल तीन पृष्ठों में सीमित कर दिया है। उन्होंने हिन्दी कविता में युगान्तर उपस्थित करने का श्रेय खड़ी बोली आन्दोलन को देते हुए और काव्यभाषा के रूप में खड़ीबोली के प्रचार को एक क्रान्ति मानते हुए भी इसको अपेक्षित विस्तार नहीं दिया। वे चाहते तो द्विवेदी युग और उनके भाषा सम्बन्धी प्रयत्नों की भूमिका के रूप में इसका आवश्यक निरूपण करके हिन्दी साहित्य के एक भूले किन्तु महत्वपूर्ण अध्याय की ओर संकेत कर सकते थे। डा० केशरीनारायण शुक्ल ने 'आधुनिक काव्यधारा' में इसके वर्णनात्मक पक्ष पर अपेक्षाकृत कुछ अधिक विचार किया है।

विषय के अध्ययन और प्रबन्ध के प्रस्तुत करने की विधि पूर्णतया वैज्ञानिक रखी गई है। मूल साधना, विशेषतया आन्दोलन-कालीन विभिन्न पत्र पत्रिकाओं से सामग्री का सचय किया गया है। सामग्री का अध्ययन, मनन और चिन्तन करने के बाद जो बात ठीक समझ में आई है, उसे सचाई पूर्वक प्रस्तुत किया गया है। कहीं भी आलोचना ग्रंथों या प्रबन्धों के तथ्यों को आख मूद कर नहीं स्वीकार किया गया है। अनुमान को पूर्णतया प्रामाणिक स्तर पर ही कहने का साहस किया गया है। इससे एक बड़ा लाभ यह हुआ है कि आरंभिक काल की कई आवश्यक पुस्तकें और ज्ञात य सूचनाए जिनका परपरा से लेखक केवल इतिहासों या आलोचना ग्रंथों के आधार पर ही नामोल्लेख कर दिया करते थे तथा उनके अप्राप्ति की सहज ही सूचना दे दिया करते थे, गुरुजनों और सहयोगियों की कृपा से मुझे शोधकाल में देखने को मिलीं और प्रबन्ध में उनका यथा-स्थान उपयोग किया गया। ऐसी पुस्तकों में श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती'—हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास—और 'पूर्णप्रभा चन्द्रप्रकाश' हरिश्चन्द्र द्वारा बगला से अनूदित उपन्यास—और अनेक अप्राप्य हस्तलेख आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त प्रबन्ध में पर्याप्त मौलिक सामग्री उपस्थित की गयी है जिनकी कोई विशेषसूचना पहले के इतिहास या आलोचना ग्रंथों में नहीं थी। प्राचीन साहित्यिकों—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र और और ग्रियर्सन आदि—के आन्दोलन-कालीन अनेक निजी पत्र विभिन्न साधनों से प्राप्त किए गये हैं। इनमें से कुछ तो तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में मिले और कुछ विभिन्न विद्वानों के संग्रहों में। अधिकतर उपलब्ध सामग्री नागरी-

प्रचारिणी सभा काशी में सुरक्षित है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण पत्रों को परिशिष्ट में उद्धृत कर दिया गया है।

प्रबन्ध लेखन का श्रेय गुरुवर डा० श्रीकृष्णलाल को ही है। यदि उन्होंने अपने हार्दिक एवं स्नेहपूर्ण आदेश निर्देश से निरन्तर पथ प्रदर्शन न किया होता और समय-समय पर प्रबन्ध पूर्ण कर लेने की प्रबल प्रेरणा न दी होती तो सम्पूर्ण आकांक्षाओं के रहते हुए भी प्रबन्ध लेखन जैसा कृच्छ्रसाध्य कार्य सम्पन्न कर लेना कठिन ही होता। उनकी पुस्तक 'आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास' द्वारा मुझे अपने विषय को समझने में सर्वाधिक सहायता मिली। इसके लिये विद्यार्थी उनका ऋणी है। धन्यवाद देकर इससे निष्कृति माँगना कृतघ्नता होगी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने समय समय पर जो प्रकाश दिया तथा आँखों में कष्ट रहते हुए भी प्रबन्ध पढ़कर अमूल्य संशोधन किया उसके लिये आभार प्रकट करने की क्षमता मेरे शब्दों में नहीं है। उपयोगी पुस्तकों के प्राचीन संस्करण और हस्तलेखों के लिये आर्यभाषा पुस्तकालय (ना० प्र० सभा) काशी के अधिकारियों और कर्मचारियों का ऋण भी मेरे ऊपर कम नहीं है। श्रीब्रजरत्नदास ने हरिश्चन्द्रकालीन पत्र-पत्रिकाएँ और श्री उदयशंकर शास्त्री ने अनेक दुर्लभ ग्रंथ मेरे लिए सुलभ कर दिए, एतदर्थ दोनों महाशयों का आभार स्वीकार करता हूँ। प्रबन्ध लेखन में जिन आदरणीय विद्वानों के लेखों और पुस्तकों से यत्किंचित भी प्रकाश प्राप्त हुआ है उन सभी महानुभावों के प्रति लेखक हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है। श्री विनयमोहन शर्मा ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक मेरे निवेदन पर 'दो शब्द' लिखने का अनुग्रह किया उसके लिये उनका चिर आभारी रहूँगा।

पुस्तक को इतनी शीघ्रता और शुद्धता के साथ प्रकाशित करने के लिये काशी नागरीप्रचारिणी सभा के मुद्रणालय, उसके व्यवस्थापक और कर्मचारियों के सौहार्दपूर्ण सहयोग का कृतज्ञ हूँ जिसके बिना यह कार्य अधूरा ही रहता।

पुस्तक में यत्र तत्र त्रुटियाँ तो होंगी हीं, परन्तु राष्ट्रभाषा की वर्तमान समस्या को सुलझाने में इससे सहृदयों को तनिक भी सेवा की तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

वाराणसी
जन्माष्टमी, सं०–२०१३

शितिकंठ

समर्पण

गुरुवर श्रीकृष्णलाल को जिन्होंने माता और पिता के वात्सल्य से असमय हो वंचित मेरे थकित-उत्साह को अपनी स्नेहिल छाया से प्राणवान बनाया।

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

खड़ीबोली की निरुक्ति, उत्पत्ति तथा प्राचीन परंपरा

खड़ीबोली की निरुक्ति — १–१५

विभिन्न मत : उर्दू सापेक्ष्य और व्रज सापेक्ष्य।

खड़ीबोली की उत्पत्ति — १५–३०

खड़ीबोली की प्रवृत्तियाँ, व्रजभाषा और खड़ीबोली में साम्य, व्रजभाषा और खड़ीबोली में विभेद, खड़ीबोली की क्रियायें, प्राचीन अपभ्रंश में खड़ीबोली के बीज।

खड़ीबोली की व्यापकता और उसकी प्राचीन परंपरा — ३०–५५

नाथ पथ, दक्खिनी साहित्य, गुजरात, पंजाब, सिंध और उड़ीसा इत्यादि, हिन्दी प्रदेश।

हिन्दी को काव्यभाषा का गौरव न मिलने का कारण — ५५–५७

द्वितीय अध्याय

खड़ीबोली आन्दोलन की पूर्वपीठिका (गद्य)

हिन्दी गद्य की परम्परा, दक्खिनी गद्य — ५८–६५

१९वीं शती में गद्य प्रचार के कारण — ६५–९२

फोर्ट विलियम कालेज : गिलक्रिस्त की भाषा-नीति, कम्पनी की भाषा-नीति, ईसाई धर्म प्रचार और शिक्षा, सरकारी क्षेत्र में हिन्दी उर्दू विरोध की समस्या, शिवप्रसाद के प्रयत्न और उनकी भाषा-नीति और नागरी लिपि का आन्दोलन

हिन्दी गद्य का विकास ९२-११५

पत्र-पत्रिकायें, गद्यरूपों का विकास, नाटक और प्रहसन, उपन्यास, निबंध और लेख।

तृतीय अध्याय

खड़ीबोली आन्दोलन की पूर्वपीठिका (पद्य)

आन्दोलन पूर्व खड़ीबोली पद्यरचना ११६-१३२

खड़ीबोली के ग्रामगीत, दक्खिनी का लोक साहित्य लावनी व ख्याल बारहमासा खड, साग और भगत, शृंगारी संगीत और ठुमरियाँ आदि, सुधारवादी जन-साहित्य, ईसाई साहित्य।

हरिश्चन्द्र द्वारा जन साहित्य के परिष्कार का प्रयास १३२-१४९

भारतेन्दु कालीन भारतीय संगीत में खड़ी बोली के प्रयोग, नाटकों में खड़ीबोली-पद्य, हरिश्चन्द्र द्वारा सत्काव्य मे खड़ी बोली के प्रयोग।

चतुर्थ अध्याय

खड़ीबोली पद्य का आंदोलन (प्रथम उत्थान)

गद्य और पद्य की भाषा विषयक विषमता १५०-१५७

ब्रजभाषा की संकुचित अभिव्यक्ति, हिन्दी क्षेत्र में विस्तार, बिहार में हिन्दी की स्थिति।

आन्दोलन का सूत्रपात : खड़ीबोली पद्य का प्रकाशन १५७-१७४

अयोध्याप्रसाद खत्री की भाषा-नीति, खड़ीबोली पद्य की विविध शैलियाँ (स्टाइल), ठेठ स्टाइल, मुंशी स्टाइल, पंडित स्टाइल, खड़ीबोली पद्य का दूसरा भाग, मौलवी स्टाइल, यूरेशियन स्टाइल, खत्री जी के छन्द संबंधी विचार।

ब्रजभाषा के समर्थकों द्वारा विरोध और विवादका आरम्भ १७४-२०४

राधाचरण गोस्वामी का विरोध, श्रीधर पाठक का अनुरोध, प्रतापनारायण मिश्र का विरोध, श्रीधर पाठक द्वारा अनुरोध, अयोध्याप्रसाद खत्री का मत, खड़ीबोली के प्रति खत्री जी की सेवायें, खड़ीबोली पद्य के अन्य समर्थक, खड़ीबोली पद्य के लिये श्रीधर पाठक की सेवायें, राधाकृष्णदास का समन्वयवादी सिद्धांत।

पंचम अध्याय

खड़ीबोली पद्य का आन्दोलन (द्वितीय उत्थान)

आंदोलन के प्रथम और द्वितीय उत्थान में अंतर २०५-२११

खड़ीबोली पद्य के लिये युग की माग, हिन्दुत्व के साथ हिन्दी के प्रति प्रेम में वृद्धि।

आचार्य द्विवेदी और खत्रीजी की भाषा-नीति में अंतर २११-२३६

द्विवेदी जी का नेतृत्व, द्विवेदी जी का उद्देश्य, खड़ीबोली में द्विवेदी जी के पद्य-प्रयोग, सरस्वती द्वारा खड़ीबोली पद्य की भाषा का निर्माण, पद्य-भाषा का परिष्कार, साहित्य संमेलन के मंच से खड़ीबोली और ब्रजभाषा विवाद की पुनरावृत्ति, खड़ीबोली में ओज और प्रसाद गुण का विकास, खड़ीबोली में माधुर्य गुण का विकास, खड़ीबोली के विरोध का अवसान।

छायावादी युग में खड़ीबोली का चरम उत्कर्ष २३६-२४६

षष्ठ अध्याय

खड़ीबोली आन्दोलन की अन्तः प्रवृत्तियाँ

खड़ीबोली आन्दोलन का प्रेरक स्रोत २४७-२५८

अंग्रेजी संसर्ग और क्रांति का सूत्रपात, क्रांति का अग्रदूत बंगाल, बुद्धिवाद का प्रभाव स्वच्छन्दतावाद, बंगला साहित्य पर स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव।

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की हिन्दी साहित्य पर प्रतिक्रिया २५९-२७७

हिन्दी काव्य में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का क्रम-विकास (उदय काल), यथार्थवाद और आदर्शवाद, स्वच्छन्दतावाद का विकास काल।

(क) उपादान २७७-३०२

समाज सुधार और राष्ट्रीयता, प्रेम, प्रकृति, मानव का आदर्श, सामान्य मानव और राष्ट्र।

(ख) काव्यरूप ३०३-३२२

गीति, गीतिकाव्य का प्रबन्ध और मुक्तकों से अंतर, गीतिकाव्य का विकास, गीतिकाव्य के भेद, मुक्तक और प्रबन्ध।

(ग) छन्द ३२३-३३५

प्रथम अवस्था : खड़ीबोली-आन्दोलन द्वारा छन्द आन्दोलन का सूत्रपात, द्वितीय अवस्था : अतुकान्त, तृतीय अवस्था : स्वच्छन्द एवं मुक्त छन्द।

(घ) काव्यकला ३३६-३४९

शृंगार रस के विरुद्ध प्रतिक्रिया, करुण रस की प्रधानता, शृंगार, वीर, हास्य (व्यंग्य), वात्सल्य आदि, अलंकार और विविध।

उपसंहार ३५०-३५२

परिशिष्ट ३५३-३५९

ग्रंथसूची ३६०-३६६

खड़ी बोली का आंदोलन

प्रथम अध्याय

खड़ी बोली की निरुक्ति, उत्पत्ति तथा प्राचीन परंपरा

'खड़ी बोली' की निरुक्ति

हिंदी के जिस स्वरूप को राष्ट्रभाषा का सम्मान दिया गया है वह न 'सूरसागर' की हिंदी है न 'मानस' की, बल्कि 'खड़ी बोली' हिंदी है। गौरव की इस चोटी तक पहुँचने के लिये उसे अनेक संघर्षों से होकर गुजरना पड़ा है। यह तो निर्विवाद हो गया है कि दिल्ली-मेरठ की प्रांतीय विभाषा के आधार पर ही वर्तमान राष्ट्रभाषा हिंदी का विकास हुआ है, परंतु आरंभ में इसका नाम 'खड़ी बोली' क्यों पड़ा—यह विद्वानों के तमाम प्रयत्नों के बाद भी विवादग्रस्त ही है।

जहाँ तक ज्ञात हो सका है 'खड़ी बोली' शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग सन् १८०३ ई० में लल्लूजीलाल और सदल मिश्र ने फोर्टविलियम कालेज कलकत्ते में किया और उसी वर्ष इन्हीं प्रयोगों के आधार पर गिलक्रिस्ट ने भी 'खड़ी बोली' शब्द का चार बार प्रयोग किया। इसके पूर्व इस भाषा का कोई विशेष नाम नहीं था और न नामकरण की आवश्यकता ही समझी गई। हिंदुस्तान की बोलचाल की भाषा को बहुत दिनों से 'हिंदुस्तानी' कहा जाता था। इस बोली के लिये आवश्यकता पड़ने पर 'इंद्रप्रस्थ की बोली', 'दिल्ली की बोली' या 'हरियानी बोली' कहा जाता था और उसका अर्थ भी सहज ही समझ में आ जाता था क्योंकि किसी प्रांत या देश के नाम पर बहुधा वहाँ की बोली भाषा का भी नामकरण होते देखा गया है,

जैसे हिंदी, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, शोरसेनी, भोजपुरी, बंगला, तमिल आदि। परंतु 'खड़ी' किसी प्रांत या देश का नाम नहीं है, अतः कुरुप्रदेश की बोली के लिये प्रयुक्त यह विशेषण स्थान-परक नहीं हो सकता गुणपरक ही होगा क्योंकि विशेष गुणों के आधार पर भी भाषाओं के नाम चल पड़ते हैं। संस्कृत, पालि, अपभ्रंश, डिंगल, उर्दू, रेखता आदि इसी प्रकार के नाम हैं। किस गुण के कारण इस बोली को 'खड़ी' विशेषण से विभूषित किया गया यह भलीभाँति समझने के लिये इस शब्द के आरंभिक प्रयोगों का अध्ययन अत्यावश्यक है।

सन् १८०३ ई० में लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर के संबंध में सूचना देते हुये 'खड़ी बोली' शब्द का निम्नलिखित रूप में प्रयोग किया जो बहुत ही महत्वपूर्ण साथ ही विवादपूर्ण भी रहा है—

(१) 'एक समै व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत के दसम स्कंध की कथा को चतुर्भुज मिश्र ने दोहे चौपाई में ब्रजभाषा किया। सो पाठशाला के लिये महाराजाधिराज सकल गुण निधान, पुण्यवान, महाजान मारकुइस वलिजलि गवरनर जनरल प्रतापी के राज में श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त की आज्ञा से संवत् १८६० में लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरेवाले ने जिसका सार ले यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की 'खड़ी बोली' में कह नाम प्रेमसागर धरा[1]।'

उसी वर्ष सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान के संबंध में लिखा—

(२) 'अब संवत् १८६० में 'नासिकेतोपाख्यान' को जिसमें चंद्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिये खड़ी बोली में किया।'[2]

जान गिलक्रिस्त ने भी उसी वर्ष 'दि हिंदी स्टोरी टेलर' (भाग २) में एक बार और 'दि ओरियंटल फेबुलिस्ट' में तीन बार 'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग किया। 'फेबुलिस्ट' के तीन प्रयोगों में से प्रस्तुत विषय पर केवल दो ही प्रयोग प्रकाश डालते हैं, अतः यहाँ एक 'स्टोरी टेलर' का और दो 'फेबुलिस्ट' के प्रयोग उद्धृत किये जा रहे हैं—

---

१ लल्लूजीलाल : प्रेमसागर, (१८०५), पृ० १।

२ सदल मिश्र : नासिकेतोपाख्यान, पृ० २।

(३) 'इन (कहानियों) में से कई खड़ीबोली अथवा हिंदुस्तानी के शुद्ध हिंदवी ढंग की हैं। कुछ ब्रजभाषा में लिखी जायँगी।'[1]

(४) 'मुझे बड़ा खेद है कि ब्रजभाषा के साथ साथ 'खड़ी बोली' का परित्याग कर दिया गया था। हिंदुस्तानी की यह विशिष्ट पद्धति या शैली (इडियम आर स्टाइल) उस भाषा के विद्यार्थियों के लिये बहुत ही लाभदायक सिद्ध होती।'[2]

आगे उसी स्थल पर लिखा कि—

(५) '*वास्तविक खड़ी बोली (खड़ी बोली) में हिंदुस्तानी के व्याकरण* पर विशेष ध्यान दिया जाता है और अरबी फारसी का लगभग पूर्ण परित्याग रहता है।'[3]

सन् १८०४ में ई० मे गिलक्रिस्त ने 'द हिंदी रोमन आर्थो एपिग्रैफिक अल्टिमेटम' में दो बार 'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग किया, वे दोनों ही प्रयोग बड़े महत्वपूर्ण हैं, अतः उन्हें भी यहाँ दिया जा रहा है—

(१) शकुंतला का दूसरा अनुवाद 'खड़ी बोली' अथवा भारतवर्ष की निर्मल बोली (स्टर्लिंग टंग आव इंडिया) में है। हिंदुस्तानी से इसका भेद केवल इसी बात में है कि अरबी और फारसी का प्रत्येक शब्द छांट दिया जाता है।[4]

(२) 'प्रेमसागर को जो एक बहुत ही ललित ग्रंथ है, लल्लूजीलाल ने हमारे विद्यार्थियों के लिये हिंदुस्तानी की शिक्षा के लक्ष्य पूर्ति के निमित्त ब्रजभाषा की सुंदरता एवं स्वच्छता के साथ खड़ी बोली में अंगरेजी भारत की हिंदू जनता के वृहत् समुदाय के वास्तविक लाभ की दृष्टि से लिखा है।'[5]

उक्त मौलिक अवतरणों के आधार पर विवाद काल मे 'खड़ी बोली' की विभिन्न व्याख्यायें की गईं। अनेक विद्वानों ने अपने मतसमर्थन मे इन्हीं प्रयोगों से खींचतान कर अपने अनुकूल अर्थ निकाला। वस्तुतः इन आरंभिक प्रयोगकर्ताओं को यह शंका भी नहीं हुई होगी कि कभी उनके एक एक शब्द की इतनी व्याख्यायें होंगी। अन्यथा वे इस शब्द के प्रयोग

१ गिलक्रिस्त : द हिंदी स्टोरी टेलर, भाग २, पृ० २।
२ गिलक्रिस्त : द ओरियंटल फैबुलिस्ट, पृ० ५।
३ गिलक्रिस्त : वही।
४ गिलक्रिस्त : द हिंदी रोमन आर्थो-एपिग्रैफिक अल्टिमेटम, पृ० १६।
५ वही।

में अवश्य सतर्क रहते और संभवतः इतने विवाद के लिये अवकाश न छोड़ते। परन्तु आरम्भ में इस प्रकार का कोई प्रश्न ही नहीं था। किसी प्रतिद्वंदी भाषा के संघर्ष में आने पर ही किसी भाषा के नाम, उत्पत्ति और व्यवहार आदि के संबंध में विवाद उठते हैं। सन् १८३८ ई० में कचहरी भाषा संबंधी आदेश के समय जब हिंदी ने अपना न्यायपूर्ण हक माँगना शुरू किया तो उर्दू के समर्थकों ने हिंदी को 'गवारू' कहा। कचहरी तथा राजकाज के लिये दरबारी शैली 'उर्दू' को ही सर्वथा उपयुक्त बताया। विरोधी दल के नेता सर सैयद अहमद खाँ हिंदी को बराबर हेय 'गँवारू' बताकर उर्दू का समर्थन करते रहे। इनके मत का समर्थन करनेवालों में 'बीम्स' साहब प्रमुख थे। वे हिंदी को दस पंद्रह ठेठ बोलियों का समूह कहते थे जो निम्नवर्ग के बोलचाल की भाषा थी। वह शिष्ट समाज, कचहरी तथा शिक्षा की भाषा नहीं हो सकती थी। समय के प्रवाह में बहकर बाद में राजा शिवप्रसाद भी इसे गँवारों के ही योग्य बताने लगे थे।[1]

राजसत्ता के झुकाव, फैशन के प्रवाह तथा स्वार्थ के प्रभाव से जनता ने विवश होकर उर्दू सीखना प्रारंभ कर दिया और हिंदी को आमतौर पर 'गँवारू' भाषा समझा जाने लगा। पिन्काट साहब ने 'खड़ी बोली पद्य' की भूमिका में इस भाषा के संबंध में लिखा है कि 'यह बहुधा देशवासियों द्वारा भी उपेक्षित थी क्योंकि वे इसे असभ्य गवारों की बोली मानते थे।'[2]

सर्वप्रथम जब टी ग्राहम बेली ने इसके 'गँवारू' अर्थ का खंडन किया तो उसमानिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हक साहब ने बिगड़ कर कहा, 'यह गजब है खड़ी बोली के माने हिंदोस्तान में आमतौर पर गँवारी बोली है जिसे हिंदोस्तान का बच्चा बच्चा जानता है, वह न कोई खास जबान है न जबान की कोई शाख।'

---

१ 'Which can be tolerated only among a rustic population' रामचन्द्र शुक्ल 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पृ० ३८१

Preface to Khari Boli ka Padya—Edited by Pincott.

२ 'उर्दू रिसाला' जुलाई, १९३३ पृ० ५९०।

पता नहीं उर्दू वालों ने खड़ी बोली का अर्थ गँवारू बोली किस आधार पर लगा लिया। लल्लूजीलाल से पूर्व न तो किसी उर्दू लेखक के 'खड़ी बोली' शब्द प्रयोग का पता लग सका है और न तो उनके किसी कोश में इसका कोई उल्लेख 'गँवारू' अर्थ में अब तक प्राप्त हो सका है। जामए-उल-लुगात' में इसका अर्थ 'मर्दों की बोली' अवश्य दिया गया है न कि 'गवारों की बोली'। आगरे के लल्लूजी लाल तथा आरे के सदल मिश्र एक ही 'गवारू बोली' '(डाइलेक्ट) का इतना सफलता पूर्वक प्रयोग नहीं कर सकते थे। इसका कोई सुस्थिर प्रचलित रूप अवश्य था यद्यपि उसका साहित्यिक प्रचलन नहा था।

सन् १८०३ ई० और १८०४ ई० क मौलिक प्रयोगा से भी किसी प्रकार इसका गवँरू अर्थ नहीं निकलता। १८०३ ई० के प्रयोग सख्या १, ३, ४ और ५ तथा १८०४ ई० के प्रयाग सख्या १ से इतना स्पष्ट होता है कि दिल्ली आगरे की यह 'खड़ी बोली' हिन्दुस्तानी की एक विशिष्ट निर्मल शैली थी जिसम उर्दू की अपेक्षा अरबी-फारसी शब्दो का मिश्रण बहुत बचाया जाता था और जो शुद्ध भारतीय शैली थी।

१८०३ ई० के प्रयोग सख्या २ और १८०४ ई० के प्रयोग सख्या २ से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि यह शैली वृहत् हिंदू समुदाय के लिये सरलता पूर्वक बोधगम्य थी तथा इसी के द्वारा अधिकाधिक जनता का समुचित लाभ सम्भव था। तात्पर्य यह कि मौलिक उद्धरणों से इसके खालिस, निर्मल या शुद्ध होने के साथ ही प्रचलित, सरल या आमफहम होने का पता तो लगता है पर 'गवाँरू' होने का किसी प्रकार सकेत नहीं मिलता। गिलक्रिस्ट इसे दरबारी उर्दू और गवाँरी हिन्दवी क बीच की एक सब प्रचलित हिन्दुस्तानी या विशिष्ट शैली मानते थे।

आहमदली ने 'गवारू' का खडन करते हुए 'खड़ी' को 'खड़ा' शब्द का स्त्रीलिंगरूप बताया और इसका अर्थ उठी हुई बताया। उनका कथन था कि जब यह शब्द किसी भाषा के लिये सर्व प्रथम प्रयुक्त हुआ होगा तो इसका अर्थ प्रचलित (करेंट) रहा होगा। उन्होंने 'खड़ी बोली' शब्द का अन्य बोलियों में प्रचलित अर्थ भी अपने कथन की पुष्टि में दिया जैसे बुदेलखडी में 'खड़ी बोली' को 'ठाठ बोली' कहते हैं (कामता प्रसाद गुरु) जिसका अर्थ खड़ा होता है। मारवाड़ी में इसको 'ठाठ बोली' कहते हैं। 'ठाठ' का

अर्थ भी खड़ा होता है (डा० बी० एस० पंडित) इसके अलावा उन्होंने 'खड़ी बोली' शब्द के प्रयोग का इतिहास प्रस्तुत करके भी यह सिद्ध किया कि 'खड़ी बोली' से विद्वानों का आशय प्रचलित या सुस्थिर भाषा शैली से ही रहा है।

ग्राहमवेली साहब ने इसका प्रचलित अर्थ तो लिया पर इसका शुद्ध या परिष्कृत अर्थ नहीं स्वीकार किया। इसका एक तात्पर्य था। उर्दू के समर्थक कहा करते थे कि लल्लूजी लाल ने उर्दू में से अरबी फारसी के शब्दों को छाटकर एक नई शैली गढ दिया और उसी का नाम 'खड़ी बोली' रखा। अर्थात् 'खड़ी बोली' एक गढी हुई साहित्यिक शैली मात्र थी। वे 'खड़ी' को 'खरी' कहते थे और उसका अर्थ *शुद्ध या परिष्कृत किया हुआ बताते थे*। यहीं भ्रम हो जाता है। एक वस्तु है जो पहले से ही निर्मल है और दूसरी मिली जुली वस्तु की तुलना मे शुद्ध समझी जाती है। परन्तु दूसरी स्थिति यह है जब किसी मिली जुली वस्तु में से बाहरी तत्वों को छाटकर उसे पुनः शुद्ध किया जाय या एक नया रूप दे दिया जाय। दोनों दो भिन्न स्थितियाँ हैं। लल्लू जी लाल ने 'यामिनी' छोड़कर 'खड़ी बोली' मे प्रेम-सागर लिखा या गिलक्रिस्त ने जब 'खड़ी बोली' को निर्मल कहा जिसमें अरबी-फारसी का परित्याग रहता है तो उनका यह अर्थ नहीं था कि उर्दू में से अरबी फारसी छाँटकर नयी हिंदी आविष्कृत की गई[1]। बल्कि लिखित प्रमाण इसके बिल्कुल विरुद्ध हैं। बैतालपचीसी के सशोधित सस्करण (१८०५) मे मजहरअली खॉ 'विला' ने स्वय लिखा है कि इसमें से भाषा

प्रो० हक साहब ने हिंदी के निर्माण पर एक दृष्टि डालते हुए कहा—

१—फोर्टविलियम कालेज के मुंशियों ने (खुदा उनकी अरवाह को शरमाये) बैठे बिठाये बिना वजह और बगैर जरूरत यह शोशा छोड़ा। लल्लूजी लाल ने जो उर्दू के जबादा और उर्दू किताबों के मुसन्निफ थे, इसकी बिना डाली। वह इस तरह कि उर्दू की बाज किताबें लेकर उन्होंने उनमें से अरबी फारसी अल्फ़ाज़ चुन चुन कर अलग निकाल दिये और उनकी जगह सस्कृत के और हिंदी के नामानूस लफ्ज़ जमा दिए, लीजिए हिंदी बन गई।'

चंद्रबली पांडेय-'उर्दू की उत्पत्ति' (ना० प्र० पत्रिका, भाग १८ पृ० २५२)।

और संस्कृत के शब्द छाँट दिए गए हैं और अरबी फारसी के चलते शब्द बैठा दिए गए हैं[1]।

ऐसी स्थिति में ग्राहमबेली ने 'खड़ी-बोली' के 'खरी' रूप और उसके परिष्कृत या शुद्ध अर्थ का विरोध किया। उन्होंने कहा कि गिलक्रिस्त ने साफ साफ 'खड़ी' शब्द का प्रयोग किया है न कि 'खरी' का। 'खड़ी बोली' दिल्ली-मेरठ की विभाषा के लिए सजा रूप में प्रचलित एक ऐसा शब्द है जो अब अपने इसी अर्थ में रूढ़ हो गया है। और इस 'खड़ी' का अर्थ सुस्थिर तथा प्रचलित है न कि 'गवाँरू'।

'खड़ी बोली' को 'खरी बोली' मानकर उसे उर्दू से शुद्ध करके गढ़ी हुई एक कृत्रिम भाषा शैली होने का भ्रम पहले तासी ने शुरू किया। उन्होंने लिखा, लल्लू लाल का प्रेमसागर उर्दू में नहीं था बल्कि 'खरी बोली' या ठेठ में अर्थात् आगरे तथा दिल्ली के हिंदुओं की शुद्ध हिंदुस्तानी में, जिसमे अरबी और फारसी के शब्दों का मिश्रण न था[2]।

'खड़ी' और 'खरी' को एक समझने का भ्रम इष्टविक को भी हो गया था जिन्होंने अपने कोष में खड़ा का अर्थ इस प्रकार दिया है —

'खड़ा इरेक्ट, अपराइट, स्टीप
स्टैंडिंग, जेनुइन, प्योर हेन इट = खरा Khara'।

पद्य में जब 'खड़ी बोली' के प्रयोग की चर्चा चली तो ब्रजभाषा के पक्षपातियों ने भी 'खड़ी बोली' के सम्बन्ध में भ्रम फैलाने का कुछ प्रयत्न किया।

१—'... ...जनाब कप्तान जिमिस मोअट साहब ने, तारिणी चरण मिश्र ने, छापे के वास्ते, संस्कृत और भाषा के अल्फाज को, जो रेखते के मुहावरे में कम आते हैं, निकाल कर मुरव्वज अल्फाज को दाखिल किया, मगर बअजे लफ्ज हिंदुओं का, जिसके निकालने से खलल जाना, बहाल रखा।' चन्द्रबली पांडेय—कचहरी की भाषा और लिपि पृ० ४७ पर अवतरित।

२—देखिये, ग्राहमबेली का 'उर्दू साहित्य का इतिहास पृ० ४४ और रायल एशियाटिक सोसायटी जर्नल सन् १९२६ पृ० १५–१६ तथा इस लेख का हिन्दी अनुवाद 'क्या खड़ी बोली' गवाँरू बोली के अतिरिक्त और कुछ नहीं है' अनु० श्री रमाकान्त मिश्र (ना० प्र० पत्रिका भाग १७ संवत् १९९२ पृ० ११२–११३)

ब्रजमाधुरी की अपेक्षा 'खड़ी बोली' उन्हें कर्कश, या शुष्क मालूम पड़ी। वे लोग इसे भोंडी, खरी या 'खड़ी-खड़ी' कहा करते थे। इस मत के समर्थकों में सुधाकर द्विवेदी, चौधरी प्रेमघन और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम १८७७ ई० में भारतेन्दु ने हिन्दी-वर्द्धिनी सभा प्रयाग में भाषण देते हुए इसकी कविता को भोंडी कह दिया तभी से इसे कर्कश या शुष्क कहकर काव्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध किया जाता रहा।

रामकहानी की भूमिका में पंडित सुधाकर द्विवेदी ने लिखा :—

"हिन्दी और संस्कृत में र, ड, ल का अदल बदल हुआ करता है। इसलिये 'खरी बोली' के स्थान पर 'खड़ी बोली' हो गई। खरी खोटी बोलियों में से खरी खरी बोलियों को चुन कर खरी बोली बनी है। अपनेभाषा में भूलकर जो शब्द दूसरे आ गए हों उन्हें खोटे शब्द और उन्हें निकाल देने से खरे शब्दों की खरी बोली हो जाती है। इसी अर्थ में 'ठेठ हिन्दी' भी प्रचलित है। 'ठेठ हिन्दी' का अर्थ है 'सूखी हिंदी' जिसमें दूसरी भाषा का रस न हो[1]।

चौधरी प्रेमघन भी बोलचाल की हिंदी में काव्य-रचना के समर्थक नहीं थे क्योंकि उसमें सरसता का अभाव था। वे उसे 'खरी हिन्दी' कहा करते थे।

"परन्तु आजकल के खड़ी हिन्दी—जिसे नागरी ही कहना उचित है—क कवि इस पर राजी न होंगे, क्योंकि वे चाहते हैं कि ठीक ठीक जैसा हम बोलते हैं उसी रीति भांति से कविता भी करें जिस कारण उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है और कविता के सहज स्वारस्य से उनकी रचना भी शून्य रहती है[2]।"

प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी इसे ब्रजभाषा की अपेक्षा 'खड़ी खड़ी' कहा है अर्थात् इस नाम को ब्रज-सापेक्ष्य ही माना है।

'ब्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ा खड़ी लगती है कदाचित् इसी कारण इसका नाम खड़ी बोली पड़ गया[3]।'

१—सुधाकर द्विवेदी—'सांची हिन्दी बोली में रामकहानी' भूमिका पृ० ११

२—चौ० प्रेमघन—तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण।

३—धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, तृतीय संस्करण पृ० ६४।

कुछ विद्वान् ओकारान्त बोलियों—ब्रज, गुजराती, राजस्थानी—को 'पड़ी' और उसकी तुलना में इस आकारान्त—प्रधान बोली को 'खड़ी' कहते थे। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', कामता प्रसाद 'गुरु' और नाथूराम 'शंकर' आदि इस मत के मुख्य प्रतिपादक हैं। 'खड़ी बोली' पर अपना मत देते हुए गुलेरी जी कहते हैं:—

'हिन्दुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा या पूर्वी, बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी और गुजराती आदि ही में मिलती है। अर्थात् 'पड़ी बोली' में पाई जाती है। 'खड़ी बोली' या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिन्दी के वर्तमान गद्य पद्य को देखकर यह जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी अरबी तत्सम या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखनेसे हिन्दी बना ली गई।'

वहीं पर आगे लिखते हैं—

'विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की पड़ी बोली को 'खड़ी' बनाकर लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया[1]।'

कामता प्रसाद गुरु भी इसी स्वर में स्वर मिला कर कहते हैं—

'बुन्देलखंड में इस भाषा को ठाढ़ बोली या तुर्की कहते हैं[2]।'

गुलेरी जी 'खड़ी बोली' का मुसलमानों से पूरा पूरा सम्बन्ध मानते थे और इसे म्लेच्छ भाषा कहते थे। उन्होंने अपने मत के समर्थन में कुछ मनोरञ्जक उदाहरण दिये हैं। भट्टनारायण ने केदार पंडित के 'वृत्तरत्नाकर' की टीका मे कुछ छंदों के उदाहरण दिए थे जैसे महाराष्ट्र में उपजाति छंद, कान्यकुब्ज भाषा में वसंततिलका छंद आदि। वहीं पर उन्होंने म्लेच्छ और संस्कृत की संकर भाषा में मालिनी छंद का उदाहरण दिया है—

"हरनयन समुत्थज्वाल वन्हिज्जलाया।
रतिनयन जलौघैः खाक बाकी बहाया।
तदपि दहति चेतो मामक क्या करोंगी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आनि लागी।"

इसमें संस्कृत के साथ क्रियाओं तथा अन्य 'खड़ी बोली' के [illegible] है म्लेच्छ भाषा कहा गया है। गुलेरी जी का कथन था कि [illegible]

१—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी, पृ० १०३।

२—कामताप्रसाद गुरु—हिन्दी व्याकरण, पृ० २५।

म रचना करनेवाले कवि भी मुसलमानों का प्रसंग आने पर या उनका भाषण आने पर 'खड़ी बोली' का ही प्रयोग करते थे। इस संदर्भ में उन्होंने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। अकबर के एक दरबारी पंडित भानुचन्द्र थे। उन्होंने अकबर के लिए 'भानुसहस्रनामस्तोत्र' बनाया था। जब वे जहांगीर के दरबार में गए तो उसने कहा कि जैसे तुमने मुझे पढ़ाया है वैसे ही अब मेरे पुत्र को धर्मोपदेश दो। इस प्रसंग का वर्णन कवि ने पुरानी गुजराती में किया है। परन्तु जहांगीर की उक्ति उसने 'खड़ी बोली' ही में रखी है।

'मिला भूपनई भूप आनन्द पाया।
भल्इ तुमे भल्इ अही भाणचन्द आया।
तुम पासिथिई मोहि सुख बहुत होवइ।
सहरियार भणवा तुम बाट जोवइ'[१]।

इस प्रकार वे इसे पड़ी बोली व्रजभाषा की तुलना में 'खड़ी बोली कहते थे। और इसका मुसलमानों से पूरा सम्बन्ध मानते थे, तथा उर्दू से इसे विकसित बताते थे।

व्रजरत्नदास इसे रेखते (मिलीजुली या गिरीपड़ी) के वजन पर 'खड़ी बोली कहते हैं जिसका विकास रेखते की बोली में से यावनी शब्दों को निकालने के बाद हुआ।

इन लोगों के कथन के दो मुख्य अभिप्राय हैं। एक तो यह कि यह शब्द व्रजभाषा सापेक्ष है अर्थात् या तो व्रजभाषा के माधुर्य की तुलना में नीरस या कर्कश होने के कारण 'खड़ा' अथवा 'खरा' कहा गया या ओकारान्त व्रज, राजस्थानी आदि पड़ी भाषाओं के तुक पर इस आकारान्त बोली को 'खड़ी' कहा गया। दूसरे 'खड़ी बोली' (खरी बोली) उर्दू या रेखते से शुद्ध करके गढ़ी गई है। परन्तु मौलिक प्रयोगों को ध्यान पूर्वक देखने से यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि 'खड़ी' शब्द व्रजमाधुरी के विरोध में कर्कशता या नीरसता का द्योतक है बल्कि जैसा कह चुका हूँ वह निर्मल, शुद्ध तथा प्रच

१—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी-पुरानी हिंदी, ना० प्र० पत्रिका, नवीन संस्करण भाग २ से उद्धृत।

लित और सुस्थिर का द्योतक है। निर्मल या शुद्ध अर्थ के कारण इसके कृत्रिम या गढ़े गए होने के भ्रम को प्रश्रय मिल सकता है।

चन्द्रबलीजी ने कृत्रिम अर्थ का विरोध किया और 'खड़ी' का अर्थ असिद्ध या कच्चा बताया। जैसे—'चावल खड़ा रह गया' का अर्थ होगा चावल कच्चा रह गया या मूल रूप में रह गया। इस अर्थ के सहारे से उन्होंने 'खड़ी बोली' का अर्थ प्रकृत, ठेठ अथवा शुद्ध बोली किया है। उन्होंने 'खड़ी बोली' के कृत्रिम या गढंत वाले आरोप का खंडन किया साथ ही ब्रज-भाषा वालों के सख्त या शुष्क अर्थ का भी प्रतिवाद किया। उन्होंने कहा कि 'कड़ा' माने सख्त हो सकता है पर 'खड़ा' का यह अर्थ किसी कोष में नहीं मिलता। इस प्रकार 'खड़ी बोली' का अर्थ हुआ प्रकृत या ठेठ बोली जिसमें कोई मिलावट न हो। साथ ही यह शब्द नीरस या शुष्क बोली का भी द्योतक नहीं है[1]।

परंतु 'खड़ी बोली' के प्रचलित अर्थ को चंद्रबलीजी नहीं मानते। उनका कथन है कि 'खड़ी बोली' को साहित्यिक प्रचलन नहीं प्राप्त था। वह उर्दू की अपेक्षा सरल और सुबोध थी अतः इसे लोग सीधी बोली कहते थे न कि अरबी-तड़बी। अरबी-फारसी के अधिक प्रयोगों से लदी हुई उर्दू जनता के लिए दुर्बोध हो गई थी। अतः साधारण जनता में 'अरबी-तड़बी' का सीधा अर्थ ही दुर्बोध होता है। सीधी बोली के अर्थ में 'खड़ी बोली' का निम्नलिखित प्रयोग लल्लूजी लाल से पचास वर्ष पूर्व 'तारीख गरीबी' के लेखक ने किया है :—

"लिखा निपट कर सीधी बोली।
जो कुछ गठरी थी सो खोली॥"

सीधी या सरल बोली होने के कारण आम जनता में उर्दू की अपेक्षा इस बोली का प्रचलन अधिक रहा होगा। इसी लिये सदल मिश्र ने 'नासि-केतोपाख्यान' सबके समझने के लिए 'खड़ी बोली' में लिखा और प्रेमसागर को भी अँग्रेजी भारत की हिंदू जनता के बृहत् समुदाय के वास्तविक लाभ की दृष्टि से 'खड़ी बोली' में लिखा गया। मौलिक प्रयोगों से इसका जो प्रच-

---

१ चन्द्रबली पांडे—खड़ी बोली की निरुक्ति, ना० प्र० पत्रिका, भाग १८, पृ० २८३ से २८२।

लित अर्थ निकलता है उसका रहस्य इसकी सर्वजन सुबोधता और सरलता ही है। अतः ग्राहमबेली ने जो इसके प्रचलित अर्थ का प्रतिपादन किया था उसे मानने में इस हद तक किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

चौधरी प्रेमघन, डा० ताराचंद, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या आदि इसी अर्थ में इसे प्रचलित बोली मानते हैं। चौधरी प्रेमघनजी ने लिखा है कि '*ब्रज नागरी या साहित्यिक भाषा था। बोलचाल की भाषा यही हिंदी थी। ऐसा सदैव से होता रहा है जैसे संस्कृत काल में बोलचाल की प्रकृति से सिद्ध प्राकृत प्रचलित थी*[1]।' अर्थात् जिस प्रकार संस्कृत के साहित्यिक भाषा रहते हुए भी प्रचलित भाषा प्राकृत थी उसी प्रकार ब्रज साहित्यिक भाषा था परंतु प्रचलित भाषा 'खड़ी बोली' हिंदी ही था।

डा० ताराचंद ने लिखा है—

'बोलचाल के लिये तो 'खड़ी बोली' जीवित भाषा थी ही, लेकिन जहाँ तक साहित्य से संबंध है हिंदी (फारसी मिश्रित हिंदुस्तानी) ब्रजभाषा और अवधी ही क्षेत्र में थी[2]।

डा० सुनीति कुमार ने लिखा है कि मुसलमान सर्व प्रथम पंजाब में आए और दिल्ली में तुर्की शासन स्थापित होने पर पंजाबी, हिंदू और मुसलमानों का स्वभावतः बोलबाला रहा होगा। साधारण बातचीत के लिए दिल्ली की स्थानीय बोली, जो कुछ महत्वपूर्ण बातों में पंजाबी के मेल में है, व्यवहृत होती थी। धीरे-धीरे कुछ पंजाबी प्रभाव के सहित दिल्ली की वह बोली काफी महत्वपूर्ण भाषा हो गई और स्वभावतः उसमें अरबी-फारसी के सरल शब्द भी बातचीत के समय मुसलमान मिलाने लगे। यद्यपि जान-बूझ कर भाषा को बिगाड़ने का प्रयत्न उन लोगों ने आरंभ में नहीं किया। बाद में चल कर इसी बोली को काम-काज की भाषा का स्थिर स्वरूप प्राप्त हो गया और इसे 'खड़ी बोली' कहा गया। 'खड़ी बोली' के अर्थ के संबंध में उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

---

१ चौधरी प्रेमघन—'नागरी भाषा वा इस देश की बोलचाल' (आनंद कादंबिनी सं० १९४२, पृ० ६)।

२ डा० ताराचंद—'हिंदुस्तानी के संबंध में कुछ गलतफहमियाँ' (हिंदुस्तानी सन् १९३७,)।

'बाद में चल कर दिल्ली दरबार द्वारा इसे परिनिष्ठित बोली का गौरव मिला जो साहित्य के लिये नहीं तो बोलचाल के लिये सर्वश्रेष्ठ भारतीय बोली हो गई और इसे खड़ी बोली या परिनिष्ठित बोली नाम मिला, जब कि अन्य बोल चाल की तथा साहित्यिक बोलियां पड़ी बोली या गिरी बोली कही जाने लगीं।'[1]

डा० सुनीति कुमार ने इसे दिल्ली की मूल बोली माना है। मुसलमानों काल से ही यह बोल-चाल और व्यवहार की प्रचलित बोली थी यद्यपि इसे साहित्यिक गौरव नहीं प्राप्त था। अन्य किसी बोली का इतना प्रचलन नहीं था और वे सब इसकी अपेक्षा पड़ी या गिरी हुई बोलियाँ थीं।

अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूलतः 'खड़ी बोली' दिल्ली और मेरठ की ठेठ बोली है। मुसलमानो के आने पर बोलचाल, व्यापार, व्यवहार की भाषा के रूप में इसका प्रचलन बहुत व्यापक हो गया। इस 'खड़ी बोली' का जन्म दिल्ली मे मुसलमानों के प्रथम भारत आगमन के समय (ग्यारहवीं शती) ही हुआ। आधुनिक हिंदी की सभी बोलिया लगभग उसी समय अपभ्रंशों से विकसित हो रही थीं। परंतु इसका नामकरण १८०३ ई० मे कलकत्ते में हुआ। नामकरण के समय तक यह दिल्ली से चलती हुई कलकत्ते तक पहुँच चुकी थी। संस्कृति, शासन और व्यापार के केंद्र समय समय पर सत्ता के साथ बदलते रहते हैं। दिल्ली के उजड़ने पर अवध और बंगाल के नवाब शक्तिशाली हो गये। साहित्य तथा व्यापार के केंद्र पूर्वी शहर हो गये। दिल्ली के विद्वान्, व्यापारी, साहित्यिक अपनी

---

१ "In the later times, its connexion with the Delhi court gave it the prestige of a standard speech—the Indian speech parexcellence for conversation if not for literature, and it acquired the name of Khari Boli, or standard speech, the other forms of spoken dialects and literary speeches too coming to be known as Pari Boli or fallen speech"

Dr. Suniti Kumar Chaturja—Languages and linguistic problems p. 16.

जीविका के लिये अवध और बंगाल के विभिन्न नगरों मे बसने लगे और उनके साथ ही उनकी बोली भी इन शहरों मे प्रचलित होने लगी।

अंग्रेजो का प्रभुत्व अधिक बढने पर दिल्ली का महत्त्व कलकत्ते को प्राप्त हो गया और कलकत्ता केंद्र हो गया। यहा अग्रेज, मुसलमान, हिंदुस्तानी और बंगाली सब इसी बोली मे बातचीत करते थे। अतः यह सबसे अधिक प्रचलित बोली हुई। साथ ही बंगला, जो कलकत्ते की स्थानीय बोली थी, की अपेक्षा इसमें ओज की मात्रा अधिक थी। इसके शब्द संयुक्त व्यंजनो के उच्चारण से अधिक जोरदार मालूम पड़ते हैं। जब कि बगला स्वर-प्रधान होने से मीठी तथा उच्चारण मे सरल है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि 'हिन्दी मे जो गुण हैं उन में से एक यह है कि हिंदी मर्दानी जबान है। मैं बगाली होकर अपने महाराष्ट्रीय मित्र की इस राय का पूरा समर्थन करता हूँ।'[1] इस उद्धरण द्वारा बंगला और महाराष्ट्री दो भाषा भाषियों की साक्षी मिल जाती है कि खड़ी बोली उनकी भाषाओं की अपेक्षा अधिक ओज गुण सम्पन्न एक 'मरदानी' जबान है। हरिश्चंद्र ने भी ब्रजभाषा को जनानी और 'खड़ी बोली' को मरदानी बोली कहा है। उर्दू के कोष मे भी 'खड़ी बोली' का अर्थ मरदानी बोली लिखा है। वस्तुतः उर्दू की नजाकत देखते यह अधिक मरदानी बोली लगती भी है। इसलिये यह मानने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि इस बोली के ओज गुण के कारण भी इसे 'खड़ी बोली' नाम दिया गया। यह न तो ब्रजभाषा के माधुर्य के विरुद्ध कर्कशता या नीरसता का द्योतक है और न उर्दू के विरुद्ध गवारू या कृत्रिमता का द्योतक है, बल्कि यह एक प्रचलित ओजपूर्ण तथा निर्मल या शुद्ध बोली है। इसीलिये आम जनता को समझाने के लिए लल्लूजीलाल, सदल मिश्र तथा गिलक्रिस्ट ने इसी को प्राथमिकता दी। ब्रज या उर्दू के विरोध की भावना से इसे 'खड़ी बोली' नाम नहीं दिया गया बल्कि इसकी सरलता तथा निर्मलता और अन्य बोलियों की अपेक्षा इसके अधिक ओज तथा प्रचलन* को देख कर इसका नाम 'खड़ी

१—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—हिंदी की उत्पत्ति, (गद्य भारती-सं० केशवप्रसाद मिश्र, पद्मनारायण आचार्य)

* पद्मसिंह शर्मा 'खड़ी बोली' का अर्थ 'आम बोल-चाल की भाषा' करते हैं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' में उन्होंने लिखा

बोली' रखा गया। 'खड़ी बोली' नाम दिल्ली और मेरठ की उस प्रचलित शैली को ही दिया गया था जिसमें प्रेमसागर या नासिकेतोपाख्यान लिखे गये। परंतु पीछे मूल बोली के लिये भी यही नाम चल पड़ा। यह प्रचलित भाषा शैली उर्दू का अपेक्षा अधिक निर्मल और शुद्ध तथा सुबोध थी अतः इसका आम जनता में प्रचलन भी अधिक था। इसकी भौगोलिक व्यापकता और ऐतिहासिक प्राचीनता के जो उद्धरण आगे दिये जायेंगे उनसे इसकी उत्पत्ति और लोक-प्रचलन का स्पष्ट प्रमाण मिल जायगा। इस विवाद का मूल पकड़ने के लिये शाखा-प्रशाखा दौड़ने की अपेक्षा पहले 'खड़ी बोली' की उत्पत्ति पर ही थोड़ा विचार कर लेना अधिक समीचीन है।

खड़ी बोली की उत्पत्ति :—

खड़ी बोली की उत्पत्ति के संबंध में कोई निर्णय देने के पूर्व उससे संबंधित विभिन्न मतों पर विचार कर लेना आवश्यक है। जिस प्रकार इसके नाम की अनेक व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं उसी प्रकार इसकी उत्पत्ति के संबंध में भी अनेक मत हैं। दो विरोधी शक्तियों का संकेत किया जा चुका है। उर्दू की ओर से कहा जाने लगा कि खड़ी बोली की उत्पत्ति उर्दू से है और ब्रज भाषा के समर्थक कहते थे कि इसका जन्म ब्रजभाषा से हुआ। दोनों ही दल इसे कृत्रिम कहते थे। दोनों ही इसके प्रकृत अस्तित्व के सम्बन्ध में शंका उठाते थे।

उर्दू-हिन्दी-विवाद काल में नीति वश सरकार तथा उसकी स्थापित शिक्षा संस्थाओं—फोर्टविलियम आदि—का रुख उर्दू के पक्ष में था। इन लोगों ने खड़ी बोली के सम्बन्ध में प्रचार किया कि उर्दू में से अरबी फारसी के शब्दों को चुन चुनकर निकालकर उनके स्थान पर संस्कृत, हिंदी के तत्सम या अर्द्धतत्सम शब्दों को रखकर सन् १८०३ ई० में लल्लू जी लाल ने एक नई भाषा गढ़ दी और उसी का नाम खड़ी बोली है। ये लोग फोर्टविलियम कालेज को खड़ी बोली का जन्म स्थान तथा लल्लू जी लाल को इसका जनक कहते थे। शब्दों के थोड़े हेर फेर के साथ यही मत तासी, बीम्स, ग्रियर्सन, एफ० इ० के०, सरसैयद अहमद खाँ आदि का था।

है "आम बोल-चाल की भाषा के अर्थ में 'खड़ी बोली' नाम का प्रयोग भी चल पड़ा है।" पृ० २६ तृतीय सं०

उर्दू से खड़ी बोली की उत्पत्ति बताने वाले प्रथम इतिहास लेखक *गार्सी-द-तासी* (१८३६ ई०) हैं। (*स्मरणीय है कि* १८३८ ई० में ही उर्दू हिंदी विवाद भी आरंभ हुआ)। आप 'खड़ी' को 'खरी' बताकर उर्दू में से अरबी फारसी शब्द निकाल कर इस भाषा को खरी (शुद्ध) किया *गया बताते हैं। और इसे एक गढ़ी हुई भाषा कहते हैं। यह तो सभी हिंदी* प्रेमी जानते हैं कि तासी साहब पीछे हिंदी के विरोधी तथा सर सैयद अहमद खाँ के समर्थक हो गये थे। उर्दू के साथ उन्होंने अपना मजहबी रिश्ता भी *जोड़ लिया था। इसके अलावा वे पेरिस में उर्दू के ही शिक्षक थे। उनका* पक्षपात स्वाभाविक है। उन्होंने सन् १८५२ के आसपास लिखा था कि यद्यपि मैं खुद उर्दू का बड़ा भारी पक्षपाती हूँ, लेकिन मेरे विचार में हिंदी को *विभाषा या बोली कहना उचित नहीं*[1]।

इसी प्रकार उर्दू हिंदी विवाद के संबंध में बीम्स साहब का उर्दू समर्थन सर्व विदित है। भाषाओं के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य ग्रियर्सन ने किया और बाद की सभी भाषा-शास्त्र की पुस्तकों पर उनका स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। अतः उनके मत को कुछ विशेष रूप से समझने की आवश्यकता है।

भाषा सर्वे में ग्रियर्सन ने हिंदुस्तानी के दो भेद बताये हैं। पहला वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी और दूसरा लिटरेरी हिंदुस्तानी। लिटरेरी हिंदुस्तानी की उर्दू, रेखता, दक्खिनी और हिंदी चार विशेष शैलियाँ स्वीकार करते हुए वे हिंदी के संबंध में लिखते हैं—

'इसका उद्भव आधुनिक है और यह अँगरेजों के प्रभाव से पिछली शताब्दी के आरंभ में प्रचलित हुई है। गिलक्रिस्त की प्रेरणा से लल्लूलाल ने प्रसिद्ध ग्रंथ प्रेमसागर लिख कर यह सब परिवर्तन किया। इस ग्रंथ का गद्य भाग *पूर्णतया उर्दू में लिखा गया, जिसमें 'इंडोआर्यन' शब्द भरे गये हैं जब कि* उर्दू का लेखक उन स्थानों पर फारसी के शब्दों का प्रयोग करता।'[2]

---

१ रामचंद्र शुक्ल—'हिंदी साहित्य का इतिहास' सातवां संस्करण पृ० ३७८ पर अवतरित।

२ "..It is of modern origin, having been introduced under English influence at the commencement of the last century ..Lallulal, under the inspiration of Dr. Gilchrist changed all this by

ग्रियर्सन साहब ने यह उत्पत्ति हिंदी की प्रचलित साहित्यिक शैली के लिए कुछ भ्रामक ढग से बतला दी और बाद में बहुत समय तक खड़ी बोली हिंदी और उच्च हिंदी को एक मानकर हिंदी की मूल उत्पत्ति को लोग उर्दू से सिद्ध करते रहे।

एफ० ई० के साहब ने भी इसी प्रकार लिखा—

'वर्तमान उच्च हिंदी का विकास उर्दू से फारसी और अरबी के शब्दों को छाँट कर उनके स्थान पर संस्कृत और हिंदी के शब्दों की भरती के बाद हुआ है।'[१]

वस्तुतः ग्रियर्सन साहब ने खड़ी बोली शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया। उन्होंने सर्वत्र हिंदुस्तानी शब्द का ही प्रयोग किया है। वे हिंदुस्तानी के कई रूप मानते थे। जिनमें वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी को पश्चिमी रुहेलखंड और गंगा के उत्तरी द्वाबे की बोली मानते थे। अर्थात् उनकी वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी ही मेरठ, रुहेलखंड की ठेठ बोली (खड़ी बोली) है। इस संबंध में उनका मत स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित अवतरण देखिये—

'पश्चिमी हिंदी की बोली' हिंदुस्तानी के अनेक रूप हैं जिनमें मुख्य रूप से दो विभाग हैं—वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी और इस पर आधारित साहित्यिक हिंदुस्तानी। वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी गंगा के ऊपरी द्वाबे और पश्चिमी रुहेलखंड की भाषा है।'[२]

---

writing the well-known Premsagar, a work which was so far as the prose portion went, practically written in Urdu, with Indo Aryan words—substituted, whereever a writer in that form of speech would use Persian ones".

G. A. Grierson Linguistic Survey, Vol. ix Part I. p 47.

१ F. E. Keay-A History of Hindi Literature, p. 4.

२. "As a dialect of western Hindi, Hindustani presents itself under several forms. These may

प्रेमसागर की हिंदी को वे उर्दू से उत्पन्न बताते हैं पर उर्दू स्वयं खड़ी बोली से या उनके शब्दों में वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी से विकसित हुई है। अतः स्पष्ट है कि वे खड़ी बोली का प्रकृत अस्तित्व मेरठ दिल्ली की बोली के रूप में स्वीकार करते हैं। जब वे हिंदी की उत्पत्ति उर्दू से बताते हैं तो वह खड़ी बोली हिंदी नहीं बल्कि खड़ी बोली की आधुनिक साहित्यिक शैली के संबंध में कहते हैं। ग्रियर्सन साहब भी खड़ी बोली में पद्य रचना के समर्थक नहीं थे। अतः इस संबंध में अपनी राय देते हुए कह जाते हैं कि यह हिंदुस्तानी कहीं की मातृ बोली या ठेठ बोली नहीं है अतः इसमें पद्य रचना नहीं हो सकती[१]। यह कथन लिटरेरी हिंदुस्तानी के संबंध में ही ठीक समझा जाना चाहिए। यद्यपि उन्होंने इसे भी समूचे हिंदुस्तान की सर्व प्रचलित भाषा तथा पढ़े लिखे मुसलमानों की मातृभाषा भी स्वीकार किया है[२]।

---

first of all be considered under two heads viz. Vernacular Hindostanı and Literary Hindostani founded thereon. Vernacular Hindostani is the language of the upper Gangetic Doab and of western Rohilkhand"

G. A. Grierson-A Linguistic Survey of India Vol. ix, Part I p. 47.

१. "It has become the recognised medium of Literary prose through out Nothern India but as it was no where a Vernacular it has never been successfully used for poetry".

G. A. Grierson-The Modern Literary History of Hindustan, 1889, p. 107.

२. Literary Hindostani is the polite speech of India generally and may be taken as the Vernacular of Educated Musalmans throughout Northern India, and Musalmans south of Narbada."

G. A. Grierson-A Linguistic Survey of India, Vol. ix, Pt. I. p. 42.

ग्रियर्सन साहब ने हिंदुस्तानी को संपूर्ण भारत की प्रचलित शिष्ट भाषा बताया है। यह खड़ी बोली का ही प्रचलित रूप था। हिंदुस्तान की प्रचलित भाषा के अर्थ में खड़ी बोली को हिंदुस्तानी नाम अंग्रेजों ने बहुत पूर्व ही दिया था। अंग्रेजों ने भारत आने पर सर्वत्र व्यवहार में इसी भाषा को प्रचलित पाया। अतः इसे ही 'इन्डिया' की प्रधान भाषा मानकर इंडोस्तानी कहना शुरू किया यही इंडोस्तानी[१] बाद में हिंदोस्तानी हो गई।

डा० ताराचंद ने हिंदोस्तानी की व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'हिन्दोस्तानी कोई मन गढन्त नई भाषा नहीं है। यह वही खड़ी बोली है जिसे दिल्ली और मेरठ के आसपास रहनेवाले बहुत पुराने वक्तों से बोलते चले आते हैं[२]।'

ग्रियर्सन की हिन्दोस्तानी भी कोई नई गढी हुई या कृत्रिम भाषा नहीं है बल्कि वह खड़ी बोली का ही दूसरा नाम है जिसका मुसलमानी शासन-

---

१. ताराचंद-हिंदोस्तानी, (हिंदोस्तानी पत्रिका, सन् १९३८ पृ० २१३)।

२. सन् १६१६ ई० में टेरी ने भारत की भाषा का विवरण देते हुए लिखा है—

The language at court is persian, that commonly spoken is Indostani.

डा० ताराचंद—'हिंदुस्तानी' १९३८ पृ० २१३।

सन् १६७७ ई० में एक पत्र इंग्लैंड से कंपनी के डाइरेक्टरों ने सेंट जार्ज भेजा था उसमें यह विज्ञप्ति थी :—"जो व्यक्ति हिंदुओं (जेंटू) की भाषा अर्थात् हिंदुस्तानी से योग्यता दिखायेगा उसे बीस पाउंड पुरस्कार दिया जायेगा।' वही, ताराचंद।

'जेंटू' शब्द का प्रयोग हिंदुओं के लिये बहुत पुराना है हाब्सन जाब्सन के प्राचीन कोष में लिखा गया है कि जेंटिल्स का अर्थ मूर्ति पूजक या हिंदू है और 'मूर' का मतलब मुसलमानों से है।

"Always where as I have spoken of Gentiles is to be understcod idolaters where as I sheak of moors, I mean Mahomets secte."

(Hobson Jobson Page 446)

काल मे बोलचाल की भाषा के रूप में अधिकाश भारत में प्रचार था। स्थान भेद व प्रयोग भेद के कारण इस हिंदोस्तानी के कई रूप व नाम हो गए थे जैसे रेख़ता, दक्खिनी, उर्दू और उच्च हिंदी। ग्रियर्सन साहब ने इन सभी शैलियों को अपनी पुस्तक मे स्वीकार किया है। (देखिये ग्रियर्सन कृत लिंग्विस्टिक सर्वे जिल्द ६ भाग १ पृ० ३)

'खड़ी बोली' का प्रारभ में जब मुसलमानों ने प्रयोग शुरू किया तो अनजान में ही कुछ अपने शब्द भी उसमें मिला दिए और उसी मिलीजुली भाषा को रेख़ता कहने लगे। इसी मिलीजुली बोलचाल की भाषा को दक्खिन में दक्खिनी कहा गया जो मुसलमानी सपर्क से वहाँ पहुँची। पीछे विवाद उठने पर रेख़ता, दक्खिनी, उर्दू और हिंदोस्तानी में जानबूझकर भ्रम फैलाया गया और सबका अर्थ उर्दू किया जाने लगा। परतु रेख़ता स्पष्ट ही उर्दू से भिन्न हिन्दोस्तानी का वह रूप है जिसके आधार पर बाद मे चलकर उर्दू-ए-मुअल्ला या आज की उर्दू का निर्माण हुआ।

अत. यह स्पष्ट हो गया कि उर्दू से हिंदी का विकास कभी सम्भव नहीं बल्कि ऐसा मानना नितान्त अस्वाभाविक है। उर्दू स्वय खड़ी बोली के आधार पर विकसित हुई। उसी म से हिंदी-सस्कृत के शब्दों को हटाकर अरबी फारसी प्रयोग भरने पर आज की उर्दू बनी है।

हमारी वर्तमान हिंदी का भी मूलाधार खड़ी बोली है। बातचीत के रूप मे खड़ी बोली बहुत पहले से प्रचलित ही थी जब गद्यशैली की आवश्यकता पड़ी तो इसी में ब्रजभाषा का साहित्यिक माधुर्य सजा कर इसे साहित्यिक गद्य के रूप मे स्वीकार किया गया और यह भी ध्यान रखा गया कि उसमें विदेशी मूल के अरबी फारसी के प्रयोग यथासभव कम मिलाये जाँय।

पद्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा से खड़ी बोली का विवाद चलने पर इसकी उत्पत्ति के सबध में एक अन्य मत भी चल पड़ा। ब्रजभाषा के समर्थक कहने लगे कि अपभ्रंश से डिंगल का, डिंगल से पिंगल या ब्रजभाषा का विकास हुआ है। ब्रजभाषा मे उर्दू के मिश्रण से कृत्रिम खड़ी बोली खड़ी हो गई। यह भ्रम बहुत कुछ मौ० मुहम्मद हुसेन 'आजाद' के 'आबेहयात'[1]

१—मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने अपनी पुस्तक 'आबेहयात' में 'जबान उर्दू की तारीख' बताते हुये लिखा है कि—'हमारी जबान ब्रजभाषा से निकली है।' पृ० ६

पर अवलम्बित है। इसमें खड़ी बोली की उत्पत्ति उन्होंने ब्रजभाषा और उर्दू से बताई है। आन्दोलनकालीन हिन्दी लेखकों में बालमुकुन्द गुप्त, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' महात्मा भगवानदीन आदि इस मत के मुख्य समर्थक हैं।

बालमुकुन्द गुप्त ने अपनी 'हिन्दी भाषा' नामक पुस्तक में लिखा—

'वर्तमान हिंदी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं ब्रजभाषा से वह उत्पन्न हुई और वहीं उसका नाम हिंदी रखा गया। आरम्भ में उसका नाम रेखता पड़ा था। बहुत दिनों तक यही नाम रहा पीछे हिन्दी कहलाई। कुछ और पीछे इसका नाम उर्दू हुआ। अब फारसी के वेष में अपना उर्दू नाम ज्यों का त्यों बना हुआ रखकर 'देवनागरी' वस्त्रों में हिंदी भाषा कहलाती है'[1]।

गुप्त जी बाद में हिंदी के प्रबल समर्थक हो गए और उन्होंने हिंदी उर्दू विवाद में उर्दू का विरोध किया जैसा उनकी 'उर्दू को उत्तर' आदि कविताओं से स्पष्ट है। वे ब्रजभाषा से हिंदी की उत्पत्ति सिद्ध करने के पक्ष में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं देते। उनका कथन स्वतः परस्पर विरोधी है। हिंदी की जन्मभूमि वे दिल्ली मानते हैं और वहीं ब्रजभाषा से उसकी उत्पत्ति बताते हैं। ब्रजभाषा दिल्ली की स्थानीय बोली कभी रही इसका कोई प्रमाण नहीं है। यदि यह माना जाय कि उर्दू में ब्रजभाषा मिली होगी और उर्दू वहां पहले से थी तो भी ऐसा सम्भव नहीं क्योंकि हम देख चुके हैं कि उर्दू स्वयं खड़ी बोली से विकसित एक मिली जुली भाषा है। खड़ी बोली में अरबी फारसी शब्दों के मिलने से उसका निर्माण हुआ। जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' की भी ठीक यही राय थी कि उर्दू में ब्रजभाषा के मिलने से खड़ी बोली हिंदी बनी। कानपुर के प्रथम भारतीय हिंदी कवि सम्मेलन के प्रधान सभापति के पद से भाषण देते हुये उन्होंने कहा था—

'जो भाषा आजकल खड़ी बोली के नाम से कही जाती है वह हमारी समझ में उर्दू का ही एक रूपांतर है। आरम्भ में तो वह उर्दू भाषा में 'भाखा' के प्रचलित शब्द रखकर बनाई गई और फिर शनैः शनैः उसमें संस्कृत के शब्द मिलाये जाने लगे।'

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने वहीं पर खड़ी बोली विभाग के सभापति

१—बालमुकुन्द गुप्त—हिंदी भाषा भूमिका, (क)।

पद से बोलते हुये 'रत्नाकर जी' के कथन का खंडन किया और कहा कि उर्दू की उत्पत्ति स्वयम् हिंदी की उस शाखा से हुई है जो मेरठ और दिल्ली के आसपास बोली जाती है न कि व्रजभाषा से।

वह विवाद और भ्रम का समय ही था, अनेक गलत सही तर्क उपस्थित किये जाते थे जैसे महात्मा भगवानदीन की व्याख्या देखिये—

'फारसी में ही कुछ व्रज और कुछ बागड़ू का टेक लगाकर बोली को खड़ा कर दिया गया और इसका नाम पड़ गया खड़ी बोली (खड़ी बोली किसी बोली का नाम नहीं है। वह सिर्फ हिंदी की तारीफ है। फारसी आर्याई बोली है[१]।'

साराश यह कि जिसको जो भी मन मे आता था वही कह देता था जैसे पाचवी ओरियंटल कान्फ्रेंस के हिंदी विभाग के सभापति पद से 'हिंदी की उत्पत्ति और विकास पर एक दृष्टि' डालते हुए लाला सीताराम ने कोशल की अर्द्ध मागधी या अवधी को ही प्रधान भाषा सिद्ध किया और उसी से आधुनिक हिंदी की उत्पत्ति बताई।

इस प्रकार के कथनों की क्या व्याख्या की जाय? यह बात भाषा क्रम विकास के विल्कुल विरुद्ध है कि चारण भाषा से व्रजभाषा और व्रजभाषा से खड़ी बोली का विकास हुआ। पुरानी पुस्तकों में हिंदी के जो भिन्न भिन्न रूप दिखाई पड़ते हैं वे इस विचार के सर्वथा विपरीत प्रमाण है। राजस्थानी के प्रथम कवि चद और खुसरो के कार्य काल में केवल ६४-६५ वर्ष का छोटा सा अतर है किंतु खुसरो और चद की भाषा मे इतना भारी अंतर है कि कदापि खड़ी बोली राजस्थानी भाषा से विकसित नहीं मानी जा सकती। साथ ही यह भी नहीं जान पड़ता कि खड़ी बोली व्रजभाषा से ही सीधी निकली है क्योंकि यदि ऐसा होता तो व्रजभाषा के केंद्र मे जनसाधारण की भाषा आज खड़ी बोली होती। परंतु खड़ी बोली का प्रचार केवल बोली की भांति दूसरे ही क्षेत्र मे है। डा० धीरेंद्र वर्मा ने खड़ी बोली का क्षेत्र बताते हुए लिखा है—

१—महात्मा भगवानदीन—हिंदुस्तान (हिंदुस्तानी पत्रिका, सन् १९४६ पृ० २५१)

'पश्चिम रुहेलखंड गंगा के उत्तरी दोआब तथा अंबाला जिले की बोली है। ••खड़ी बोली निम्नलिखित स्थानों में गांवों में बोली जाती है। रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अंबाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग[1]।'

इससे यह प्रकट होता है कि ब्रज, अवधी, खड़ी और राजस्थानी आदि का विकास अपभ्रंश भाषाओं से अपने अपने क्षेत्र में अलग अलग हुआ है[2]। इस मत को सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि संक्षेप में खड़ी बोली की मुख्य प्रवृत्तियों पर विचार करने के बाद यह देखा जाय कि मध्यदेशीय अपभ्रंश में खड़ी बोली की ये प्रवृत्तियां या उनके पर्याप्त बीज थे जिनसे खड़ी बोली का क्रम विकास हुआ अथवा नहीं? यद्यपि भाषा विज्ञान की दृष्टि से खड़ी बोली की उत्पत्ति का अध्ययन स्वतः एक स्वतंत्र प्रबंध का विषय है, और उसपर अधिक विस्तार पूर्वक यहां विचार करना सम्भव नहीं है।

इसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने के पूर्व मैं इस बात पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहता हूँ कि भाषाओं के विकास पर विद्वानों में इतना मतभेद क्यों है। अंतर्प्रांतीय भाषा का स्थान सदैव 'मध्यदेश' की भाषा ही ग्रहण करती रही है। इस केंद्रीय देश के महत्वपूर्ण स्थानों पर भारत के विभिन्न भागों से लोग भिन्न भिन्न उद्देश्यों से आया करते थे। आधुनिक भाषाओं के स्पष्ट विकास के पूर्व मध्यप्रदेश के अपभ्रंश का ही अंतर्प्रांतीय प्रचलन था और साहित्य में उसी का प्रयोग होता था। राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में लिखा है—

"गौड़ (बंगाल) आदि संस्कृत मिश्रित हैं। लाट देशियों की रुचि प्रकृति में परिचित है, मरुभूमि टक (टॉक दक्षिण पंजाब) और भादानक के वासी अपभ्रंश प्रयोग करते हैं। अवंती (उज्जैन) और दस पुर (मंदसोर) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश (कन्नौज

१—डा० धीरेंद्र वर्मा-हिंदी भाषा का इतिहास, तृतीय संस्करण पृ० ६४–६५।

२—हिंदी साहित्य सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन के सभापति श्री पुरुषोत्तम दास टंडन ने यहीं विचार प्रकट किया और कहा था कि 'इन भाषाओं का क्रम विकास अपभ्रंश भाषाओं से पृथक पृथक हुआ है।'

अंतर्वेद पंचाल आदि) में रहता है वह सर्व भाषाओं में स्थित है[१] ।' बड़े अक्षरों वाली पंक्ति से यही आशय है कि मध्यदेश की भाषा में सभी प्रांतो की प्रवृत्तियाँ मिलीजुली रहती थीं और वहाँ के निवासी सब भाषाओं से परिचित थे। इसी अंतर्प्रांतीय प्रवृत्तियों से पूर्ण मध्यदेश के अपभ्रंश का सर्वत्र साहित्यिक प्रचलन था। मौखिक बोलियों के प्रमाण तो बहुत कम प्राप्त हैं। इसी साहित्यिक अपभ्रंश के उदाहरण मिलते हैं। इस साहित्यिक अपभ्रंश और आधुनिक हिंदी के संधिकाल की भाषाओं में, जिन्हें पुरानी हिंदी, अवहट्ट, जूनी गुजराती आदि अनेक नाम दिये गये हैं, प्रांतीय विभेद होते हुए भी बहुत अधिक एकरूपता है। उस समय तक वे स्पष्टतः इतनी विभिन्न नहीं हो सकी थीं कि उनको अलग-अलग आधुनिक भाषाओं की जननी बताया जा सके। ऐसी स्थिति में एक प्रांतीय संक्रांतिकालीन भाषा से कोई उदाहरण देकर आधुनिक भाषाओं के इतिहास-लेखक उसे अपनी भाषा की जननी कहते हुए उसी से अर्थात् अपनी भाषा की जननी से सभी अन्य भाषाओं की उत्पत्ति सिद्ध करें या उसे समस्त भारत की तत्कालीन एकमात्र प्रचलित भाषा बतलायें तो कोई आश्चर्य नहीं। विद्यापति इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। विद्यापति को मैथिली, बंगाली और हिंदी अपना कवि सिद्ध करते हैं।

मध्यदेश की परवर्ती अपभ्रंश भाषा से ही ब्रज और खड़ी बोली का अपने अपने प्रदेश में स्वतंत्र विकास हुआ। यही कारण है कि उनमें कुछ महत्वपूर्ण भिन्नता होते हुए भी बहुत कुछ समानता है पर किन्हीं दो भाषाओं में कुछ समानता होने से यह कहाँ सिद्ध होता है कि उनमें से एक का विकास दूसरी से हुआ है। इसे सिद्ध करने के लिए उन भाषाओं के ऐतिहासिक परंपरा का प्राचीनता का अध्ययन भी महत्वपूर्ण होता है। प्राप्त उदाहरणों के आधार पर खड़ी बोली पद्य की परंपरा भी ब्रजभाषा से पीछे की नहीं है बल्कि उसके पर्याप्त प्राचीन उदाहरण मिल चुके हैं जिनका विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा।

एक ही पश्चिमी हिंदी की दो शाखाओं के कारण ब्रज और खड़ी बोली

१—चंद्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिंदी पृ० ७।
'यो मध्ये मध्यदेशे निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः'
(काव्य मीमांसा, १० वाँ अध्याय)

में पूर्वी हिंदी की अपेक्षा काफी साम्य है। उनमें से कुछ मुख्य बातें यहाँ दी जा रही हैं।

उच्चारण की दृष्टि से खड़ी बोली और व्रजभाषा में साम्य :—पश्चिमी हिंदी में दो स्वर एक साथ नहीं आते जैसे 'इ' के बाद आ का उच्चारण खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों में नहीं होता बल्कि संधि हो जाती है, जब कि पूर्वी हिंदी में ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है जैसे अवधी के सिआर, किआरी का उच्चारण पश्चिमी बोलियों में स्यार और क्यारी होगा। इसी प्रकार 'उ' के बाद आ का उच्चारण नहीं होता। जैसे पूर्वी भाषाओं का दुआर, कुआँरा व्रजभाषा और खड़ी बोली में द्वार और क्वारा हो जाता है।

'अ' और 'आ' के बाद 'इ' के बदले 'य' होता है जैसे आइ, जाइ के स्थान पर व्रजभाषा में आय, जाय या भविष्यत में आइ है, जाइ है का उच्चारण आय है, जाय है हो जाता है। 'आय है' का अय है=ऐहै और जाय है का जय है=जैहै रूप चलता है।

व्याकरण सम्बन्धी साम्यः—

सकर्मक भूत काल की क्रिया के कर्ता के साथ 'ने' का चिह्न होता है। पर पूर्वी भाषाओं में ने का प्रयोग नहीं होता। दोनों की संज्ञाओं के बहुवचन का रूप बदल जाता है जैसे, घोड़ा और सखी का क्रमशः घोडे और सखियाँ रूप हो जाता है। व्रज और खड़ी बोली में 'गा' का कृदत रूप वर्तमान है जिसमें लिंग भेद होता है जैसे आवैगो, जायेगी आदि परंतु अवधी आदि पूर्वी भाषाओं में भविष्यत् क्रिया का केवल तिङन्त रूप ही मिलता है जिसमें लिंग भेद नहीं होता।

विभेदः—

उक्त समानताओं के अलावा खड़ी बोली और व्रजभाषा में कुछ मुख्य भेद भी हैं जैसे पश्चिमी हिंदी की सभी बोलियों की प्रवृत्ति ओकारांत है परंतु खड़ी बोली की मुख्य प्रवृत्ति आकारांत है। खड़ी बोली पर यह पंजाबी का प्रभाव है। प्रांतीय बोलियों पर पड़ोसी प्रांतों की बोलियों का भी कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है।

खड़ी बोली और व्रजभाषा में मुख्य अंतर क्रियाओं का है। खड़ी बोली में

काल बताने वाले क्रिया पद 'है' को छोड़कर भूत और वर्तमान काल वाची धातुज कृदंत ही हैं। इसी से उनमें लिंग भेद रहता है जैसे आता है, आती है, उपजता है, करती है, इत्यादि। परंतु व्रजभाषा और अवधी दोनों में वर्तमान और भविष्यत के कृदंत रूप ही मिलते हैं जिनमें लिंग-भेद नहीं रहता।

खड़ी बोली की कुछ स्थानीय विशेष प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें से 'द्वित' की प्रवृत्ति बहुत प्रधान है। इसी प्रवृत्ति के कारण रोटी, होता, खाती का उच्चारण दिल्ली और मेरठ के मूल निवासी रोट्टी, होत्ता, खात्ती की तरह करते हैं। इसके अलावा वे लोग क्रियाओं में 'है' का उच्चारण नहीं करते। आवे, खावे, करे का ही उच्चारण होता है अन्त के 'है' का लोप कर देते हैं। वर्ण संयुक्ति की प्रवृत्ति भी अधिक है। जैसे देखा, गया, को क्रमशः देख्या, ग्या, बोलते हैं। इन स्थानीय प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने के लिये ठेठ खड़ी बोली का निम्नलिखित नमूना उद्धरणीय है—

'कोई बादसा था। सात उसके दो राण्या थीं। एक के तो दो लड़के थे और एक के एक। वो एक रोज अप्नी राणी से केने लगा मेरे समान और कोई बादसा हे बी। तो वड़ी बोल्ले के राजा तुम समान और कौन होग्गा जैस्सा तुम वैस्सा और कोई नईं। छोट्टी से पुच्छा के तुम बी बतला मुज समान कोई और बी राजा है के नईं। कि राज्जा मुज्से मत बुज्झो'[1]।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि उर्दू लिपि के कारण दिल्ली-मेरठ की ठेठ भाषा, दक्खिनी और नाथों की भाषा में पाई जाने वाली *देख्या, सुन्या, जाग्या* आदि क्रियाओं के रूप आज की खड़ी बोली में क्रमशः देखा, सुना, जागा आदि रूप में पाये जाते हैं क्योंकि उर्दू लिपि में इन क्रियाओं का अपने असली और प्राचीन रूप में लिखा जाना संभव नहीं था।'[2] साहित्यिक हिंदी में इन स्थानीय प्रवृत्तियों का बहुत कुछ लोप हो गया है। वर्ण संयुक्त वाली प्रवृत्ति साहित्यिक खड़ी बोली में भी पाई जाती है।

खड़ी बोली की प्रवृत्तियों पर विचार करते समय उसकी क्रियाओं पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि क्रियाओं की दीर्घता ही खड़ी बोली

१—डा० धीरेन्द्र वर्मा—ग्रामीण हिंदी सन् १९३३, पृ० ३१।

२—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ विचार विमर्श।

को काव्यभाषा का पद पाने में बाधा पहुँचाती रही। हरिश्चंद्र से लेकर अन्य सभी व्रजभाषा के समर्थकों ने इसे मुख्य बाधक बताया। खड़ी बोली की क्रियाओं का रूप अवश्य दीर्घ होता है। साथ ही उन्हें तोड़मरोड़ कर काव्योपयोगी छोटा रूप देने की छूट भी नहीं होती। इसीलिए जहां व्रज और अवधी में 'गा' से काम चलता है वहां खड़ी बोली में 'गया' ही लगाना पड़ता है जैसे, 'इत पारि गो कौ मैया, मेरी सेजपै कन्हैया को 'मे खड़ी बोली के अनुसार 'गो' के स्थान पर 'गया' ही रहता।

संयुक्त क्रियाओं का भी खड़ी बोली में विशेष विकास हुआ है। क्रियाओं का स्वतंत्र प्रयोग पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक सम्भव होता है। खड़ी बोली में पहले गद्य-साहित्य के विकसित होने के कारण इसकी क्रियाओं का काफी स्वतंत्र रूप से विकास हुआ। संयुक्त क्रियाएं दो प्रकार की देखी जाती हैं। एक काल बोध कराती हैं, दूसरी अर्थ में विशेषता प्रकट करती हैं। जैसे चलता है और चल सकता है में चलना समय सूचित करती है जब कि चल सकना चलने का सामर्थ्य प्रकट करती है। खड़ी बोली की ये क्रियायें फारसी की देन मानी गई हैं। परतु सच तो यह है कि संस्कृत के उपसर्गों का स्थान हिंदी में सहायक क्रियाओं ने ले लिया है। जैसे 'हृ' धातु में आ०, प्र, वि, सम, अप आदि उपसर्ग लगाकर आहरति, प्रहरति, विहरति, संहरति, उपहरति आदि भिन्नार्थक क्रियायें बनी उसी प्रकार हिंदी 'चल' में चुकना, देना, पड़ना, लेना आदि लगाकर चलचुकना, चलदेना, चल पड़ना आदि भिन्नार्थक संयुक्त-क्रियायें बनाई जाती हैं। अपभ्रंश के 'भुंजई न जाई' या 'जाणिज्जई, 'लज्जिज्जई' में सयुक्त क्रियाओं का बीज वर्तमान है। ऐसी क्रियायें केवल खड़ी बोली ही में नहीं बल्कि हिंदी की अन्य बोलियों में भी पाई जाती हैं। विद्यापति से लेकर हिंदी के अन्य परवर्ती कवियों ने इस प्रकार की क्रियाओं का यत्र तत्र प्रयोग किया है जैसे—

> *'मोंहि झकझारि डारी, कचुकी मरोरि डारी,*
> *तोरि डारी कसनि, विथोरि डारी बेनी त्यों।*
>
> —'पद्माकर'।

फिर भी यह निःसकोच मानना पड़ेगा कि इन संयुक्त क्रियाओं का जितना स्वतत्र और व्यापक विकास खड़ी बोली में हुआ उतना अन्यत्र नहीं

'खड़ी बोली' का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए उसकी मूल प्रवृत्तियों का परवर्ती अपभ्रंश में पाया जाना आवश्यक है। इस सक्रान्ति-कालीन भाषा के असदिग्ध उदाहरण 'सदेश-रासक', 'प्राकृत-पैङ्गलम्', 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरणम्' 'वर्णरत्नाकर' और 'कीर्तिलता' आदि कृतियो म सुरक्षित हैं। सदेशरासक और प्राकृत पैङ्गलम् मे पश्चिमी, उक्ति व्यक्ति प्रकरणम् म कोसली और कीतिलता मे प्राच्य भाषा की प्रवृत्तिया मिलती है परतु कुछ ऐसी भी सामान्य प्रवृत्तिया हैं जो इन सब में कुछ न कुछ मिलती हैं—

यथा—

(१) *पओहर मुहट्ठिआ तहअ हत्थ एक्को दिआ ।*
पुणेवि तह सट्ठिआ तहअ गध सज्जा किया ।

(२) 'हत्थी जूहा सज्जा हूआ ।'[1]

(३) जब जब धमु बाढ, तब तब पापु ओहट'
जैसे जैसे धमु जाम, तैसे तैसे पापु पा (खा) म ।

(४) 'को मैं भोजन मागब'

(५) 'विडरा घोड़ दलाल'[2]

३, ४, और ५ सख्यक उदाहरण प० दामोदर कृत 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' (१२ वीं शताब्दी) से दिये गये हैं। इसकी भाषा को डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने 'प्राचीन कोशली' कहा ह। परतु इसमें उन प्रयोगों के भी बीज का मिलना जो आज की खड़ी बोली मे अत्यधिक प्रचलित हैं, इस कथन का प्रमाण है कि एक ही मध्यदेशीय साहित्यिक अपभ्रश से अपने अपने प्रातों में आधुनिक भाषाओं का स्वतन्त्र विकास हुआ है। इस प्राचीन कोशली में जब जब, तब तब, मैं, जैसे, तैसे आदि प्रयोग और 'विडरा' क्रिया का रूप आज की खड़ी बोली में अति प्रचलित है। ऊपर के दो उदाहरणों मे दिआ, सज्जा किया, सट्ठिआ, सज्जा हूआ इत्यादि स्पष्ट खड़ी बोली के प्राचीन रूप हैं।

१—(१-२) *प्राकृत पैंगलम् स० चन्द्रमोहन घोष-बिब्लियोथिका सस्करण,* १६०२ पृ० ५०९।१२, ४८३।३।

२—(३, ४, ५) *'उक्तिव्यक्ति प्रकरण'* सपादक—मुनिजिन विजय (सिंघी जैन ग्रथमाला, पृ० ३३, २२, ४०)।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण:—

हमीर वीर जब रण चलिया। तुरअ तुरअहि जुज्झिआ॥

मे पूर्वार्द्ध सब खड़ी बोली का प्रयोग है। जुज्झिआ में भी आकारांत की प्रवृत्ति तो है ही। इसी प्रकार 'नव जल भरिया मग्गड़ा', 'एक्के दुन्नय जे कया', 'सज्जा हुआ' में भरिया, कया, सज्जा हुआ खड़ी बोली के स्पष्ट रूप हैं। इन्हें ही हम पंजाबी का भी बीज मान सकते हैं और भ्रम का यही अवसर मिलता है। विवाद काल में इस अवसर का विरोधी दल खुल कर लाभ उठाते हैं।

भाषा की दृष्टि से जैन साहित्य विशेष महत्वपूर्ण है। गुलेरी जी ने इसे ही 'पुरानी' हिंदी' कहा है। समस्त जैन साहित्य की भाषा परंपरा-विहित एक सर्व सामान्य भाषा है जिसमें पंजाबी, ब्रज, खड़ी, गुजराती के प्रयोग भरे पड़े हैं। जैन साहित्य वर्तमान हिंदी साहित्य और अपभ्रंश साहित्य की परंपरा को जोड़ने वाली कड़ी है। हेमचंद्रसूरि ने संस्कृत-प्राकृत का व्याकरण लिखने के बाद अपनी मातृभाषा–प्रचलित देशभाषा–जिसको वे अपभ्रंश कहते हैं, का भी व्याकरण लिख डाला। उन्होंने अपनी भाषा का नाम गुजराती, हिंदी मराठी आदि देशपरक या जातिपरक नहीं रखा क्योंकि उस समय वह भाषा उसी रूप में भारत के बहुत से प्रदेशों में थोड़े से उच्चारण भेद के साथ बोली जाती थी। इसलिये उसे किसी प्रदेश की भाषा न कहकर उन्होंने उसका नाम अपभ्रंश रखा। यह अपभ्रंश शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का बिगड़ा हुआ या विकसित रूप था। हेमचद्र सूरि के देहांत के थोड़े ही दिनों बाद भारत में राज्यक्रांति हुई और राष्ट्रीय परिस्थिति में घोर परिवर्तन होने लगा। विभिन्न प्रदेशों का पारस्परिक संबंध टूट गया। परस्पर के व्यवहार, आदान-प्रदान और मिलने-जुलने में बड़ी कमी पड़ गई। यहीं से गुजराती, हिंदी, राजस्थानी आदि भाषाओं के पूर्व रूपों का अपने-अपने प्रांतों में स्वतंत्र विकास हुआ। फिर भी १४ शती के पूर्व इन भाषाओं का स्पष्ट स्वरूप कम मिलता है। यही कारण है कि हेमचद्र के 'प्राकृत-व्याकरण' और 'देशीनाममाला' में खड़ी, पंजाबी, और ब्रजभाषाओं के मिले-जुले रूप मिलते हैं। हेमचद्र का निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा खड़ी बोली के उदाहरण-स्वरूप अत्यधिक उद्धृत किया जा चुका है।

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजंतु वयसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु॥

इसमे भल्लाहुआ (भला हुआ) खड़ी बोली की स्पष्ट क्रिया है, तथा महारा (हमारा) सर्वनाम और लज्जेजतु मे खड़ी बोली की सयुक्त क्रिया का बीज द्रष्टव्य है।

खड़ी बोली की व्यापकता और उसकी प्राचीन परंपरा—

इस प्रकार खड़ी बोली न तो व्रजभापा से और न उर्दू से विकसित हुई बल्कि कुरु देशीय अपभ्रंश से विकसित यह एक सहज बोली थी जिसका बोलचाल के रूप म बहुत प्राचीन काल से व्यापक प्रचार था। भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों क साहित्य मे पाये जानेवाले इसके पुराने प्रयोग इसी कथन के साक्षी है। उर्दू का ता इतना पुराना अस्तित्व ही नही सिद्ध होता, व्रजभापा से भी यह पीछे का नहीं ह बल्कि उससे कहीं अधिक व्यापक एवं प्राचीन उदाहरण इसके मिलते हैं।

सच्ची बात तो यह है कि जिन लोगों के पास जनता के लिये कुछ सदेश था उन सभी लोगो ने जनसाधारण मे प्रचलित इसी हिंदी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया चाहे वे दक्खिन और महाराष्ट्र के महानुभाव, और वारकरी आदि पंथो के सत हों चाहे मध्य देश के नाथपथी और कबीर पंथी सत हों अथवा पंजाब के सिक्ख गुरु हों। यहाँ तक कि जब मुसलमानों और ईसाइयों को भी जनसाधारण से कुछ कहना हुआ तो यही हिंदी अपनाइ गई। यह इसकी अखिल भारतीय व्यापकता का ज्वलत प्रमाण है। इस अध्याय मे प्राचीन पद्यसाहित्य में प्राप्त इसके प्रयोगों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

उत्तर भारत में नाथपंथी साहित्य बहुत पुराना है। इन्हीं नाथपंथी जोगियों ने खड़ी बोली हिंदी को राजस्थान, पंजाब, गुजरात महाराष्ट्र और बंगाल तक फैलाया। ये संत प्रांतीयता की दीवालों मे नहीं सीमित थे और इनकी सधुक्कड़ी भाषा में कुछ न कुछ सभी प्रांतो के प्रयोग मिलते हैं फिर भी इस भापा का ढाँचा खड़ी बोली का है।

नाथों का समय ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इनकी भाषा में पश्चिमी हिंदी विशेपतया खड़ी बोली के उदाहरण काफी मिलते है। यथा—

आइस जी जागी ।
माया जे जाग्याते जुगि जुगि जाग्या ।
कह्या सुण्यों सूं कैमा ॥
गगन मंडल में ताली लागी ।
जोग पंथ है ऐसा[1] ॥

अथवा

जोग न जोग्या भोग न भोग्या, अहिला गया जमारं ।
प्रामे गदहा रांमैं सूकर, फिरि फिरि लेअवतार[2] ॥

इनकी भाषा के संबंध में आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है—

"......नाथ पथ के जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्य भाषा से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज भाषा का था अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिये राजस्थानी था[3] ।"

नाथों में सर्वप्रथम गोरखनाथ (१३ वीं शती का पूर्वार्द्ध) के उदाहरण मिलते हैं। खोज द्वारा गोरखनाथ के अनेक ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं जिनमें से गोरखनाथ के पद, गोरखनीध, जोगेश्वरी शाखी आदि की भाषा में खड़ी बोली की प्रधानता है।[4] इनके साखियों की भाषा में खड़ी बोली के प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हैं।

१—बुधँली मल जी की सवदी ४३८ हस्तलेख (प्राप्ति स्थान डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी)

२—चौरंगी नाथ की सवदी ३७।१७८ ,, ,, ,,

३—रामचंद्र शुक्ल-हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० १६।

४—'खड़ी बोली विशेष करके मुसलमान या रमता राम जोगी और साधुसंत राजपूताना में लाये हैं जो प्रायः सबही जगह समझी जा सकती है। यही हिंदी है और बहुत वर्षों पहले यहां आई है। गोरखपंथी योगियों और कबीरपंथी तथा दादूपंथी साधुओं की पुरानी उर्दू भी यही हिंदी बोली है। ब्रजभाषा इसके बहुत पीछे वल्लभ संप्रदाय के प्रसंग से यहां पहुँची है।' मु० देवीप्रसाद मुंसिफ—राजपूताना में हिंदी पुस्तकों की खोज।
(द्वितीय हिंदी साहित्य संमेलन, कार्यविवरण द्वि० भा०)

यथा:—

बैठा अवधू लोह की पटी, चलता अवधू पन की मूंठी।
सोवता अवधू जीवता मूवा, बोलता अवधू प्यंजरै सूवा ॥[१]
अरध-उरध बिचि धरी उठाई, मधि सुंनि मैं बैठा जाई।
मतवाला की सगति आई, कथत गोरखनाथ परमगति पाई ॥[२]

नाथ पंथ के अन्य जोगियो मे चरपटनाथ, चौरंगी नाथ आदि की भाषा प्राचीनता लिये हुए सरल खड़ी बोली हिंदी ही है। यथा—

'किसका बेटा किसकी बहू। आप सवारथ मिलिया सहू ॥
जेता फूल्या तेता आल। चरपट कहै सब आल जंजाल ॥'[३]

अथवा

'टूका पाया मगर मचाया। जैसा सहर का कूता।
जोग जुगति की षबरि न जाणी। कान फड़ाई बिगूता ॥[४]

उत्तर भारत मे इन नाथ पंथी जोगियो के अलावा खड़ी बोली में कबीर पंथी संतो के पूर्व बहुत कम पद्य रचना मिलती है। क्योंकि अपभ्रंश के बाद उत्तर भारत मे काव्य की भाषा राजपूती प्रभाव से डिंगल या राजस्थानी हो गई और बाद मे वैष्णव आंदोलन के फलस्वरूप पिंगल या ब्रजभाषा का साहित्य पर प्रभुत्व छा गया फिर भी इन कवियों की रचनाओं मे खड़ी बोली के पुट बराबर मिलते हैं।

डिंगल या राजस्थानी मे अबतक सर्वप्रथम कवि चंद समझे जाते रहे, उनकी रचना 'पृथ्वीराज रासो' मे खड़ी बोली के अत्यंत आधुनिक रूप मिलते हैं। परंतु इसी रूप मे इनका प्रयोग चंद ने किया होगा इस पर अब बड़ी शंका उठाई जा रही है। उनके कुछ ही समय बाद 'शारंगधर' ने

१—डा० पीतांबर दत्त बडथ्वाल—गोरखबानी, प्र० संस्करण, पृ० २५।

२—वही पृ० २८।

३—श्री चरपट नाथ जी की सबदी, १४२, पृ० ३८ हस्तलेख (प्राप्ति-स्थान हजारीप्रसाद द्विवेदी

४—चौरंगी नाथ की सबदी ३७।१७७ (हस्तलेख प्राप्ति स्थान हजारीप्रसाद द्विवेदी)

शारंगधर पद्धति नामक सुभाषितों का एक संग्रह किया, जिसे प्रामाणिक माना जाता है। इसमें भी खड़ी बोली के रूप मिलते हैं यथा—

भूठे गर्व भरा मवालि सहसा रे कंत मेरे कहे
कंटे पाग निवेदजाह शरण श्री मल्लदेवं विभुम्।[1] (श्लोक सं ५५०)
(श्री कंठ रचित)

शारंगधर के समकालीन कवि खुसरो फारसी के बहुत बड़े कवि थे। इनकी रची ९९ पुस्तकें कही जाती हैं। फारसी के अलावा ये हिंदी के बड़े प्रेमी और कवि थे। इन्होंने अपनी 'आशिका' नामक रचना में हिंदी के संबंध में लिखा है—

किंतु मेरी यह भूल थी, क्योंकि यदि आप इस विषय पर अच्छी तरह से विचार करें तो आप हिंदी भाषा को फारसी से किसी प्रकार भी हीन न पावेंगे[1]।

इन्होंने फारसी हिंदी का एक कोष 'खालिकबारी'[2] बनाया जिसका वितरण चारों ओर 'ऊंटों और गाड़ियों' पर लाद कर किया गया था। इस प्रकार हिंदी का प्रचार फारसी के साथ ही मुसलमान कर रहे थे। खुसरो ने जो हिंदी की प्रशंसा की है वह कवियों की भाषा ब्रज के लिए ही नहीं बल्कि खड़ी बोली के लिए भी की है। उन्होंने काव्य भाषा ब्रज के अलावा खड़ी बोली में, जो जन साधारण के बोलचाल की भाषा थी बहुत सी पहेलियां, मुकरियां, और कवितायें लिखीं। खुसरो रूढ़ियों के अंधानुयायी नहीं थे। उनमें मौलिक प्रतिभा थी। उन्होंने काव्य भाषा छोड़कर जन भाषा में तो रचना की ही, कवि समय और अन्य काव्य-रूढ़ियों की भी परवाह नहीं की। फारसी की प्रेम-पद्धति के विरुद्ध भारतीय प्रेम परंपरा अपनाते हुए उन्होंने लिखा—

१—डा० रामकुमार वर्मा—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास द्वि० सं० पृ० १७९।

२—'खालिकबारी' को डा० कादिरी खुसरो का लिखा हुआ नहीं मानते। इनके अनुसार 'खालिकबारी' खुसरो के बहुत बाद की रचना है। वही, पृ० १८५।

"इश्क अव्वल दरदिले माशूक पैदा मीशवद्,
तान सोजद शमा के परवाना शैदा मीशवद्'।"

(अर्थात् 'पहले तिय के हीय में उमगत प्रेम उमंग,
आगे बाती बरति हैं पीछे जरत पतंग'।)

उन्होंने छंदों और रागनियों में भी बंधनों और परंपराओं के विरुद्ध अपनी मौलिक उद्भावनाओं से काम लिया। अनेक नवीन रागरागनियाँ रच डालीं। परंपरा विहित विषयो–वीर एवं शृंगार के अलावा अति साधारण विषयों को भी काव्य में स्थान दिया। जन सामान्य विषयों के साथ ही भाषा के क्षेत्र में भी खड़ी बोली हिंदी का प्रयोग करके उन्होंने अपनी मौलिकता का परिचय दिया हो तो इसमें रूढ़िवादियों को कोई शंका नहीं करनी चाहिए। इनकी रची हुई निम्नलिखित प्रसिद्ध खड़ी बोली की मुकरी देखियेः—

"फारसी बोल आईना, तुर्की ढूढ़ी पाइना।
हिंदी बोलो आरसी आए। खुसरो कहे कोई न बताये।" (आरसी)

या 'रोटा जली क्यों? घोड़ा अड़ा क्यों? पान सड़ा क्यों?

उत्तर 'फेरा न था।'

या 'अरथ जो इसका बूझेगा, मुँह देखे तो सूझेगा'[2] (दर्पण)

इन कहमुकरियों, पहेलियों और दो सखुनों के अलावा खड़ी बोली में अनेक बालोपयोगी गीत और गजलें आदि भी इन्होंने लिखीं। इनके एक गीत की प्रथम पंक्ति है—

'किसे पड़ी है जो जा सुनावे पियारे पी को हमारी बतियाँ।

खुसरो के बाद उत्तर भारत में खड़ी बोली की रचनाओं के उदाहरण बहुत विरल हैं फिर भी कबीर और उनके पंथ के अन्य संतों के आविर्भाव के बाद जनभाषा को पद्य रचना में स्थान मिला। परन्तु काव्यभाषा क्षेत्र के बाहर जन भाषा और बोलचाल के रूप में खड़ी बोली का सुदूर प्रान्तों में चारो ओर प्रचार हो रहा था।

१—पद्मसिंह शर्मा–अमीर खुसरो, (माधुरी वर्ष ५ खंड १ संख्या १) १५ अगस्त १९२६।

२—ब्रजरत्नदास–खुसरो की हिंदी कविता।

दक्षिण में यह बोलचाल की भाषा ईसा की १२ शताब्दी से ही बरार, हैदराबाद, महाराष्ट्र और मैसूर आदि प्रदेशों में प्रचलित हो गई थी। कारण यह था कि इन प्रदेशों के प्राचीन राज्यों—चालुक्य, यादव और बहमनी का उत्तर भारत से घनिष्ठ संबंध था। उत्तर और दक्षिण भारत के इस प्राचीन संबंध के कारण संस्कृति, धर्म और भाषा आदि का आदान प्रदान अखंड रूप से होता रहा है। बहुत से विद्वान् दक्न और महाराष्ट्र में खड़ी बोली हिन्दी के प्रचार का श्रेय केवल मुसलमानी राज्य विस्तार तथा उनके संसर्ग को ही देते हैं। परन्तु यह बात अंशतः ही मान्य है। मुसलमानों के आने के बाद इस बोलचाल की भाषा को 'दक्खिनी' के नाम से साहित्यिक गौरव अवश्य मिला पर इसके पूर्व ही महाराष्ट्र में सन्तों ने इस जनभाषा का प्रचार शुरू कर दिया था और उनकी पद्य रचनाओं में इसके प्रचुर प्रयोग मिलते हैं।

महाराष्ट्र में बारहवीं शती में ही महानुभाव पंथ चला था और इन्हीं लोगों ने अपने प्रचार के लिए पद्य में सर्वप्रथम हिन्दी को अपनाया। ये प्रचारक थे और अतिसामान्य वर्ग के लोगों में इस पंथ का प्रचार हुआ था। अतः सर्वसामान्य भाषा के रूप में खड़ी बोली के प्रयोग उनकी रचनाओं में स्वभावतः मिलते हैं। इस पंथ के संस्थापक चक्रधर (सम्वत् ११६६) के शिष्य नागदेवाचार्य की बहिन उमाम्बा की कुछ चौपदियाँ मिली हैं जिनकी भाषा गुजराती मिश्रित खड़ी बोली है। यथा—

'नगर द्वार हो भिच्छा करो हो बापुरे मोरी अवस्था लो।
जहाँ जावो तिहा आप सरीखा कोउ न करी मोरी चिंता लो।
हाट चौहटा पड़ रहूँ हो माँग पच घर भिच्छा।
बापुड़ लोक मोरी अवस्था काउ न करी मोरी चिंता लो।'[1]

महानुभाव पंथ के अलावा महाराष्ट्र को प्रभावित करने वाला दूसरा शक्तिशाली पंथ वारकरियों का था। यह पंथ ईसा की तेरहवीं शती से चला। पंढरपुर के विठोबा का दर्शन करने वालों को 'वारकरी' कहा जाता था इसीलिये यह पंथ 'वारकरी' कहलाया। इस पंथ में नामदेव, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम आदि अनेक प्रसिद्ध संत हुए। इन संतों की पर्यटन

१—ब्रजरत्नदास-खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ६२।

प्रवृत्ति ने एक प्रान्त की संस्कृति और भाषा का सहज ही दूसरे प्रांतों में संचार किया। अपने मत प्रचार के लिये इन लोगों ने हिंदी को भी अपनाया तथा साहित्य रचा।

महाराष्ट्र के आदि कवि संत ज्ञानेश्वर ने (१२ वीं शताब्दी पर्वार्द्ध) श्रीमद्भागवत् की ज्ञानेश्वरी टीका बनाई। यद्यपि खड़ी बोली हिंदी में उनके अबतक दो ही पद मिले हैं। परंतु उनसे उसकी प्राचीनता और व्यापकता का प्रमाण तो मिल ही जाता है। कुछ पंक्तियां देखिये —

'सब घट देखो माणिक मौला। कैसे कहूँ मैं काला धवला॥
पंच रंग से न्यारा होई। लेना एक और देना दोई॥
निर्गुण ब्रह्म भुवन से न्यारा। पोथी पुस्तक भये अपारा॥
कोरा कागद पढ़कर पाई। लेना एक और देना दोई॥
× × ×
कहे ज्ञानदेव मन मों धरियो। सतहि सागर आगे धरियो॥
पिंड में आव जावे कोई। लेना एक और देना दोई॥'[1]

संत ज्ञानेश्वर (१२७०-१३५०) के समकालीन दूसरे प्रसिद्ध संत नामदेव हैं। इन्होंने कबीर के बहुत पूर्व संत मत का उत्तर भारत की जनता में प्रचार किया। इनकी भाषा के संबंध में मैकालिफ ने 'सिख रिलीजन' में लिखा है कि इन्होंने अधिकतर मराठी में कविता की पर इनके बहुत से हिंदी गीत भी हैं जो ग्रंथ साहब में संग्रहीत हैं। इनके नाम पर खड़ी बोली का निम्नलिखित पद्य बहुत प्रचलित है—

'पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लेकर ठेंगा टगरी तोरी लंगत लंगत जाती थी॥
पांडे तुम्हारा रामचंद्र सो भी आवत देखा था।
रावण सेती सरवर होई घर की जोई गँवाई थी[2]॥'

इसके बाद दो शताब्दी तक महाराष्ट्र में यवनों के उपद्रव होते रहे और इस काल का इतिहास इतना स्पष्ट नहीं प्राप्त है कि किसी संत कवि या उसकी

१—ब्रजरत्नदास—'खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास' पृ० ६२।

२—गणपति जानकी राव—'अन्य कवियों द्वारा की गयी हिंदी सेवा' (सप्तम हिंदी साहित्य सम्मेलन कार्यविवरण द्वि० भा० पृ० २)

रचना के अस्तित्व की छानबीन की जा सके। विम्म की सोलहवीं शती मे संत एकनाथ का विवरण मिलता है। जिनकी हिंदी रचनायें भी उपलब्ध हैं। हिंदू मुसलमानों के समन्वय के भाव इनकी रचनाओं में स्पष्ट झलकते हैं। इनकी रचना से एक उदाहरण देखिये—

> 'मसजिद ही में जो अल्ला खुदा, तौ और स्थान क्या खाली पड़ा
> पांचो वक्त नमाजों के तो आर वक्त क्या चोरों का।
> 'एका' जनार्दन का बदा अर्माम आसमान भरा खुदा'[1]।

इनके अलावा जनी जनार्दन, तुकाराम, कान्होबा की रचनाओं में पर्याप्त खड़ी बोली क पद्य प्राप्त हुए हैं। सोलहवीं शती समस्त भारत मे संतो के अवतार की शती है। दक्खिन में इन उच्चकोटि के संतों ने अवतार लेकर हिंदी की बड़ी सेवा की।

दक्खिन में खड़ी बोली हिंदी प्रचार का श्रेय मुसलमानी विजय और उनके प्रभाव का भी बहुत अधिक है। दिल्ली और दक्खिन मे राज्य शासन और विजय का संबंध अलाउद्दीन खिलजी के समय से शुरु हुआ। ये मुसलमान अपने निजित प्रांतों मे राज्य शासन प्रबंध, बोलचाल और व्यवहार आदि के द्वारा हिंदी का प्रचार करते रहे। अलाउद्दीन ने दक्षिण में देवगढ से समुद्र तीर तक विजय किया और सब जगह सूबेदार, अमले और सिपाही रखे जिनसे खड़ी बोली के प्रचार में बहुत सहायता मिली।

यादव वंश के नाश होने पर महाराष्ट्र में खलबली मची। मुसलमानो की धर्मांधता से धार्मिक स्वरूप पर धक्का पहुँचा। इसकी प्रतिक्रिया में महाराष्ट्रीय संतों ने घूम घूम कर सर्वत्र धर्म प्रचार आरंभ किया। उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों काशी, प्रयाग, गया, हरिद्वार, आदि में इन्हें जाना पड़ता था। इसलिये उत्तरी भारत की भाषा का अभ्यास इन्हें सहज ही हो जाता था। इसके अलावा यवनों पर अपने धर्म का प्रभाव डालने और उनसे अपनी बात कहने के लिए इन्हें खड़ी बोली और अरबी-फारसी के बीच की भाषा का भी ज्ञान आवश्यक होता था। इस तरह दक्षिण मे संतों और मुसलमानों के सम्मिलित प्रभाव स्वरूप एक मिली जुली भाषा का प्रचार हुआ जिसे बाद में दक्खिनी के नाम से साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त हुआ।

१—व्रजरत्नदास—'खड़ी बोली साहित्य का इतिहास' पृ० ६१।

दक्खिनी को अधिकतर लोग भ्रष्ट उर्दू का एक रूप समझ बैठते हैं पर यह उचित नहीं, उसे भी उर्दू की तरह खड़ी बोली की एक शैली समझना चाहिए जिसे गोलकुंडा और बीजापुर के दक्खिनी दरबारों में विकास प्राप्त हुआ। वास्तव में दिल्ली की खड़ी बोली का दकन में, जहाँ मुसलमानी प्रभुत्व था, जाकर साहित्यिक गौरव प्राप्त कर लेना एक आश्चर्य का कारण होता है। पर सच तो यह है कि दक्षिण का प्रथम मुसलमानी राज्य बहमनी अपने प्रबन्ध कार्य में हिंदुओं को ही अधिक स्थान देता था। कहा जाता है कि बहमनी राज्य के संस्थापक अमीरहसन ने अपना दफ्तर दिल्ली के किसी गगूनामक ब्राह्मण को बुलाकर सौंपा था। और अर्से तक इस राज्य का कार्य हिंदी में होता रहा।

बहमनी राज्य के बाद बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर आदि रियासतों के संरक्षण में दक्खिनी की उन्नति का एक प्रमुख कारण यह भी रहा कि हरमों में हिंदू रानियाँ हिंदी ही अधिक समझती थीं। युसुफ आदिलशाह की पत्नी 'बुबु जी' उर्फ (पूर्जी खानुम') मुकुंद राव मरहट्टा की बहिन थी। सुल्तान मुहम्मद शाह की प्रिय पत्नी एक हिंदू महिला भागमती थी। उस समय साम्प्रदायिक आधार पर मुसलमानों में भाषा संबंधी कोई विवाद नहीं था। ग्रिबिल्स ने 'दी हिस्ट्री आफ दकन' में लिखा है—

'इसमें कोई संदेह नहीं कि इस ३०० वर्ष के समय में अर्थात् जब तक बीजापुर और गोलकुंडा स्वतंत्र राज्य रहे, इन दोनों जातियों में अर्थात् हिंदुओं और मुसलमानों में इतना मेलजाल था कि हिंदुस्तान में किसी और जगह नहीं पाया जाता था[१]।'

बीजापुर के बादशाह आदिलशाह ने गीत, राग-रागनियों के लक्षण तथा उदाहरणों से युक्त नौरस नामक एक संग्रह कराया। इन गीतों के आरंभ में गणेश और सरस्वती की पूजा है साथ ही अपने गुरु गेसूदराज की वंदना की है। इसकी भाषा भी वही है जो उस समय दिल्ली के आसपास प्रचलित थी। उदाहरण देखिये—

> 'झनक झनक मोती खा की तात गाजी।
> यों तो ताल मृदंग भेद सों नौरस बाजी॥

१—ग्रिबिल्स—'हिस्ट्री आफ दी दकन' जिल्द १, पृ० २९४।

बैन   इस जग में दो कुछ लीजे।
एक तम्बूरा एक कामिनी कीजे॥

श्रभोग   इब्राहीम जब तूँ बूझे। तब विहिश्त अमृत क्या करूँ मूझे[१]।'

दक्खिनी का मूल ढाँचा खड़ी बोली या पश्चिमी हिंदी का था उसपर अरबी फारसी के साथ ही मराठी और कुछ अन्य दक्खिनी भाषाओं का प्रभाव पड़ गया था। इसमें रचना करनेवाले हिंदू और मुसलमान दोनों थे। केशव स्वामी की रचना का नमूना देखिये—

'सत की चाकरी कर रे बाबा।
इस तन का क्या भरोसा कब ज्यावेगा मर।
निरंजन का सरूप समझ, छोड़ दे करकर कर
कहत 'केशव' राम कूं पाया यों नर अमर अमर[२]।

दक्खिनी के मुसलमान कवियों की भाषा में स्वभावतः अरबी फारसी के शब्द अधिक मिल जाते थे परन्तु जानबूझकर अपनी भाषा को हिन्दी से अलग करने की चेष्टा इन कवियों ने नहीं की। इन लोगों ने स्वयम् अपनी भाषा को 'दक्खिनी' या 'दक्खिनी हिन्दी' कहा है। कहीं भी उर्दू का नाम नहीं लिया। शाहमीरन जी के पुत्र बुरहानुद्दीन ने कहा है 'ऐब न राखे हिन्दी बोल'। शाहमीरनजी ने स्वयम् कहा 'यह बोलूं हिन्दी सब इन अर्थों के सबब'। शाहमलिक ने लिखा 'दक्खिनी में बोल्या है सब'। तात्पर्य यह कि हिन्दी उर्दू विवाद की रंचमात्र भी भावना दक्खिनी के हिन्दू मुसलिम कवियों में नहीं पाई जाती। मुसलमान कवियों में गेसूदराज, मुहम्मद कुलीकुतुबशाह, इब्ननिशाती और शेखसादी आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी हिन्दी या दक्खिनी में—पर्याप्त रचनायें प्राप्त हो चुकी हैं। 'वली' तक हिन्दी-पन बना रहा परन्तु सन् १७०० में वह दिल्ली आया और यहाँ शाहसादुल्ला ने उसे हिदायत दिया कि 'ये इतने फारसी के मजमून बेकार पड़े हैं इन्हें काम में ला'। फिर तो वली ने अपना रुख ही बदल दिया और लिखने लगा 'जब सनम को खयाले बाग हुआ, तालिबे वराये फराग हुआ।'

१—भगवत दयाल वर्मा—'आदिलशाही दरबार में हिंदी' (हस्तलेख सन् १९५१ में एम० ए० की थीसिस—काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

२—श्रीरामशर्मा—'दक्खिनी का गद्य और पद्य' प्रथम संस्करण पृ० १६८।

सम्वत् १६०८ में समर्थ रामदास का जन्म हुआ। इन्होंने समर्थ सम्प्रदाय चलाया। इसमें अनेक प्रभावशाली महात्मा हुए। इनका तत्कालीन राजनीति पर भी बड़ा प्रभाव था। इन्हीं की प्रेरणा से शिवा जी के अन्दर हिन्दुत्व और हिन्दी के प्रति गौरव तथा अपनत्व का भाव जगा। शिवाजी ने अपने दरबार में कई हिन्दी कवियों को आदरपूर्वक रखा। इनमें भूषण की लोकप्रियता से हिन्दी प्रचार में बड़ी सहायता मिली। कहा जाता है कि शिवाजी के पुत्र सम्भाजी को प्रयाग के कवि कलश ने हिन्दी पढ़ाई थी और वे नृप शंभू के नाम से कविता भी करते थे। इस प्रकार समर्थ रामदास, उनके योग्य शिष्य छत्रपति शिवाजी और वीर कवि भूषण ने दक्षिण में हिन्दी के प्रचार-कार्य से स्तुत्य योग दिया। समर्थ रामदास, उनके शिष्य देवदास तथा शिष्या दयाबाई की खड़ी बोली हिन्दी की रचनायें उपलब्ध हैं। यहाँ दयाबाई की कविता का एक उदाहरण दिया जा रहा है—

बाग रंगीला महल बना है। महल के बीच में झूलना पड़ा है।
इस झूलने पर झूलो रे भाई। जनम मरन की याद न आई।
दासी क्या कहे गुरु भैया ने। मुझको झुलाया सोही झुलावे।[1]

समर्थ गुरु के योग्य शिष्य देवदास ने मुसलमानों पर प्रभाव डालने के लिये हिन्दी में कविता की और लिखा—

कही बात ये हीं सही ब्राह्मणों की,
अच्छी सी भली है राहनी उन्हीं की।
तुम्हारा हमारा खुदा एक भाई,
कहे 'देवदास' नहीं है जुदाई।[2]

बंबई के प्रसिद्ध महाराष्ट्र पुस्तक प्रकाशक श्रीयुत् यदे साहब ने 'श्री रामदास के समग्र' ग्रन्थ में शिवाजी का भी एक खड़ीबोली हिन्दी का पद्य उद्धृत किया है। उनके दरबारी भूषण की रचनाओं में तो खड़ीबोली के अनेक प्रयोग दिखाये जा सकते हैं। शिवाजी के दरबार में भूषण के अलावा गोविन्द, मानसिंह आदि कई अन्य कवि भी रहा करते थे। मानसिंह की हिन्दी रचना पर नाथों का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

१—ब्रजरत्नदास—'खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ११८।
२—वही।

इन सन्तो ने भी महाराष्ट्र में हिन्दी प्रचार कार्य में काफी योग दिया। मानसिंह की एक रचना का उदाहरण यहाँ दे रहा हूँ—

'बिगरी कौन सुधारे नाथ बिन, बिगरी कौन सुधारे।
बनी बने का सब कोई साथी, बिगरी काम न आवे रे।

❀ ❀ ❀

भला बुरी यह दोनों बहिनें परपरा से आई रे।
नाथ जलदर मुद्रा वाले 'मानसिंह' जस गाई रे[1]।'

पशवाओं के समय में मरहठा राज्य का प्रभाव काफी बढा। उन लोगों ने हिंदी में पत्र व्यवहार करने लिए पूना में दफ्तर खोला। यहाँ से राजपूताने के राजाओ के नाम प्रेषित अनेक हिंदी के पत्र मिले हैं। जब होल्कर और सिंधिया का राज्य मालवा में जम गया तो उन्होंने अपना मुल्की दफ्तर मराठी की जगह हिंदी मे कर दिया। महाराज महादाजी सिंधिया स्वयम् कवि थे और उन्होंने आम्बिये को बुलाकर समानपूर्वक अपने दरबार में रखा था। उसकी खड़ी बोली की रचना का एक नमूना देखिये—

'अवधूत ! नहीं गरज तेरी हम बेपरवा फकीरी।
तू है राजा हम हैं जोगी पृथक पथ है न्यारा।
क्षत्रपती सब तेरे सरीखे पायन परत हमारे।

❀ ❀ ❀

सोना चादी हमें नहि चहिये, अलख भुवन के वासी।
महल मुलख सब घास बराबर, हम गुरु नाम उपासी।
तू भी डूबे हमें डुबाये, तेरा हम क्या खोया।
कहे सोहिरोबासुनो महादजी, प्रगट योग कमाया[2]।'

नाभा जी के भक्तमाल का मराठी पद्यानुवाद महीपती ने किया। इससे भी हिन्दी प्रचार में बड़ी सहायता पहुँची। हिन्दी मे अनेक महाराष्ट्र कवियों

१—*भास्कर रामचन्द्र भालेराव—मराठी का हिन्दी से प्राचीन सबध* (नवम् हिन्दी सा० स० कार्य वि० द्वि० भा० पृ० ७१)

२—गणपति जानकी राय—*'अन्य भाषा कवियों द्वारा की गई हिन्दी सेवा'* (*सप्तम हि० सा० स०*, कार्य० वि० द्वि० भा० पृ० २५)

की रचनायें मिलती हैं उनमें से कुछ की रचनाओं में उच्चकोटि की साहित्यिकता है। बरार निवासी देवनाथ (१७५४ वि०) ने पर्याप्त हिन्दी कविता की। उनकी रचनाओं में बहुत ही प्रभावोत्पादकता तथा लालित्य है। उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियाँ देखिये—

> 'रमते राम फकीर कोई दिन याद करोगे।
> कोई दिन ओढ़े शाल दुशाला। कोई दिन भगवे चीर।
> कोई दिन खावे मेवा मिठाई, कोई दिन पीवे नीर।
> कोई दिन हाथी कोई दिन घोड़ा, कोई दिन पाँव जञ्जीर।
> ❀ ❀ ❀
> देवदास प्रभुनाथ गोविन्दा, तू है सच्चा पीर'[1]।

इनके अलावा अमृत राय, शिवदीन आदि की ओजस्वी कवितायें मिली हैं। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक बराबर बरार, महाराष्ट्र, और दकन में हिन्दी का प्रचार रहा तथा कवितायें की गईं। खड़ी बोली हिंदी में कविता करने का एक मुख्य कारण यह भी था कि उक्त क्षेत्र काव्य भाषा प्रदेश से दूर पड़ता है और काव्य परम्परा का अधिक बन्धन यहाँ के कवियों को नहीं था। इसके अलावा इनमें से अधिकांश संत और रमते जोगी थे जो किसी सीमा में बंधकर रहनेवाले नहीं होते।

गुजराती और हिन्दी साहित्य में भाषा और भावों का अद्भुत साम्य है। एक ही नागर अपभ्रंश का एक रूप गुजराती और दूसरा हिन्दी के रूप में विकसित हुआ। यही कारण है कि सोलहवीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी और गुजराती कविता में बड़ी समानता है। तेरहवीं शताब्दी तक जाते जाते हिन्दी और गुजराती में एक भाषा का भ्रम होने लगता है। गुजराती भाषा के इतिहास लेखक श्रीव्रजलाल जी का कथन है कि गुजराती पर हिन्दी का पूरा प्रभाव पड़ा है। गुजरात के इतिहास लेखक श्री फार्बस तो यहाँ तक कहते हैं कि गुजरात के लोग उत्तरी भारत से ही उधर गए अतः गुजराती भाषा भी हिन्दी का ही एक रूप मानी जावे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

१—भास्कर रामचन्द्र भालेराव-'मराठों का हिन्दी से प्राचीन सम्बन्ध (सप्तम् हि० सा० स०, कार्य वि० द्वि० भा०, पृ० २६)

श्री के० एम० झवेरी ने अपने ग्रंथ 'माइल स्टोन आफ गुजराती लिटरेचर' में लिखा है—'मध्ययुगीन गुजरात मे हिन्दी ही सुसंस्कृतों और विद्वानों की मान्य भाषा थी।'

गुजरात में जैनियो द्वारा हिन्दी प्रचार को बहुत अधिक सहायता मिली। दिगम्बर सम्प्रदाय की मुख्य भाषा हिन्दी ही है। गुजराती और मराठी में प्रायः दिगम्बरी साहित्य बिलकुल नहीं है। पिछले तीन सौ वर्षों से इन लोगों ने हिन्दी साहित्य के गद्य-पद्य भडार को भरा है। दिगम्बर साहित्य के अधिकाश हिन्दी ग्रन्थ संस्कृत या प्राकृत से अनूदित हैं। अनुवादक अधिकतर गृहस्थ या श्रावक हैं। इन लोगों को धार्मिक नियमानुसार मौलिक ग्रन्थ रचना का अधिकार नहीं होता। इनमें भूधरदास, बनारसीदास आदि की रचनाएँ स्पष्ट हिन्दी की हैं। अठारहवीं शती मे भूधरदास ने 'जैनशतक' 'पद समह आदि' ग्रन्थ रचे। 'पद संग्रह' मे प्रयुक्त खडी बोली का एक नमूना उद्धृत किया जा रहा है—

> 'चरखा चलता नाही, चरखा हुआ पुराना,
> पग खूंटे दग हालन लागे, उर मदरा खखराना।
> छींदी हुई पाखडी पसली, फिरे नहीं मन माना।
> रसना तकली ने बलखाया, सो अब कैसे खूटे।
> सबद सूत सूधा नहि निकसें, घड़ी घड़ी पर टूटे।
> आयुमाल को नहीं भरोसा, अग चलाचल सारे।
> रोग इलाज मरम्मत चाहें, वैद बादई हारे[१]॥"

दयाराम १८ वीं शती में अत्यंत प्रसिद्ध कवि और पर्यटक हुए। इनकी दृष्टि भाव और भाषा के क्षेत्र में सार्वदेशिक हो गई थी। राष्ट्रभाषा हिन्दी ही में इनकी अधिकाश कवितायें मिलती हैं। इनमें ब्रजभाषा का काफी पुट है। ये भावुक कवि थे। कविता के सम्बन्ध में इनकी निम्नलिखित उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

> 'कहिबे को काव्य पै कवि को कलेजा है।"

इनकी खड़ी बोली कविता का एक उदाहरण दिया जा रहा है—

१—नाथूराम प्रेमी-हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, प्रथम सस्करण। पृ०

'हरदम कृष्ण कह श्रीकृष्ण कह तू जबाँ मेरी।
यहीं मतलब के खातर करता हूँ खुशामद मैं तेरी।
दही चोर दूध शक्कर रोज खिलाता हूँ तुझे।
तौ भी हरिनाम सुनाती न तू है मुझे।'

❁ ❁ ❁

खोई जिन्दगानी सारी खोई गुनाह माफ तेरा।
'दया' मत भूले प्रभुनाम, आखर वक्त है मेरा[1]।

गुजरात के आदि कवि नरसी मेहता, और वेदांती कवि अक्खा आदि की कवितायें भी प्राप्त हैं। परन्तु उनपर खड़ी बोली के साथ ही व्रजभाषा का अत्यधिक प्रभाव है। गुजरात में हिन्दी प्रचार के राजनैतिक कारण भी हैं। गुजरात और राजपूताने पर बहुत दिनों तक राजपूतों का एक छत्र राज रहा। और गुजरात तथा मारवाड़ भौगोलिक दृष्टि से भी बिलकुल पड़ोसी हैं। अतः गुजरात के हिंदी कवियों की भाषा पर राजस्थानी का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। १६ वीं शती के ठकुरसी नामक कवि ने एक कंजूस की कथा छप्पय में कही है। उसकी भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव देखिये—

कृपणु कहै रे मीत, मज्झु घरि नारि सतावै।
जात घालि घणु खरचि कहै जो मोहि न भावै।
तिहि कारण दुब्बलौ, रयण दिन भूख न लागे।
ता कृपण कहै रे कृपण सुनि, मीत न कर मनमाहिं दुखु।
पीहरि पठाई दे पापिणी, ज्यों को दीठि तू होइ सुखु[2]।

इनके अलावा उसी समय की एक कविता 'दूधा छाड़ानी' की भाषा में भी चारणी हिन्दी का प्रभाव है। जाट राजा छाड़ के वंश का वर्णन गोपभाट ने चारणी मिली-जुली खड़ी बोली में किया है।

जब गुजरात में दिल्ली से अलग मुसलमानी राज्य कायम हुआ तो

१—गणपति जानकी राय-'गुजराती का हिंदी में संबंध, (षष्ठ हिन्दी सा० स० कार्य वि० द्वि० भा०)

२—मथुरादास-खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास

अहमदाबाद के बादशाह अहमदशाह आदि के साथ, जो हिंदी बोलते थे, इसका सर्वत्र व्यापक प्रचार हुआ। अहमदशाह का गुजरात पर शासन स्थापित होने के बाद खड़ी बोली में तमाम पद्य रचनायें मिलने लगती हैं। जैसे किशोरीदास (स० १८२७) कृत अहमदाबाद का वर्णन यहाँ उद्धृत किया जा रहा है:—

धन धन कहे दलीपहि, अहमदशाह पादशाहा,
राजी का रंगमहल बनावे, साजा ना बाजा।
सवालाख घोड़े को रोजी का सरभाव दिया।
आप खुश हुये देख के तब बादशाही बाग किया[१]।

इनके अलावा मानसिह, अमर सिंह, दीनदर्वेश आदि की रचनायें भी मिलती हैं। गुजरात में हिंदी प्रचारक और खड़ी बोली हिन्दी कविता की समृद्धि करने वाला सोलहवीं शताब्दी में एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय 'दादू दयाल का दादू पंथ' था। 'दादू' बड़े प्रभावशाली संत थे। ये अहमदाबाद के रहनेवाले थे। इनकी रचनाओं में यत्र-तत्र खड़ी बोली के उदाहरण मिलते हैं यथा—

दादू विरह अगनि में जलि गये, मन के मैल विकार।
दादू विरही पीव का देखेगा दीदार ॥ १४१ ॥
जब बिरहा आया दरद सों, मीठा लागा राम।
काया लागी काल है, कड़वे लागे काम ॥ १४३ ॥[२]

दादू की शिष्य परंपरा में रज्जब, सुन्दरदास, मोहनदास आदि अनेक प्रसिद्ध संत हुए। इन लोगों की खड़ी बोली की पद्य रचनायें पर्याप्त मात्रा में मिल चुकी हैं। इन संतों की परंपरा में सुन्दरदास का व्यक्तित्व, उनकी शारीरिक सुन्दरता, उच्च वंश परंपरा तथा उचित शिक्षा के कारण अन्य संतों से कुछ विशिष्टता रखता है। इन्होंने दर्शन एवम् काव्य शास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था। इनकी भाषा में काव्य भाषा के अलावा खड़ी बोली और राजस्थानी का मेल है। इनकी रचना से एक उदाहरण उपस्थित है—

१—भास्कर रामचन्द्र भालेराव—'गुजरात का हिन्दी साहित्य' (माधुरी वर्ष ५ खं० २)

२—दादू की बाणी (संपादक-मंगलदास स्वामी, प्रथम संस्करण पृ० ७९)।

क्या दुनिया अस्तुति करैगी, क्या दुनिया के रूसे से।
साहिब सेंती रहो सुरखरू, आतम बख्से ऊमे से।
जन सुन्दर अलमस्त दीवाना सबद सुनाया घूँसे से।
मानूँ तो मरजाद रहेगी नहिं मानूँ तो घूँसे से।

पंजाब

नाथ संप्रदाय के संतो ने ही पंजाब में भी सर्वप्रथम खड़ी बोली का प्रचार किया। सिद्ध बाला नाथ की खड़ी बोली की रचनायें मिली हैं। 'बालानाथ के टीले' की पंजाब में बड़ी प्रसिद्धि है। इनका समय विक्रम की चौदहवीं शती का पूर्वार्द्ध माना गया है। इनकी रचना की दो पंक्तियाँ देखिये—

पहिले किये लड़का लड़की, अबही पथ में पैठा।
बूढ़े चमड़े भसम लगाई बज्र जती है बैठा।[२]

नाथों के अलावा महानुभाव पंथ के संतों ने भी पंजाब में अपने मत के साथ खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार किया। पंजाब में महानुभाव पंथ का प्रचार करनेवाले प्रथम सत कृष्णमुनि की रचनाओं में खड़ी बोली का स्पष्ट प्राधान्य है। शायद यह इनकी दकन यात्रा का फल हो।

सिक्ख गुरुओं ने भी पजाब में हिन्दी को बड़ा प्रोत्साहन दिया। उनकी वाणियाँ अधिकतर हिन्दी ही मे हैं। उनके नित्य पारायण के धर्म ग्रन्थ अकाल स्तुति, चडी चरित्र आदि तक हिन्दी में हैं। आदि ग्रन्थ में लिखा है कि 'श्रीगुरुजी संस्कृत और हिन्दी भाषा का उत्कृष्ट प्रचार चाहते और करते थे।' उन्हे इस बात का दुख था कि

खत्री जात धर्म छोडा म्लेच्छ भाषा गही।
सृष्टि सब इक वर्ण होई, धर्म गत रही। (आदिग्रंथ मं० १ शब्द ८)

नानक और उनके पीछे बहुत काल तक सिक्ख धर्म ग्रन्थ नागरी लिपि और हिन्दी भाषा में, लिखे जाते रहे, पीछे संघटन के ख्याल से पंजाबी या गुरुमुखी लिपि स्वीकार की गई। सिक्खों के सब के सब धर्म गुरु कवि थे। उनकी हिंदी में पंजाबीपन होते हुए भी अरबी फारसी की गन्ध नहीं है। हाँ, ब्रजभाषा का पुट अवश्य अधिक है। आदि गुरु नानक का जन्म

१–ब्रजरत्नदास–खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ८३।
२–वही पृ० ५८।

समय छज्जू सिंह ने अपनी पुस्तक 'टेन गुरु ऐंड देयर टीचिंग्स' में सम्वत् १५२६ निर्धारित किया है। यों तो सभी गुरुओं की कवितायें उपलब्ध हैं पर दसवें गुरु गोविन्द सिंह की अनेक प्रौढ़ रचनायें साहित्यिक हिंदी में मिलती हैं। इन्होंने अपनी 'चडी दीवार' नामक पंजाबी रचना में सम्भवतः सर्वप्रथम अन्त्यानुप्रास रहित अमात्रिक छंद का प्रयोग किया। नवें गुरु के शीस समर्पण पर इनकी एक उक्ति है—

तिलक जयू राखा प्रभु ताका, कीनो बड़ो कलू में सांका।
साधुन हेतु इति जिनकरी, सीस दिया पर सी न उचरो।

सिक्खों की गुरु-गद्दी के लिए सदैव का कलह समाप्त करने के विचार से इन्होंने परलोक प्रयाण के समय एक सार्वजनिक सभा में ग्रन्थ साहब की पूजा करके कहा कि अब से ये ही तुम्हारे गुरु स्वरूप होंगे। वह प्रसिद्ध आज्ञा खड़ी बोली ही में है—

आज्ञा भई अकाल, तभी चलायो पंथ।
सब सिक्खन को हुकुम है, गुरु मानिये ग्रन्थ।[1]

सिन्ध

मुहम्मद कासिम ने सं० ७६८ में सिन्ध विजय किया। परन्तु दफ्तरों में हिसाब किताब रखने की परम्परा को पूर्ववत हिन्दी में रहने दिया। माल का दफ्तर ब्राह्मण हिन्दी में चलाते थे। सिकन्दर लोदी के समय तक वह परम्परा बनी रही। बाद में फारसी का आग्रह बढ़ा। सिन्ध सूफी सन्तों का घर है। ये सदा से हिन्दू मुसलिम भेद का विरोध करते रहे हैं। मुसलमानी शासनकाल में यहाँ के हिन्दुओं को मुसलमान भी बनाया गया फिर भी मुहम्मद के साथ उन्हें राम और कृष्ण बराबर याद रहे। सूफियों में 'रूहल' सिन्ध का प्रसिद्ध सन्त हुआ। उसकी शिष्य परम्परा बहुत प्रचलित हुई। इसने अठारहवीं शती में 'मनचित परबोध' नामक सुन्दर काव्य हिन्दी में लिखा है। इसमें कहीं कहीं स्पष्ट खड़ी बोली का प्रयोग हुआ है। जैसे—

प्रभु जी मैं शरन तुम्हारी आया।
मन में ममता रहे न कोई, दर्द मिटा सुख पाया।

१—शिवपूजन सहाय—सिक्ख गुरु और हिन्दी, माधुरी वर्ष १, सं० २ पृ० १५९-६०।

ज्ञान सूरज घट नेत्र समाया, अखंड ज्योति रंग लाया।
जिसके कारण फिरत उदासी, सो घट अन्दर पाया।

❀ ❀ ❀

'रूहुल' रतन अनमोल पाया, भाव परापत होया[1]।

रूहुल के पूर्व शाहअब्दुल करीम और उसके पश्चात् उसके शिष्य मुराद आदि की हिन्दी रचनाओं के उदाहरण मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सिन्ध में भी प्राचीन समय से हिन्दी का प्रचार था।

उड़ीसा म श्री ब्रजनाथ बडजेना ने सन् १७८० के आसपास 'समर तरंग' की रचना की। इसका चतुर्थ अध्याय प्रायः पूरा ही हिन्दी में है। १८ अठारहवीं शती में हिन्दी के क्षेत्र के बाहर हिन्दी किस रूप में प्रचलित थी यह निम्नाङ्कित नमूने से स्पष्ट हो जायगा। हिन्दी प्रदेश में इसे साहित्यिक भाषा का गौरव नहीं मिला परन्तु बाहर खड़ी बोली ही हिन्दी का प्रतिनिधित्व कर रही थी, यथा:—

अब सब सरदार विचारो। एक ठा रगड हाथ न आया।
भले भले तुम यारा।
ढाल ढाल भर पैसे लेके कोई अब मार दा किल्ला।
थोडा गड टूक लडने नाहीं क्या करूँ जाके बगाला।[2]

हिन्दी प्रदेश —

उत्तर भारत के हिन्दी प्रदेश में प्राचीन काल से काव्य भाषा का सम्मान देववाणी संस्कृत को प्राप्त था। संस्कृत धर्म भाषा थी, और पवित्र देववाणी समझी जाती थी। कविता की भाषा भी पवित्र और अलौकिक होनी चाहिए। इसलिए संस्कृत में ही कविता करने की परम्परा थी। हिन्दी काव्य को पढने लिखने वाले संस्कृत ज्ञान विहीन साधारण जन होते थे। यही धारणा रीतिकाल तक बनी रही। विद्वान् कवि हिन्दी में काव्य रचना अपना असम्मान समझते थे तभी तो 'केशव' ने कहा था—

१—श्री कृष्ण टोपणलाल जेतली-'सिन्धु के विस्मृत हिन्दी कवि' (सम्मेलन पत्रिका भाग ३६, स० २००६ पृ० ३९०)

२—श्री घनश्यामदास-'समरतरंग' (नागरी प्र० पत्रिका सं० २०११ अंक ३-४)

भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भा मंदमति, तेहि कुल केशवदास।
(कविप्रिया)

यदि किसी कवि ने हिन्दी मे रचना की भी तो पंडित समाज में उसका घोर विरोध हुआ। संस्कृत विद्वान् 'तुलसी' ने जब उच्च कोटि का भक्ति काव्य अवधी में लिखा तो संस्कृत के विद्वानों ने यहाँ तक कह डाला कि तुलसी कृत 'मानस' तो शंभु कवि के संस्कृत 'रामचरित मानस' का भाषानुवाद मात्र है[1]। ऐसी स्थिति में काव्य भाषा की परम्परा को तोड़कर हिन्दी में रचना करनेवाले स्वतंत्र विचार के मनीषी ही होते थे। इससे पूर्व राजपूत काल में राजाश्रय मिलने के कारण राजस्थानी को काव्य भाषा का गौरव मिल गया। इस परम्परा को तोड़ने वाले प्रथम फक्कड़ संत कबीर हुए। भाषा के संबंध में उनकी उक्ति प्रसिद्ध ही है 'कबिरा संस्कृत कूप जल भाषा बहता नीर'। इन्होंने नाथ और सिद्ध सम्प्रदायों के आधार पर सामयिक परिस्थितियों के अनुसार अपना नया पथ चलाया जिसका प्रचार जनसाधारण में अधिक हुआ। पंडितों पर उस समय न तो उनके पथ का प्रभाव पड़ा न उनकी भाषा पर उन लोगों ने कुछ ध्यान ही दिया। ये संत स्वभावतः पर्यटक थे और इनकी भाषा में खड़ी बोली, राजस्थानी, पंजाबी और गुजराती का मेल है। यद्यपि इनकी भाषा किसी प्रान्त विशेष की भाषा नहीं है परन्तु उसका ढाँचा खड़ी बोली का है। इनके साखियों में विशेष रूप से खड़ी बोली का प्रयोग मिलता है। परन्तु पदों की भाषा में व्रज और पूर्वी का मिश्रण अधिक है। इनकी प्रसिद्ध साखी में खड़ी बोली का स्पष्ट स्वरूप देखिये—

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनका छाड़ दे, मन का मनका फेर॥

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने इनके निम्नलिखित रेखते को प्रथम रेखता मानकर कबीर को रेखते का प्रवर्तक कहा है'—

'फहम फहम कर मान यह
फहम बिन फिकिर नहिं मिटे तेरी।

१—जी० ए० ग्रियर्सन-रायल एशियाटिक सोसायटी जरनल, जनवरी १९१३।

सकल उजियार दीदार दिल बीच है।
जौक और शौक सब मौज तेरी[1]।

इस संत परम्परा में रैदास, सदन, धन्ना, पीपा आदि अनेक प्रभावशाली सन्त और कवि हुए हैं। इनके रचे पद साखी आदि पर्याप्त प्राप्त हुए हैं जिनमें खड़ी बोली के प्रचुर प्रयोग दिखाये जा सकते हैं। १७ वीं शताब्दी में निरञ्जन सम्प्रदाय के महात्मा निपट निरञ्जन ने अधिकतर पद खड़ी बोली ही में रचे। ये काशी में रहते थे और काशी के सम्बन्ध में इनकी निम्नलिखित उक्ति प्रसिद्ध है—

निपट निरंजन सब दुख भंजन शहर बनारस परियों का'

इन रमते जोगियों और सन्तों ने दूर दूर प्रान्तों में घूमकर अपने मत का प्रचार किया। इसके साथ हिन्दी, गढ़वाल, कुमायूँ और नेपाल के पहाड़ी प्रान्तों में भी फैली। गढवाल के कवि और प्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम की खड़ी हिन्दी पद्य की एक रचना इस कथन की पुष्टि में उद्धृत कर रहा हूँ—

काहूँ सों बकवाद नहीं हम करें करावें।
मनमथ पंथी होय आपनों मन समझावें।
कहा वाद में स्वाद जो हम काहूँ सो बादे।
जो सज्जन कुलवंत संत सो मन को साधें।
मोलाराम विचार कही सुनो पंथ प्रवीन तुम।
भए भक्त जग माँह जे सब दासन के दास हम[2]।

राजपूतों के ह्रास के बाद हिन्दू काव्यधारा ने मुसलमानी शासन काल में धर्म का आश्रय लिया। साहित्य की भाषा का धर्म से विशेष संबंध रहता है। वैष्णव धर्म के पुनरुत्थान काल में हिन्दू काव्य धार्मिक स्थानों, मंदिरों और उनके महन्तों का आश्रित हुआ। भगवान के लोकरंजनकारी अवतार कृष्ण को काव्य का केन्द्र बनाया। उनकी लीलास्थली व्रजभूमि धर्म का केन्द्र तथा व्रजभाषा धार्मिक व्रज साहित्य की प्रमुख भाषा हो गई। मध्यदेश के शक्ति-

१—रामनरेश त्रिपाठी—खड़ी बोली कविता का संक्षिप्त परिचय।
२—व्रजरत्नदास—खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १२६।

शाली राज्य शूरसेन की राजभाषा और काव्य भाषा शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित होने के कारण ब्रजभाषा का महत्व और भी अधिक था। साहित्य के क्षेत्र में भक्ति-आन्दोलन से लेकर हरिश्चंद्र के पूर्व तक बराबर ब्रजभाषा का प्राधान्य रहा। प्रेममार्गी सूफी संतों और राम भक्तों ने राम की मातृभाषा अवधी को काव्यभाषा के रूप में स्वीकार किया। परन्तु साहित्यिक क्षेत्र में खड़ी बोली कुछ विशेष सम्मान की दृष्टि से नहीं देखी जा सकी। राजनीतिक दृष्टि से हिन्दी का भक्तिकाल मुगलों का शासन काल है। इनके प्रभाव से खड़ी बोली का प्रचार तथा प्रयोग बन्द नहीं होने पाया। बल्कि ब्रजभाषा के प्रमुख कवि 'सूर' तथा अन्य कवियों में खड़ी बोली के प्रयोग दिखाये जा सकते हैं। भक्तों में मीरा की कविता में खड़ी बोली की पंक्तियाँ अधिक मिलती हैं। यथा—

> कोई दिन याद करोगे रमता राम अतीत।टेक।
> आसण माण अडिग होय बैठा, याही भजन की रीत।
> मैं तो जाँणू संग चलेगा, छाड़ गया अधबीच।
> आत न दीसे जात न दीसे, जोगी किसका मीत।
> मीरा कहै प्रभु गिरिधर नागर, चरणन आवे चीत[1]।

विक्रम की सोलहवीं शती के एक अन्य वैष्णव भक्त कवि माधोदास का एक स्पष्ट खड़ी बोली का पद नीचे दिया जा रहा है। ये शायद जगन्नाथ-पुरी में बस गये थे। उसके संबंध में लिखते हैं—

> जगन्नाथ जगत में न्यारा है।
> सुन्दर मन्दिर रतन सिंघासन जगमग जोति उजियारा है।
> देस देस के जात्री आये खोलो रतन किवारा है।
> सावरी सूरत माधुरी मूरत बड़ी बड़ी अंखियन वारा है।
> लीलाचक्र पर ध्वजा बिराजै मस्तक सोहै हीरा है।
> मधु मेवा पक्वान मिठाई लक्ष्मी आप संवारा है।
> 'माधोदास' आस चरनन का, चरन कमल बलिहारा है[2]।

१—मीराबाई की पदावली—(सं० परशुराम चतुर्वेदी, संवत् २००४ पद संख्या ५६, पृ० ३०)

२—ब्रजरत्नदास—'खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ११३।

सम्राट अकबर के दरबारी और सेनापति रहीम कवि का प्रसिद्ध खड़ी बोली का रेखता भी उद्धरणीय है—

> कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
> चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था।
> पकरि परम प्यारे साँवरे को मिलाओ।
> असल अमृत प्याला क्यों न मुझको पिलाओ।

अकबर के दरबार में नरहरि, तानसेन, गग आदि अनेक हिन्दी के कवि रहते थे और उनके थोड़े बहुत खड़ी बोली के पद्य भी मिले हैं।

भक्त कवियों के बाद तो हिन्दी कविता की सीमा और भी सकीर्ण तथा रूढिबद्ध हो गयी। विषय के नाम पर कृष्ण की शृंगारिक लीला, नायक नायिका भेद और नखशिख तथा भाषा के नाम पर कृत्रिम ब्रजभाषा (साहित्यिक) के अलावा किसी प्रकार की नवीनता सम्पूर्ण रीतिकाल भर में नहीं दिखाई पड़ती। रीतिकाल की साहित्यिक ब्रजभाषा में अनेक प्रचलित भाषाओं का मिश्रण था। शब्दो की तोड़मरोड़ भी खूब होती थी। फिर भी इस काल में बहुत से कवियों ने खड़ी बोली में स्फुट रचनायें कीं, जिनमे कुलपति (स० १७२७ वि०) सूदन (स० १८३०) आलम, शेख, नागरीदास, रसिक गोविन्द, ग्वाल, ललित किशोरी, ललित माधुरी और मुसलमान कवियों में रसरग, कारेखा, तुराब, तालिब अली, जफर तथा अख्तर विशेष स्मरणीय हैं। इनके अलावा रीतिकाल में कुछ ऐसे भी कवि हैं जिन्होंने खड़ी बोली में किसी सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इनमें घनानद, रघुनाथ, वेनी, शीवल आदि के स्वतन्त्र खड़ी बोली के काव्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

घनानद (स० १७४६-१७९६) ने खड़ी बोली में 'निरहलीला' ग्रन्थ की रचना का। इन्होंने सर्वप्रथम उर्दू के छन्दों का हिन्दी में प्रयोग किया। इनकी भाषा का उदाहरण देखिये—

> सलोने प्रान प्यारे क्यों न आवो।
> दरस प्यासी मरैं तिनको जिवावो।
> कहाँ हौ जू, कहाँ हौ जू, कहाँ हौ।
> लगे ये प्रान तुमसे हैं जहाँ हौ।[1]

१—रामचन्द्र शुक्ल-'हिंदी साहित्य का इतिहास' पृ० २९९ पर उद्धृत।

रघुनाथ ने (सं० १७९०-१८१०) अपना 'इश्क महोत्सव' ग्रन्थ खड़ी बोली में लिखा।

बेनी के भड़ौवा संग्रह तृतीय भाग की भाषा प्रायः खड़ी बोली हिन्दी ही है। इनका 'आलसी गजल' उद्धृत किया जा रहा है—

दुनियाँ में हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पर उठ के कहीं जाना नहीं अच्छा।
टेढ़ो न मक्खी पा है मिटाना नहीं अच्छा।
बन्दर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।
उठ करके घर से कौन चले यार के दर तक।
मौत अच्छी है पर दिल का लगाना नहीं अच्छा।
धोती भी पहने जबकि कोई और पिन्हा दे।
उमरा को हाथ पैर चलाना नहीं अच्छा।
सर भारी चीज़ है इसे तकलीफ हो तो हो।
पर जीभ बिचारी को हिलाना नहीं अच्छा[1]।

महतान के 'नखशिख' की भाषा भी खड़ी बोली ही है।

नजीर (मृत्यु सन् १८३० ई०) ने गिरहबन्द नजीर, आटादालनामा, हंसनामा और चूहेनामा सब खड़ी बोली में लिखा। इनकी भाषा में चलते उर्दू के शब्दों और छन्दों का प्रयोग किया गया है। 'आटादालनामा' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

जिस पास चार पैसे वही हैं यहाँ अमीर।
और जिनके पास कुछ नहीं वह हैं बड़े फकीर।
और जितने पैग़म्बर हैं सभी खुर्द या कबीर।
रोटी का सिलसिला है बड़ा क्या कहूँ नज़ीर।
सब छोड़ो बात तूती व चिड़ी व लाल की।
यारो कुछ अपनी फिक्र करो आटे दाल की[2]।

१—भड़ौवा संग्रह तृतीय भाग-(नकछेदी तिवारी, द्वि० संस्करण पृ० ६१)।

२—नजीर-'आटादालनामा' (सं० १६५६) पृ० ५।

इस सम्पूर्ण काल मे महंत शीतलदास ही एक ऐसे कवि हुए जिन्होंने व्रजभाषा में सम्भवतः कोई पद्य रचना नही की। इनकी सम्पूर्ण रचनायें खड़ी बोली में है। फारसी और संस्कृत के विद्वान होने के नाते फारसी अरबी के अधिक प्रयोग उनकी काव्य भाषा में दिखाई पड़ते हैं। इसलिए कुछ विद्वान इनकी भाषा को खड़ी बोली मानने में हिचकते हैं। पर सस्कृत के भी बहुत से ऐसे प्रयोग इन्होंने किए हैं जो उर्दू मे सम्भव नहीं हैं। वस्तुतः सस्कृत या अरबी-फारसी ऊपर से मिली है, मूल भाषा खड़ी बोली ही है। इन्होंने 'गुलजार चमन', 'आनन्द चमन' और 'विहार चमन' की रचना की। 'गुलजार चमन' के प्रारम्भ मे स्वामी हरिदास की स्तुति है जो इनकी गद्दी के प्रथम महंत थे। गुलजार चमन के मूलपाठ का प्रारभ निम्नलिखित पद्य से होता है—

समझत ही सब दुख दूर करै गम से पावै विश्राम अमन।
फिर इश्क मजाज हकीकी का दिल सेती परदा होय दमन।
सुर नर किन्नर की कौन गिनै देखें प्रसन्न ह्वै रमारमन।
इस हुस्न बगीचे का बूग है शीतल का गुलजार चमन[1]।

खड़ी बोली के आरम्भिक कवि की भाषा में इतनी सरसता देखकर आनन्द होता है। इनकी भाषा बहुत ही प्रवाहमयी है। संस्कृत-बहुल भाषा का भी एक उदाहरण देखिये—

मुख शरद चंद्र पर श्रम सीकर जगमगें नखत गन जोती से।
कै दल गुलाब पर शबनम के हैं कनिका रूप उदोती से।
हीरे की कनियाँ मंद लगे हैं सुधा किरन के गोती से।
आया है मदन आरती को धर हेम थार पर मोती से।[2]

स्फुट पद्य रचना करने वालों में 'सूदन' ने अपने काव्य ग्रन्थ 'सुजान चरित्र' (रचना स० १८१०) में युद्ध की विभीषिका से त्रस्त यावनानियों के विलाप की भाषा में खड़ी बोली का प्रयोग इस प्रकार किया है—

१—सीतलदास-'गुलजार चमन' प्रथम सस्करण, श्याम काशी प्रेस, मथुरा पृ० १।

२—वही पृ० १२१।

महल सराइ सैरवाने यूभा बूदू करो मुर्दे,
अपमोच घड़ा बड़ी बोधी जानी का ।
आलम में मालुम चकत्ता का घराना यारो,
जिसका हवाल है तनैया जैसा तानी का ।
खने खाने बीच सैं अमाने लोग जाने लगे,
आफत ही हुआ जानो ओज दहकानी का ।
रब की रजा है हमें सहना बजा है वक्त,
हिन्दू का गया है आया ओर तुरकानी का[1] ।

आलम शेख ने अपने पद्य ग्रन्थ 'आलम केलि' में 'रेखता छंद' शीर्षक से पाँच छन्द (२६६-२७३) खड़ी बोली हिन्दी में रचे हैं। उनमें अरबी फारसी शब्दों का अधिक प्रयोग है।

कृष्णगढ़ नरेश सावंत सिंह 'नागरीदास' ने अपने 'नागरसमुच्चय' में खड़ी बोली का प्रयोग दोहे-छंद में निम्नलिखित रूप से किया है—

रस उरझो निसि श्याम सौं आरस उरझे चैन ।
तेरी उरझी अलक में मेरे उरझे नैन ॥

संवत् १७०० के आसपास 'ताज' कवियित्री ने पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली में कृष्ण प्रेम-परक बड़ी सरस काव्य रचना की, उसकी कविता में रसखानि जैसी तन्मयता देखिये—

सुनो दिलजानी मेड़े दिल की कहानी,
तु हस्म ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं ।
देवपूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं ।
स्यामला सलौना सिरम सिरताज,
कुल्लेदार तेरे नेह दाग मैं निदाघ ह्वै सहूँगी मैं ।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै,
तांण नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं ।[2]

१—रसूल-'सुकवि', [illegible] संक पृ० १५५ ।

२—मिश्रबन्धु-'हिन्दी के मुसलमान कवि' (मर्यादा १९११ ई० पृ० २०५)

इनके अलावा ग्वाल, ललित किशोरी और ललित माधुरी, विद्यारण्य-तीर्थ (समय सन् १८४१ संक्षेप रामायण), लल्लूजी लाल और गिरिधर दास की खड़ी बोली में स्फुट पद्य रचनायें मिलती हैं। रसिक गोविन्द ने अपने 'अष्टदेशभाषा' में और वत्सराज त्रिपाठी 'प्रेमरंग' ने अपने ग्रन्थ में अन्य भाषाओं के साथ ही खड़ी बोली का भी प्रयोग किया जो ब्रज, अवधी आदि से इसकी स्वतन्त्र सत्ता का स्पष्ट प्रमाण है।

इन उदाहरणों से खड़ी बोली के प्राचीन अस्तित्व और अन्य भाषाओं के समान अपभ्रंशों से उसके भी स्वतन्त्र उत्पत्ति का प्रमाण तो अवश्य मिलता है परन्तु किसी धारावाहिक काव्य परम्परा के अभाव में यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसे बीसवीं शताब्दी के पूर्व न तो काव्य भाषा का गौरव मिला था और न उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के पूर्व इसे काव्य भाषा बनाने का कोई आग्रह ही किया गया। ब्रज भाषा ही काव्य भाषा के रूप में हिन्दी क्षेत्र में सर्वत्र प्रयुक्त होती रही। इसके कई कारण हैं जिनमें प्रधान कारण वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान है। कृष्ण भगवान के सम्पूर्ण अवतार माने गये और उनकी लीलाभूमि तथा वहाँ की भाषा का महत्व बहुत बढ़ गया। सभी कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण की उसी प्यारी बोली में अपना कीर्तन-भजन आरम्भ किया जिसमें कभी कृष्ण ने ठुनक कर माखन रोटी मांगा होगा। यह विश्वास यहां तक दृढ़ हो गया था कि वैष्णव मंदिरों में बहुत पीछे तक यह नियम रहा कि गोपाल की सेवा के समय भक्त ब्रजभाषा का ही व्यवहार करें चाहे वे किसी प्रान्त के हों। अतः धर्म के साथ ब्रजभाषा का सम्बन्ध जुड़ जाने से वह काव्य की पवित्र भाषा हो गई।

दूसरी तरफ खड़ी बोली का संसर्ग मुसलमानों से जुड़ जाने के कारण हिन्दुओं ने अपने पवित्र साहित्य से इस भाषा का सतर्कतापूर्वक बहिष्कार किया। नाटकों या काव्यों के यवन पात्र और इस प्रकार के अन्य प्रसंगों पर ही खड़ी बोली का प्रयोग किया जाता था। भूषण ने 'शिवाबावनी' में बेगमों की विपद का वर्णन स्वाभाविकता की दृष्टि से खड़ी बोली में किया। हिन्दुओं की यह धारणा सोलहों आने निर्मूल नहीं थी। खड़ी बोली के सार्वजनीन प्रचलन का बहुत श्रेय मुसलमानों को है। इसके आरम्भ में अधिकतर उन्हीं की रचनायें भी मिलती हैं। खड़ी बोली प्रारम्भ में बोल-

चाल, कामकाज एवम् व्यवहार की भाषा के रूप में ही प्रचलित हुई थी'[1]। इसमें काव्यभाषा की गम्भीरता एवं मृदुता का विकास नहीं हो पाया था। अतः साधारण विषयों पर ही खड़ी बोली में पद्य रचना होती थी। यह परम्परा हरिश्चन्द्र काल तक बनी रही और साधारणतया चूरन-चटनी वालों के लटके, डोम डाकिनी आदि शूद्र पात्रों के संवाद और ग्राम साहित्य में ही इसका प्रयोग अधिक होता था। तात्पर्य यह कि जब कविगण सामान्य जनों के हेतु सरसता छोड़कर सरलता से सम्बन्ध जोड़ते थे तभी खड़ी बोली का प्रयोग करते थे। .

इसके अलावा खड़ी बोली के काव्य में प्रयुक्त न हो सकने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि जिस प्रकार दिल्ली और कन्नौज के अधीश्वरों के पारस्परिक विग्रह के कारण भारत में मुसलमानों का आधिपत्य जमा उसी प्रकार इन स्थानों की भाषाओं—खड़ी बोली और ब्रजभाषा—की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण मुसलमानी हिन्दी (उर्दू) को उन्नत होने का अवसर मिला और बाद में उसे राजाश्रय मिल गया। धर्म का आश्रय पकड़ कर ब्रजभाषा काव्य की भाषा बनी और राजाश्रय प्राप्त कर 'उर्दू' समृद्धिशालिनी हुई पर 'खड़ी बोली' केवल लोकाश्रय में रहकर बोलचाल व दैनिक व्यवहार की भाषा ही बनी रह गई। इसे काव्यभाषा या राज्यभाषा का गौरव नहीं मिल सका।

---

१ 'It grew up as a linguafranca in the poli got Bazar attached to the Delhi Court and was carried every where in India by the Leutinants of the Moghal Empire......'

Grierson—A Linguistic Survey of India Vol. IX part I p. 44.

द्वितीय अध्याय

खड़ी बोली आंदोलन की पूर्वपीठिका (गद्य)

हिंदी गद्य की परंपराः-

मनुष्य के सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार गद्य के माध्यम से ही सम्पादित होते हैं। गद्य का अर्थ ही होता है 'कही जाने वाली बात'। परन्तु साहित्य में प्रायः पद्य ही पहले देखा जाता है। लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व हिन्दी साहित्य में गद्य का अभाव सा था। वैद्यक, ज्योतिष जैसे उपयोगी साहित्य भी अधिकतर छन्द बद्ध ही मिलते हैं। राजस्थानी के कतिपय दान पत्रों और राजाज्ञाओं तथा ब्रजभाषा की कथा वार्ताओं में ही सम्पूर्ण प्राचीन गद्य साहित्य सीमित है। गद्य के अभाव का एक प्रधान कारण मुद्रण यन्त्रों का अभाव है। लोगों को विवश होकर बहुत कुछ साहित्य कंठस्थ रखना पड़ता था। गद्य की अपेक्षा तुक, लय आदि के कारण पद्य का कंठस्थ करना सरल होता है। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व गद्य साहित्य का समुचित विकास नहीं हो सका।

पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि बोल चाल की भाषा के रूप में खड़ी बोली बहुत ही व्यापक एवं प्राचीन भाषा थी परन्तु अनेक कारणों से ब्रजभाषा के सामने इसे साहित्यिक गौरव नहीं मिल सका। परंतु बातचीत, व्यवहार और कामकाज की भाषा के रूप में इसका जो बहुत व्यापक तथा प्राचीन प्रयोग हो रहा था, उसके समर्थन में प्राचीन गद्य साहित्य से कुछ प्रमाण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

प्राचीन गद्य साहित्य—प्राचीन अपभ्रंश की अपेक्षा परवर्ती अपभ्रंश में गद्य की रचनायें अधिक दिखाई पड़ती हैं। प्राचीन अपभ्रंश की एक प्रसिद्ध रचना कुवलय माला कथा में कुछ गद्य का भाग है। इसके अलावा परवर्ती

अपभ्रंश में ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की कीर्तिलता मे पूर्वी प्रयोग ही अधिक हैं। कुवलय माला में बाजार का एक दृश्य वर्णित है जहाँ भिन्न भिन्न प्रान्तों के वणिक अपनी दूकान सजा कर बैठे हैं और ग्राहकों को अपनी ही भाषा मे बुलाते हैं। इससे विभिन्न प्रान्तो की प्रचलित भाषा-बोली का आभास मिलता है। मध्य देश के वणिक की भाषा के संबंध में कथाकार ने लिखा है—

> णय-णीति-संधि विग्गह पडुए बहुजपिता पयती ए।
> 'तेरे मेरे-आउ' त्ति जंपिरे मज्झदेसे य[1]।

अर्थात् मध्यदेश का वणिक ग्राहकों का तेरे, मेरे, आवो इत्यादि कहकर पुकारता है। खड़ी बोली का सम्भवतः यह प्राचीनतम उदाहरण है। इस उद्धरण से यह एक महत्वपूर्ण बात सिद्ध होती है कि यही भाषा उस समय (वि० सं० ८३५) समस्त मध्यदेश के शिष्ट वर्ग के बोलचाल की भाषा थी। तत्कालीन मध्यदेश के अन्तर्गत वर्तमान पजाब के पूर्वी भाग से लेकर अयोध्या और प्रयाग तक तथा हिमालय से लेकर बुंदेलखंड तक का सम्पूर्ण भूभाग सम्मिलित था। मध्यदेश की भाषा होने के कारण इसका अन्तर्प्रान्तीय प्रचार हो गया था। क्योंकि व्यापार, धर्मयात्रा, राजनीतिक संबंध आदि अनेक कारणों से इस महत्वपूर्ण केन्द्रीय प्रान्त में भारत के सभी प्रांतो से लोग आते रहते थे और यहाँ की भाषा सीखते समझते तथा अपने साथ उसका पड़ोसी प्रान्तों में प्रचार करते थे। मध्यदेश के अलावा अन्य प्रांतों में भी बातचीत और कामकाज की भाषा के रूप में इसका प्रयोग होता था। राजस्थान, दकन, आदि प्रांतों में प्राप्त उदाहरणों द्वारा इस कथन की पुष्टि होती है। प्रायः बारहवीं शताब्दी के राजस्थानी परवानों और दानपत्रों की भाषा में खड़ी बोली की क्रियायें लाया, लेवेगा, देवेगा, करेगा, चला जायेगा और 'माल की बाकी है' आदि प्रयोगों का पाया जाना इसकी व्यापकता तथा लोकप्रियता का प्रमाण है। यद्यपि इन राजस्थानी गद्य खडों और ब्रजभाषा की वार्ताओं की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता अब सदिग्ध हो उठी है परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि मुसलमानी संपर्क का प्रभाव

१—अगरचन्द नाहटा—हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, स्थान व समय (ब्रज-भारती, सं० २००४ वि० अंक ६, पृ० ७)।

हमारी बोलचाल की भाषा पर पड़ने लगा था और शासक तथा शासितों के बीच बोलचाल की भाषा होने के कारण खड़ी बोली के अनेक शब्द क्रमशः लोकप्रचलित हो रहे थे। और लेखकों की गद्य भाषा में उनका स्वभावतः प्रयोग बढ रहा था।

आरम्भिक गद्य लेखकों में गुरु गोरखनाथ की गद्यभाषा में खड़ी बोली के प्रयोग अधिक मिलते हैं। मिश्रबन्धुओं और मुशी देवीप्रसाद मुंसिफ ने गोरखनाथ के 'गोरख बोध', 'काफिर बोध', 'नरवे बोध' आदि गद्य ग्रन्थो की भाषा का पूर्णतया खड़ी बोली ही बताया था। राजकीय अमलों और व्यापारियों के अलावा इन्हीं धर्म प्रचारकों ने खड़ी बोली के प्रसार और प्रचार मे सबसे अधिक योग दिया। यह सच है कि गोरखनाथ के नाम पर बहुत सी पुस्तकें चल पड़ी हैं फिर भी उनमें से कुछ बहुत ही प्राचीन हैं। 'गोरखशत' नाम का एक हस्तलिखित पुस्तक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की कृपा से मुझे देखने को मिली। इसका हस्तलेख ही स० १७३१ का है[1]। इसके टीकाकार का नाम अज्ञात है परन्तु प्राचीनता की दृष्टि से इसकी भाषा का बहुत महत्व है। थोड़ी सी पक्तियाँ नमूने के लिए उद्धृत कर रहा हूँ—

'गोरखनाथ जो सो योगिहून का जो इष्ट कहत हैं। का करिकै, गुरु कहंभक्तिपूर्वक नमस्कार करिकै। इष्ट कस हैं जिन्हें ते उत्तम ज्ञान होइ अवर परमानद कर कहे। श्री गोरखनाथ योगिहून को हित कामना करि योग शतक कहत है[2]।'

प्रायः सोलवहीं शती मे रचित 'नवबोली छद' नामक रचना मे संघपती दारा के पुन जैदे ने गुजराती, जैसलमेरी, मुल्तानी, पूर्वी, तिलगी, दिल्ली की और खुरासाण आदि की बोली के ११ उदाहरण दिए हैं। दिल्ली की बोली का उदाहरण इस प्रकार है—

'सातमी बोली। अरी हूँ लखिउ सु कहती हूँ। शहर दिल्ली कइ काग

१—'इति गोरखशत समाप्त' सवद् १७३१ शुभमस्त। लिखितमिद पुस्तकं प्राणनाखेन : श्रीकृष्णायनम.। गाविन्दायनमः। रामायनमः। गोरखशतं- मूलकार गोरखनाथ पृ० ४५।

२—वही पृ० २।

स्थानह गई थी। तहां एकु मर्द भावता देखा, तसु दातार थइइ दानह विशेख्या। तिनकी बात कहहुगे...।[1]

दिल्ली की खड़ी बोली संतों, मुसलमान अमलों और कर्मचारियों द्वारा सुदूर महाराष्ट्र और दक्कन तक लोक प्रचलित हुई। जनता अपना मनोरंजन, कारबार, पत्रव्यवहार सब कुछ इसी भाषा में करने लगी थी। विशाल मुगल साम्राज्य के ध्वंस होने पर दिल्ली-आगरा आदि पश्चिमी शहरों की स्थिति उजड़ गयी और व्यापारी, लेखक तथा साहित्यिक अपनी जीविका के लिए पूरब की ओर लखनऊ, प्रयाग, काशी से बढ़ते-बढ़ते क्रमशः बंगाल तक पहुँचे। इन लोगों के साथ ही इन बड़े-बड़े शहरों के बाजारों की व्यावहारिक भाषा खड़ी बोली हो गई। परस्पर पत्रव्यवहार भी खड़ी बोली ही में होने लगा और लोगों को खड़ी बोली में पत्र लिखने का ढंग सिखाया जाने लगा। महामहोपाध्याय वररुचि ने पत्र व्यवहार सिखाने की एक उत्तम पुस्तक 'पत्र-कौमुदी' १८ वीं शती में लिखी। उसमें हिन्दुस्तानी भाषा (खड़ी बोली) के भी पाँच पत्रों के नमूने दिए हैं। ये पत्र बंगला लिपि में लिखे गये हैं। लेखक के बंगाली होने से इन पत्रों की हिन्दुस्तानी भाषा पर बँगला के प्रयोग व उच्चारण का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि आज से दो सौ वर्ष पूर्व की हिंदुस्तानी का अर्थ उर्दू (अरबी-फारसी से प्रभावित) कदापि नहीं था। खड़ी बोली ही हिन्दुस्तानी के नाम से समस्त हिन्दुस्तान के राजकाज, जनता के कामकाज और पत्रव्यवहार की भाषा थी। अंग्रेजों ने भी गिलक्रिस्त की भाषा नीति के पूर्व हिंदुस्तानी का प्रयोग हिंदुस्तान के शिष्ट वर्ग की बोलचाल की भाषा के रूप में किया है। हिंदुस्तानी का अर्थ उर्दू है तथा हिन्दी गद्य का आरम्भ लल्लूजी लाल से होता है इन दोनों भ्रमों का खंडन इन पत्रों[2] द्वारा हो जाता है।

१—अगरचंद नाहटा—'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, स्थान व समय' ब्रज-भारती संवत् २००४ वि० अंक ३, पृ० ११)।

२—तीसरे पत्र की प्रतिलिपि यहाँ दी जा रही है—

'अथ हेंदुस्थानीय भाषायां (या) पत्र लिखन प्रकार'—स्वस्ति श्री सर्वोउपमायोग हमारे विश्वासधाम परमाप्ततम महामहाशय को लिखनें।

यह सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उत्तर भारत मे १६वीं शताब्दी के पूर्व खड़ी बोली मे गद्य-साहित्य की कोई धारावाहिक परम्परा थी। कुछ स्फुट गद्य-रचनायें अवश्य मिलती हैं। इनमे भी गंग और जटमल की गद्य रचनायें जाली सिद्ध हो चुकी हैं। वैकुठमणि शुक्ल (सवत् १६७५-१६८४) की गद्य पुस्तको—'वैसाख महात्म' और 'अगहन महात्म' की भाषा ब्रज रजित खड़ी बोली है। *सुव्यवस्थित और साफ-सुथरी खड़ी* बोली के लेखकों मे रामप्रसाद निरजनी (सन् १७४१) का गद्य सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक माना गया है। परन्तु दक्खिनी के गद्य लेखकों की सरसता एवम् प्राचीनता निरंजनी के महत्व पर भी एक प्रश्न चिह्न है।

दकन मे खड़ी बोली हिन्दी के प्रचार के कारणों पर प्रथम अध्याय मे कुछ विचार किया जा चुका है। दकन मे इसे दक्खिनी हिन्दी के नाम से साहित्यिक भाषा का पद मिला अतः वहाँ इसके गद्य की प्राचीन तथा अखंड परम्परा प्राप्त होती है। इन दक्खिनी लेखकों की भाषा को बाद में चलकर उर्दू वालों ने उर्दू कहना शुरू किया परन्तु जैसा पीछे कह चुका हूँ दकन के लेखकों और कवियों ने अपनी भाषा को दक्खिनी या दक्खिनी हिंदी ही कहा है। कहीं भी दक्खिनी उर्दू या उर्दू नहीं कहा[1]। मुसल-

---

आगे हंको तुमारे देश की फलानी रतम चाभी है तिस वास्ते हम तुम्हारे पाश आपना फलाना तुमारी वेगा मो तुव पोशो का काम पढ्यगा या राह मो जो जोखिम की डर होय तो आपनी आदमी सात देकर तुम भाव (र ?) को आछी भात सो पहुंचाय देना तुम सँम यात लायक हमारे आस हो तुमको वहोत क्या लिखना—'

(हजारीप्रसाद द्विवेदी—२०० वर्ष पुरानी खड़ी बोली के पत्रों के नमूने विशाल भारत, अप्रैल १९४०)।

१—(क) काजी महमूद बहरी (सन् १७०५ ने अपनी भाषा को हिन्दी कहा है—

हिन्दी तो जबा च है हमारी, कहने न लगन हम कू भारी

(ख) इन्हीं का समकालीन कवि नवाजिदा अलीखा शैदा कहता है—

मान होने के कारण इन पुस्तकों विशेषतया सूफी सिद्धांत से सम्बन्धित पुस्तकों की भाषा में अरबी फारसी के शब्द अवश्य अधिक मिलजुल गये हैं। ये सभी लेखक और कवि प्रायः सूफी संत थे और इनमें भाषा संबंधी साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं थी। जिस प्रकार अरबी फारसी के प्रयोग इनकी भाषा में स्वभावतः आ गए उसी प्रकार दक्खिन की स्थानीय भाषाओं के शब्द भी मिले जुले हैं।

इस परम्परा के प्रथम लेखक 'ख्वाजा बन्देनवाज गेसूदराज' माने जाते हैं। इन्होंने (संवत् १४७०-८०) सूफीवाद की गद्य पुस्तक 'मेहराजुल आशकीन' लिखी। इनकी भाषा में अरबी फारसीपन अधिक है। इनके समकालीन दूसरे प्रसिद्ध सूफी संत 'शाहमीरा जी' ने 'मरकूजुल फलब' लिखा। इन्होंने अपनी भाषा को सरल और सर्वजन सुलभ हिन्दी बताया है। इन गद्य ग्रन्थों का कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। शाहमीराँ जी के पुत्र और प्रसिद्ध संत 'शाह बुरहानुद्दीन' के ग्रन्थ 'कलमतुल हकायत' की भाषा अधिक साफ और स्पष्ट है। इसमें भी सूफी सिद्धान्तों का ही निरूपण किया गया है पर प्रश्नोत्तर के ढंग पर अधिक सुबोध और सरल भाषा में।[1]

हुआ इक दिन मुझे इलहाम अजगैब

* *

किताब इक यूँ बना हिन्दी जबा सूं।

श्रीरामशर्मा—'दक्खिनी का पद्य और गद्य' प्रथम संस्करण, पृ० (क०) ११९ (ख) १८९।

१—बुरहानुद्दीन की भाषा का नमूना—

प्रश्न—यह न अलाहेदा दिसता, लेकिन जीता विकार सों टूटने नहीं, बल्कि स्वतन्त्र विकास रूप दिसता है। * * *

उत्तर—इसका नाव मो मुमकिन उस वजूद, दूसरा तन सो भी कि इस इन्द्रिन का विकार व चेष्टा करन हारा सोई। न नहीं तो यू खाक व सुख दुख भोगन हारा।

कुमारी विमला वाघ्रे—'दक्खिनी हिन्दी का गद्य' (*हिन्दी अनुशीलन* वर्ष ६ अंक २)

अब्दुससमद (संवत् १६१०) ने अपनी पुस्तक 'तफसीरे वहावी' की भाषा को दक्खिनी जबान कहा है। उसने लिखा है कि चूंकि लोग अरबी और फारसी में हमारी बातों को ठीक से नहीं समझ पाते 'इस वास्ते सब मर्दा और औरतों को कुराने मजीद के माने मालूम होकर आलम को फायदा होने के वास्ते दखिनी जबान में बनाया हू'। स्पष्ट है कि दकन के मर्द ही नहीं, औरतें भी खड़ी बोली के इस रूप को भली भाँति समझती थीं। यही उनके रातदिन की घरेलू बोली थी। मुहम्मद वली उल्ला कादरी (सन् १७८२) ने 'मारफत-ऊल-सलूक' का तरजुमा जन साधारण को समझने के लिए 'फारसी जबान से उसे हिन्दी जबान मे बयान कर' जनता के सामने रखा।

इन गद्य लेखकों में 'वजही' के ग्रंथ (सन् १६२०) 'सबरस' की भाषा अत्यधिक परिष्कृत तथा स्पष्ट है। इसमें अन्य गद्य ग्रंथों की भाषा की अपेक्षा हिंदी पन भी अधिक है। इतनी चलती भाषा का प्रयोग उत्तर भारत में सौ वर्ष पीछे भी नहीं मिल सका है। इन्होंने शुद्ध दक्खिनी में अपनी रचनायें कीं। अपनी पुस्तक 'कुतुबमुस्तरी' में लिखा है—

> "दखिन में जो दखिनी मीठी बात का।
> अदा नें किया कोई घात का।"

सचमुच ही इनकी 'दक्खिनी हिन्दी' में बड़ी मिठास, बड़ा प्रवाह तथा घरेलू पन है। इनके 'सबरस' से गद्य भाषा का एक संक्षिप्त नमूना देखिये—

अक्ल नूर है, अक्ल की दौड़ भौन दूर है। अक्ल है तो आदमी कहवाते। अक्ल है तो खुदा कू पाते। अक्ल आछे तो तमीज करे, बुरा और भला जाने। अक्ल अछे तो आपस कू होर दूसरे कूं पछाने। ...... अक्ल न होती तो कुछ न होता।[1]

डा० बाबूराम सक्सेना ने अपनी पुस्तक 'दक्खिनी हिंदी' म इस भाषा की ध्वनियों, शब्दों और वाक्यों की भाषाशास्त्र तथा व्याकरण की दृष्टि से परीक्षा करके सिद्ध किया है कि 'दक्खिनी' दिल्ली की ही मूल बोली है।

१—श्रीराम शर्मा—'दक्खिनी का पद्य और गद्य' पृ० ३०८।

दक्खिन में इसके व्यापक प्रचार के कारण इसका नाम दक्खिनी पड़ गया। दक्षिण में इसके प्रचार का मूल कारण मुसलमानों का आगमन है। मुसलमानों का राजनीतिक प्रसार, सूफी संतों का धार्मिक प्रचार तथा नाथ, सहजिया और वारकरी आदि संतों के मत प्रचार के साथ ही खड़ी बोली का भी प्रचार हुआ। आम जनता के साथ मुसलमान शासक तथा प्रचारक इसी भाषा का प्रयोग करते थे। 'मीराजुल आशकीन' की भूमिका में डा० हक ने लिखा है कि 'हजरत बुरहानुद्दीन ४०० बुजुर्गों के साथ दक्खिन गए और दौलताबाद को केन्द्र बनाकर धर्म प्रचार किया।' इस प्रकार जब उत्तर भारत में खड़ी बोली गद्य की साहित्यिक परम्परा का अभाव था तब दक्खिन में वह भली भाँति फल फूल रही थी। यह अवश्य है कि इसके अधिकांश लेखक मुसलमान हैं परन्तु उन्होंने अपनी भाषा में हिंदीपन का बराबर ध्यान रखा है। नौरस, मनरस, नेहदर्पन, दीपकरतग, चितलगन, आदि पुस्तकों के नाम स्वयं ठेठ हिंदी के हैं। कहीं कहीं तो इनके भाव भी शुद्ध भारतीय हैं। 'आबिदशाह अलहुसन-उल-हुसेनी' (सन् १६७०) के गद्य ग्रंथ 'कुज उल मोमनीन' से एक अवतरण इस सम्बन्ध में उद्धरणीय है—

इसका माना यह है के तमाम जमीन के झाड़ों को कलम बनाना, होर सात दरिया का पानी स्याही बनाना होर सात आसमान का कागज बना लिखना तो भी उसका सिफ़त नई होय इस वास्ते मुख्तसिर कहा हूँ के मेरी ज़बान से कहा हो सकेगा।[1]

मुहम्मदवलीउल्ला कादरी (१७८२) के 'तरजुमा मारफत-ऊल-सलूक हिन्दी' के बाद दक्खिनी गद्य ग्रंथों का ऐतिहासिक महत्व नहीं है क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी से उत्तर भारत में भी हिन्दी गद्य साहित्य की अखंड परंपरा प्रारम्भ हो गई।

गद्य प्रचार के कारण—

उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य प्रचार के दो प्रमुख कारण हैं—

(१) गद्य की आवश्यकता

(२) गद्य प्रचार की सुगमता।

१—श्रीराम शर्मा—वही ४२२

सन् १८०० ई० के पूर्व भारत म अंग्रेजी सम्पर्क और सभ्यता तथा शासन का कोई क्रान्तिकारी प्रभाव जनजीवन पर नही लक्षित हो सका। क्योकि इसके पूर्व अँग्रेज अपने नव विजित प्रान्तों के सगठन व शासन म लगे रहे और उन्होंने हमारे धर्म, रीतिरिवाज तथा परम्पराओं म हस्तक्षेप न करने की नीति का पूर्णतया पालन किया। परन्तु सन् १८१३ ई० म जब कम्पनी का नया चार्टर बदला ता चारस ग्राण्ट और विल्वरफोर्स आदि क प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत म समाज सुधार, शिक्षा, इसाइ धर्म प्रचार को भी प्रोत्साहन मिला। इसाइ मिशनरियो ने आरम्भिक पाठशालायें खोलीं, पाठ्य पुस्तक छापी, प्रकीर्णक वितरित किये और इस प्रकार भारतवासी क्रमश पश्चिमी विचार, सभ्यता तथा सस्कृति के सम्पर्क म आने लगे। बुद्धिवादी नवीन वैज्ञानिक भावोंका भारत म आयात हुआ। हमारी सभ्यता, सस्कृति और हमारे जावन पर इसकी प्रतिक्रिया हुइ। नवीन चेतना जागृत हुई। यह सपूर्ण नवोदित चतना पद्य म अभिव्यक्त नहीं हो सकती थी। इतिहास, भूगोल, धम आदि उपयोगी विषयों क लिए हिन्दी गद्य की आवश्यकता का अनुभव किया जान लगा।

मुद्रण यन्त्रों द्वारा सस्ती पुस्तक छपने लगीं। निर्धन व्यक्ति भी उन्हें खरीद कर सरलतापूर्वक ज्ञानोपार्जन करने लग। गद्य साहित्यका उपयोग जन साधारण म बढा। जनता की भाषा के रूपमे खडी बोली पहले से प्रचलित थी अत' उसी म नवीन गद्य साहित्य का निर्माण आरम्भ हुआ। ब्रजभाषा केवल काव्य में सीमित थी। उसके गद्य का समुचित विकास नहीं हो सका था। रीतिकाल म जो टीका ग्रन्थ ब्रजभाषा मे लिखे भी गय उनके सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी ने ठीक ही लिखा है कि उनकी 'भाषा ऐसी अनगढ और लद्धड़ होती थी कि मूल चाहे समझ में आ जाय पर टीका को उलझन से निकलना कठिन ही समझिये।' साराश यह कि ब्रज भाषा गद्य की अभिव्यजना-शक्ति सीमित थी। विविध विषयों की अभिव्यक्ति के उपयुक्त गद्य शैली का विकास उसमें नही हो सका था। वैष्णव धर्म के प्रति ईसाईयों, ब्रह्मसमाजियों और आर्यसामाजियों के विरोध के कारण लोगोंकी श्रद्धा भी कम हो रही थी। अतः ब्रजभाषा को वैष्णव धर्म की वह आड़ भी नहीं मिल सकी। मुगल साम्राज्य के पतन और वैष्णव आन्दोलन की शिथिलता के बाद राजनैतिक व्यापारिक तथा सास्कृतिक केन्द्र दिल्ली,

आगरा और व्रज आदि पश्चिमी स्थानो से उठ कर कम्पनी के शासनकाल मे कलकत्ता पहुँच गया। कलकत्ते के व्यापारियों—अंग्रेज, मुसलमान, हिंदू (पजाबी, खत्री, अगरवाल और बगाली आदि) के बोलचाल की भाषा खड़ी बोली हो गयी थी। अतः कलकत्ते से प्रकाशित पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और प्रकीर्णका के गद्य की भाषा भी खड़ी बोली हिंदी हुई। हिन्दी के विकास में कलकत्ते का महत्वपूर्ण स्थान है। कलकत्ते मे ही फोर्ट विलियम की स्थापना हुई, उससे कुछ ही दूर सीरामपुर में ईसाईयों ने अपने मिशन और प्रेस आदि स्थापित कर सरल हिन्दी मे प्रचार साहित्य का प्रकाशन और वितरण प्रारम्भ किया। हिन्दी के कई आरम्भिक पत्र भी कलकत्ते से ही निकले।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे खड़ी बोली को गद्य भाषा के रूप मे स्वीकार करने का एक ठोस आधार यह भी था कि सन् १८०३ ई० के पूर्व इसमें इतनी गद्य रचना हो चुकी थी कि जिसके बल पर यह कहा जा सके कि खड़ी बोली म विविध भावों की अभिव्यंजना सरलता एवम् सफलतापूर्वक सम्भव है। उदाहरणार्थ सन् १७५३ ई० मे 'चकत्ता की पातस्थाही की परम्परा', सन् १७६१ ई० मे दौलतराम कृत 'जैन पद्मपुराण' और सन् १७७३–८३ के बीच 'मडावर' का वर्णन नामक गद्य ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। सन् १८०० ई० में मथुरानाथ शुक्ल ने 'पचाग दर्शन' व्रज रजित खड़ी बोली मे और उसी के आसपास इशाअल्ला खा ने 'रानी केतकी की कहानी' चलती खड़ी बोली में लिखी। इनसे कुछ पूर्व ही (सन् १७८३ के आसपास) मुशी सदासुख लाल नियाज ने 'शिकस्त लिपि मे अपनी गद्य रचना की थी। मुशी जी दिल्ली के रहनेवाले थे। उन्होने हिन्दुओं की शिष्ट बोलचाल की भाषा में रचना की। वे 'भाषा' का चलन कम होता देख कर खेदपूर्वक कहते हैं 'रस्मो रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया'। इन सभी प्रसिद्ध गद्य लेखकों की भाषा के नमूने साहित्य इतिहास की पुस्तकों में दिये जा चुके हैं।[1] उनके अवतरणों से प्रबन्ध का

१—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसी समय के एक गद्य लेखक रामचरन दास की हिंदी का विवरण दिसम्बर सन् १९३३ के विशाल भारत में दिया था।

कलेवर न बढ़ा कर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि लल्लू जी लाल के पूर्व खड़ी बोली हिन्दी में उनसे अच्छी, और बुरी हर प्रकार की पर्याप्त रचनाएं हो चुकी थीं। फिर भी न जाने किस आधार पर उन्हें हिंदी गद्य का जनक और फोर्ट विलियम को जन्म स्थान सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। यदि यह कहा जाय कि इन लेखकों के बाद कोई धारावाहिक गद्य की परम्परा नहीं चली तो लल्लू जी लाल के बाद ही वह परम्परा कहा चली? वह परम्परा तो वस्तुतः भारतेन्दु ने ही चलाई।

फोर्ट विलियम—इसकी स्थापना लार्ड वेलेजली के समय में (सन् १८०० ई०) हुई। उसने भारत आकर अनुभव किया कि कंपनी के कर्मचारी केवल एक व्यापारिक संस्था के कर्मचारी नहीं बल्कि अब एक सरकार के अधिकारी हैं। उनमें शिक्षा, जनभाषा-ज्ञान और सदाचरण की आवश्यकता है। अतः उनकी शिक्षा दीक्षा के लिए उसने गिलक्रिस्त की अध्यक्षता में 'ओरिएंटल सैमिनरी' की स्थापना की। बाद में यही संस्था फोर्ट विलियम कालेज के रूप में परिवर्धित हुई और गिलक्रिस्त उसके हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। कालेज में गिलक्रिस्त साहब ने हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू को ही प्रोत्साहन दिया न कि लोक प्रचलित खड़ी बोली हिन्दी को[1]। वे हिन्दुस्तानी की तीन शैलिया मानते थे—

रामचरन दास की भाषा का उदाहरण यहां दिया जा रहा है—

'पुनि राम नाम कैसो है, हेतु कृशानु भानु हिमकर को, यहां एक शब्द में दुई अर्थ होई, तीन, चार, पांच, छै, सात इत्यादिक अर्थ होये भाशय लिखे एक शब्द में अनेक हेतु अनेक ध्वनि अनेक आशय है।'

१—फोर्ट विलियम की स्थापना और उर्दू गद्य के प्रसार का श्रेय वस्तुतः गिलक्रिस्त साहब को ही है। उर्दू के परम हितैषी मौलाना अब्दुल हक साहब का उनके संबंध में कथन है—'मैं डा० गिलक्रिस्त को उर्दू जबान का बहुत बड़ा मोहसिन खयाल करता हूं। वह न सिर्फ एक तरह से फोर्ट विलियम कालेज कलकत्तः के कयाम के बायस हुए जिसने उर्दू की बहुत बड़ी खिदमत की, बल्कि उन्होंने उर्दू की तौसीम व अशाअत के लिए बहुत कारामद और मुफीद किताबें लिखीं।' चन्द्रबली पांडे—'कचहरी की भाषा और लिपि' पृ० ३६ पर उद्धृत।

(१) दरबारी फारसी शैली (दी हाई फोर्ट आफ परशियन स्टाइल)

(२) मध्य या विशुद्ध हिन्दुस्तानी शैली (द मिडिल आर जेनूयिन हिन्दुस्तानी स्टाइल)

(३) हिन्दवी या गवारू शैली (द वल्गर आर हिन्दवी)

इन तीन शैलियो मे उन्होंने मध्य शैली को प्राथमिकता दी। यह शैली और कुछ नहीं उर्दू ही है। क्योंकि इसके उदाहरण स्वरूप जिन कवियों का नाम लिया गया है वे—मिसकीन, सौदा, आदि उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने इनकी भाषा नीति को एक ही वाक्य में बहुत सही ढग से इस प्रकार व्यक्त किया है—

'रोमन लिपि और फारसी लिपि में विश्वास रखने वाले, अरबी और फारसी से आक्रान्त खड़ी बोली को ही (जिसे वे हिन्दुस्तानी कहते हैं) देश की शिष्ट भाषा समझने वाले एव संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों से मिश्रित खड़ी बोली को (जिसे वे हिन्दवी कहते हैं) गँवारू समझने वाले जान गिलक्राइस्ट ने वास्तव में हिन्दुस्तानी नाम से उर्दू का प्रचार किया'[१]।'

गिलक्रिस्त की हिन्दुस्तानी में अरबी फारसी का बाहुल्य रहता था। पर उसका मूल ढाचा हिन्दी पर ही आधारित था। हिन्दी ज्ञान के बिना हिंदुस्तानी का ज्ञान भी कठिन था। अतः १६ फरवरी सन् १८०२ ई० में उनकी माग पर कालेज कौंसिल ने भाषा मुशी के पद पर लल्लू जी लाल की नियुक्ति पचास रुपये प्रतिमास वेतन पर की। गिलक्रिस्त ने हिन्दुस्तानी में पाठ्य पुस्तकों का अभाव देख कर प्रकाशन की एक योजना चालू की जिसके अन्तर्गत सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, शकुन्तला नाटक और माधवानल का उल्लेख मिलता है। लल्लू जी लाल ने मजहर अली खा 'विला' और काजिम अली 'जवा' की सहायता से 'व्रजभाषा से रेखते की बोली' मे इन पुस्तकों का तरजुमा किया। फोर्ट विलियम का महत्व पुस्तकों के प्रकाशन तथा टाइप सम्बन्धी सुधारों के लिए अधिक है। स्वय गिलक्रिस्त ने कई पाठ्य पुस्तकें हिन्दुस्तानी में लिखीं। सन् १७८७-९० मे

१—डा० रामकुमार वर्मा—'राजा भोज और अंग्रेज बहादुर में शिक्षा के प्रचार में कौन श्रेष्ठ है' (सम्मेलन पत्रिका ज्येष्ठ, आषाढ़ २००२)।

उन्होंने (डिक्शनरी इंग्लिश ऐण्ड हिन्दोस्तानी) की रचना फारसी लिपि में की। 'ए ग्रामर आफ द हिन्दुस्तानी लेंग्वेज' नामक दूसरी रचना उन्होंने १७९६-९८ में की। इसमें व्याकरण सम्बन्धी सिद्धान्त तो हिन्दी के हैं पर शेष बातें जैसे छन्द, पारिभाषिक शब्दावली और उद्धरण आदि सब उर्दू के हैं। छन्दों में फाइलुन, फाइलातुन, मफाइलातुन आदि, पारिभाषिक शब्दावली में एडवर्ब, एड्जेक्टिव, केस, प्लूरल, एरेगरी आदि के लिए क्रमशः हर्फ, सिफत, हालत, जमा, मजाज आदि शब्दों का प्रयोग तथा वली, मीर, सौदा आदि की कविताओं के उद्धरण उसे उर्दू का ही व्याकरण सिद्ध करते हैं। इनके अलावा 'ओरियण्टल फेबुलिस्ट', दी हिंदी मैनुअल' और 'दी हिन्दी स्टोरी टेलर' आदि उनकी या उनके सहायकों द्वारा लिखी गयी रचनायें हैं। गिलक्रिस्ट साहब रोमन लिपि के पक्षपाती थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने 'द हिंदी रोमन एग्रिग्रैफिकल अल्टीमेटम्' नामक पुस्तिका भी लिखी थी।

इस प्रकार कालेज में प्रधानतः हिन्दुस्तानी (उर्दू) का ही अध्ययन होता था। जब हिन्दवी (हिन्दी) के अध्ययन की विशेष आवश्यकता होती थी तो उसके लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता था। इसी विशेष प्रबन्ध के अन्तर्गत लल्लू जी लाल और सदल मिश्र को कालेज में स्थान मिला और 'प्रेम सागर' तथा नासिकेतोपाख्यान' जैसे हिन्दी ग्रंथों की रचनायें हुई। सदल मिश्र की भाषा अधिक प्रौढ़ और व्यवहारोपयोगी है यद्यपि उसमें पूर्वीपन अधिक है। लल्लू जी लाल की भाषा व्यासों की भांति ब्रजरंजित खड़ी बोली है। आचार्य शुक्ल जी ने इसे 'कथा वार्ता के काम का काव्याभास गद्य' कहा है। इन गद्य पुस्तकों की भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया। २६ फरवरी सन् १८०४ ई० में गिलक्रिस्ट साहब त्यागपत्र देकर कालेज से अलग हो गये पर उनकी भ्रमपूर्ण भाषा-नीति का पालन वर्षों बाद तक होता रहा। अधिकांश अंग्रेज अधिकारी एवम् विद्वान् हिन्दी की लोकप्रियता और वास्तविकता से परिचित थे। टेलर, रोयबक, प्राइस आदि कालेज के परवर्ती अधिकारियों ने हिंदी शिक्षा के ह्रास का संकेत भी किया है[1]। टेलर के बाद प्राइस हिन्दुस्तानी विभाग के

---

[1]—गिलक्रिस्ट के बाद मोएट साहब हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष हुए। सन् १८०८ ई० में उनके त्याग पत्र देने के बाद उस स्थान पर टेलर

अध्यक्ष हुये । वे अपने को हिन्दी-प्रोफेसर कहते थे और हिन्दी और हिन्दुस्तानी में लिपि तथा शब्दों का मुख्य अन्तर मानते थे।

कंपनी की भाषा नीति—

फोर्ट विलियम की भाषा नीति से यह नहीं समझना चाहिये कि वह कम्पनी सरकार की आम नीति थी। बल्कि हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष गिलक्रिस्ट की भाषा नीति का यह प्रभाव था। गिलक्रिस्त अरबी फारसी के विद्वान् थे। उन्होंने हिन्दी को अरबी फारसी की ओर मोड़ दिया जब कि वहीं पर बंगला विभाग के अध्यक्ष संस्कृत के विद्वान् थे और उनकी रुचि के प्रभावसे बंगला गद्य पद्य की भाषा संस्कृत प्रधान हो गयी। आरम्भ में कंपनी के डाइरेक्टर हमारी भाषा, परम्परा, रीति रस्म, धर्म और विश्वास आदि में हस्तक्षेप करने में काफी हिचकते थे यद्यपि बहुत से देशी-विदेशी विद्वानों राजाराममोहन राय, चार्ल्स ग्राण्ट, गिलक्रिस्त आदि ने शासन, शिक्षा और कचहरी की भाषा को अंग्रेजी कर देने के लिए बहुत प्रयत्न किया तो भी कम्पनी के डाइरेक्टरों ने वैसा नहीं किया। उन लोगों ने संस्कृत भाषा और प्राचीन परिपाटी को शिक्षा दीक्षा पर ही जोर दिया। सन् १८२१ ई० में जब कलकत्ते में संस्कृत कालेज की स्थापना के लिये सरकार ने आदेश दिया तो राजा राममोहनराय ने स्पष्ट लिखा कि संस्कृताऊ

साहब की नियुक्ति हुई। उन्होंने हिन्दुस्तानी शिक्षा के सम्बन्ध में रिपोर्ट देते हुए सन् १८१२ ई० में लिखा'‥‥‥हिन्दुस्तानी शिक्षा में कोई ह्रास नहीं हुआ। किन्तु मैं‥‥‥केवल हिन्दुस्तानी या रेखता का जिक्र कर रहा हूँ, जो फारसी लिपि में लिखी जाता है और जिसे पढ़ाने का मुझे श्रेय है। मैं हिन्दी का नहीं जिक्र कर रहा जिसकी अपनी लिपि है अथवा मैं उस भाषा का नहीं जिक्र कर रहा जिसमें अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग नहीं होता और मुसल्मानी आक्रमण से पहले जो भारत वर्ष के समस्त उत्तर पश्चिम प्रान्त की भाषा थी और जिसका वहां के मूल निवासी हिंदुओं में अब तक प्रयोग होता है।'

लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय—फोर्ट विलियम कालेज,

ढंग की शिक्षा से देश में सदैव अज्ञानान्धकार बना रहेगा। यदि सरकार सचमुच ही देशी लोगों की स्थिति में सुधार चाहती है तो उसे अधिक उदार और प्रगतिशील शिक्षा नीति स्वीकार करनी चाहिए। सरकार की यह नीति मैकाले के समय तक बनी रही। सन् १८३०–३७ तक इस विषय पर बड़ा विवाद चलता रहा कि शासन और शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो या देशी भाषायें। सन् १८३० ई० में कोर्ट के डाइरेक्टरों ने कह दिया था कि 'जनता को न्यायधीशों की भाषा सिखाने की अपेक्षा न्यायधीशों के लिए जनता की भाषा सीखना सरल है।'[1] सन् १८३६ तक तो इस्टइंडिया कम्पनी के सरकारी दफ्तरों की भाषा फारसी रही। परन्तु जनसाधारण की भाषा के रूप में साथ-साथ हिन्दी का प्रयोग भी पूर्ववत् बना रहा। मुसलमानी शासन काल में भी शाही फरमानों पर फारसी के साथ हिन्दी को स्थान मिलता था। तासी ने लिखा है 'वाकआ: यह है कि मुसलमान बादशाह हमेशः एक हिन्दी सिकरेटरी जो हिन्दी नवीस कहलाता था और एक फारसी सिकरेटरी जिसको फारसी नवीस कहते थे, रखा करते थे ताकि उनके एहकाम इन दोनों जबानों में लिखे जायँ।'[2] कम्पनी के शासन काल में भी हिन्दी भाषा का वह स्थान अक्षुण्ण बना रहा। राजकीय आदेश, सूचनाएँ तथा अन्य कागद पत्र पहले फारसी और नीचे हिंदी भाषा में लिखे रहते थे। कंपनी ने आईन कानून में भी हिंदी भाषा और नागरी लिपि का बराबर विधान रखा। उदाहरणार्थ सन् १८०३ ई० के आईन ३१ दफा २० में कहा गया है

'...हरीएक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम हे के इस आईन के पावने पर ऐक ऐक केता इसतहारनामा निचे के सरह से फारसी वो नागरी

1—'...and it is easier for the judge to acquier the language of the people than for the people to acquire the language of the judge.'

(*printed parliamentary papers relating to the affairs of Indis.* General appendix I public (1832) p. 497).

२—नागरीप्रचारिणी पत्रिका सन् १८९८ पृ० १८ पर अवतरित।

भाषा वो अछर में लिखाये कै अपने मोहर वो दसखत से अपने ज़िला के··· कचहरी में भी तमामी आदमी के बुझने के वासते लटकावही[1]।'

कंपनी सरकार ने स्टैम्प और सिक्के पर भी हिंदी भाषा और नागरी लिपि को स्थान दिया। यथा—

'जो सीटामप सभ के दावे वो जवाब वगैरह कागज के ऊपर किया जाएगा उसके ऊपर नीचे का मजबून फारसी भाखे वो अछर वो हीनदवी जुबान वो नागरी अक्षर में खादा जाएगा[2]।'

साराश यह कि कंपनी के आईनो मे हिंदवी, हिंदुस्तानी या नागरी भाषा और अक्षरों का विधान प्रायः मिलता है परन्तु उर्दू की कोई चर्चा नहीं मिलती। कपनी सरकार के सामने उस समय चार प्रमुख भाषायें थीं—

(१) अंग्रेजी, जो उनकी निजी भाषा थी और जिसका वे क्रमशः प्रचार करना चाहते थे।

(२) फारसी, जो राजभाषा थी पर जनता मे जिसका प्रचार नहीं के बराबर था।

(३) हिन्दी, जो लोक भाषा के रूप मे सर्वत्र बोली और समझी जा रही थी।

(४) बंगला, जो कंपनी सरकार के केन्द्र की भाषा थी।

सन् १८३७ ई० मे फारसी की जगह देशी-भाषाओं को दे दी गयी। बंगाल में बंगला भाषा और लिपि प्रचलित हुई। परन्तु पश्चिमोत्तर प्रदेश मे हिन्दी और नागरी लिपि के स्थान पर उर्दू का प्रचार गया। इसका मुख्य कारण अदालती अमलों की कृपा थी क्योंकि वे इसके पूर्व फारसी में लिखने मे अभ्यस्त थे और उनकी भाषा में अरबी फारसी शब्दों, मुहावरों तथा वाक्यविन्यास का अधिक प्रयोग स्वाभाविक था। नये सिरे से अमलों

१—चन्द्रबली पांडेय—कचहरी की भाषा और लिपि, प्र० सं० पृ० २७।

२—वही पृ० २८।

की नियुक्ति मे बडी कठिनाई थी। पुराने कर्मचारी हिन्दी नहीं जानते थे अतः हिंदी के प्रति उनकी उपेक्षा स्वय सिद्ध है।

इधर फारसी के हट जाने से मुसलमानो मे अपने सास्कृतिक ह्रास पर बड़ा असंतोष फैल रहा था। उन्हें अपनी दासता का अनुभव पाठशालाओ और कचहरियों मे खलने लगा। मुसलमानों ने अरबी फारसी से युक्त उर्दू का ही जी जान से समर्थन शुरू किया और यह प्रयत्न किया कि हिन्दी का दफ्तरों और कचहरियों से ही नहीं बल्कि शिक्षालयों से भी बहिष्कृत कर दिया जाय। हिंदी के प्रेमियों को ओर से उसके प्रति ध्यान दिलाय जाने पर यदि सरकार की तरफ से कुछ भाषा सबधी सशोधन के आदेश मिलते भी तो वे कर्मचारियों और अमला की कृपा से फाइलों म ही पडे रह जात थे। १९ अप्रैल, सन् १८३६ म सदर दीवानी अदालत ने अरबी फारसी के क्लिष्ट प्रयोगों की निन्दा की, और २८ अगस्त १८४० के आदेश द्वारा सदर-बोर्ड-आफ-रेवेन्यू ने भी इसी आशय को व्यक्त किया। पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार ने ५ जनवरी १८५४ के आदेश द्वारा क्लिष्ट उर्दू के स्थान पर सरल हिन्दुस्तानी के प्रयोगों को उचित बताया परन्तु इन आदेशों का कार्य रूप मे बिल्कुल पालन नहीं किया गया। परिणामत. कचहरी की भाषा जनता के लिए दुर्बोध और महँगी हो गई। कचहरी के मुसलमान तथा हिंदू अमलों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उर्दू को फारसी लिपि का जामा पहनाकर उसे जनता से और भी दूर कर दिया।

भाषा सबधी इस कठिनाई का अनुभव केवल कचहरी और कार्यालया मे ही नहीं बल्कि उससे भी अधिक धर्म प्रचार और शिक्षा के क्षेत्र मे ईसाई-पादरी कर रहे थे। व्यक्तिगत रूप से ईसाई पादरियों ने शिक्षा के लिये सरल हिन्दी को अपनाया तथा शिक्षा प्रचार और हिंदी गद्य की पुष्टि मे मुख्य योग दिया। इन लोगों का मुख्य उद्देश्य यद्यपि ईसाई-धर्म का प्रचार था परन्तु उसकी प्राप्ति के लिये इन लोगों ने जनता को शिक्षित करना आवश्यक समझा। चार्ल्स ग्रान्ट, विलियम केरे, डा० डफ आदि पादरियों ने आधुनिक शिक्षा क लिए कई योजनायें चालू कीं। चार्ल्स ग्रान्ट ने सन् १७९२ ई० में ही अंग्रेजो ढग की शिक्षा के लिए जोरदार प्रयत्न किया। इसके बाद सन् १८२१ ई० म 'कलकत्ता यूनिटेरियन कमेटी' की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य शिक्षा और बौद्धिक तर्क तथा पुस्तकों के प्रकाशन से

जनता का अज्ञान और अन्धविश्वास दूर करना था।[१] मिशनरियों ने सन् १८१७ ई० में 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी' और इस प्रकार की अन्य संस्थायें जैसे 'आगरा स्कूल बुक सोसायटी', मदर्न टैक्स्ट एंड बुक सोसायटी इलाहाबाद आदि की स्थापना की, साथ ही कई कालेज, नार्मल स्कूल और पाठशालायें जैसे हिन्दू कालेज कलकत्ता, आगरा नार्मल स्कूल और दिल्ली कालेज आदि की स्थापना भी की। इन सोसायटियों और शिक्षा संस्थाओं की अध्यक्षता में अंग्रेजी के साथ ही हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में पाठ्य पुस्तकें प्रयुक्त होती थीं।

सरकार की ओर से सन् १८२३ ई० में 'कमेटी आफ पब्लिक इन्सट्रक्शन की स्थापना हुई। सरकारी विद्यालयों में अध्ययन की प्राचीन परंपरा बनी रही अतः उधर अधिक विद्यार्थी नहीं आकृष्ट हुए। दूसरी ओर मिशनरियों के नवीन विद्यालयों में भी धर्म परिवर्तन के भय से अधिक विद्यार्थी नहीं बढ सके, फलतः उनकी अनेक योजनायें कुछ काल तक चलने के बाद असफल होती रहीं। फिर भी इन पाठशालाओं के अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान संबंधी विविध पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन बडे उत्साह के साथ किया गया। भूगोल, इतिहास, धर्मशास्त्र, राजनीति, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, विज्ञान, साहित्य, ज्योतिष, व्याकरण आदि नाना विषयों की सरल पाठ्य-पुस्तकों का हिंदी गद्य में निर्माण हुआ। 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी' द्वारा प्रकाशित 'पदार्थ विद्या-सार' नामक पुस्तक की गद्य-भाषा का नमूना प्रस्तुत किया जा रहा है—

'इसी जगत में कोटि कोटि मनुष्य हैं। उन सभों के लिये ऐसी बहु खाद्य द्रव्य प्रस्तुत है कि अभाव होगा यह शंका कभी नहीं है। परमेश्वर ने

१—'The object of society was...removal of superstition by education, rational discussion and the publication of books'.

H. V. Hampton : Biographical studies in Modern Indian Education (Oxford University Press, 1947 p. 33).

मनुष्यों के प्राण रक्षा के लिए जिन वस्तुओं की सृष्टि की है उनमें विचार करने से हमारा बड़ा आश्चर्य बोध होता है।[1]'

पाठ्य पुस्तकों के अलावा इन लोगों ने खड़ी बोली गद्य में अनेक प्रचार-प्रकीर्णक प्रकाशित किये। ये लोग भली भांति जानते थे कि जन-साधारण की भाषा हिन्दी है न कि हिन्दुस्तानी। ये लोग लल्लू जी लाल की शैली के समर्थक थे न कि कम्पनी की हिन्दुस्तानी शैली के। इन लोगों ने धर्म प्रचार के लिए आचरण सुधार, समाज सुधार सम्बन्धी अनेक प्रकीर्णक सरल हिन्दी में छपवा कर जनता में वितरित किए। इनके प्रचार कार्य के मुख्य केन्द्र कलकत्ता, आगरा मुंगेर, मिरजापुर आदि स्थान थे। बाउले ने सन् १८२६ ई० में 'ओल्ड टेस्टामेंट' का धर्म पुस्तक नाम से हिन्दुवी में अनुवाद किया। उसकी भाषा का एक उदाहरण देखिये—

'लोन अच्छा है परन्तु यदि लोन अपनी लोनाई को खोवे तो तुम उसको किससे स्वादित करोगे, आप में लोन रक्खो और आपुस में मिले रहो।[2]'

भारत में सामाजिक आन्दोलन इन्हीं ईसाई पादरियों और पश्चिमी प्रभाव का प्रत्यक्ष परिणाम था। इस मानस जागृति के मूल पुरुष राजाराम-मोहन राय हुये जिन्हें श्रीरामपुर के मिशनरियों से प्रेरणा मिली और उन्होंने इसका हिन्दू समाज में प्रचार किया[3]। राजाराममोहनराय कट्टर

१—डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य प्र० सं० पृ० ४९।

२—वही पृ० ४६७।

३—'The Indian Social movement is indirect outcome of Christian missions and western influence, and all communities have felt in impact in a greater of less degree. The primal impulse was communicated by the serampur missionaries to Raja Ram Mohan Ray, and by him to the Indian Community'

(J. N. Farquhar : Modern Religious movement in India, 1924 P, 387).

पुरातन पंथियों से बराबर वाद विवाद करते रहे। उन्हें धार्मिक विषयों पर ब्राह्मणों से कई बार शास्त्रार्थ करने पड़े। इसके लिए उन्होंने भी अनेक प्रकीर्णक पुस्तिकायें और पत्र बंगला, अंग्रेजी के अलावा हिन्दी में भी लिख कर छपवाये तथा जनता में बांटे। सुब्रह्मण्य शास्त्री के साथ हुए शास्त्रार्थ के उत्तर में उन्होंने जो हिन्दी प्रकीर्णक छपवाया था उसका एक अंश उदाहरणस्वरूप उद्धृत कर रहा हूं—

'जो सब ब्राह्मण सांगवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं अर्थात् अब्राह्मण हैं यह प्रमाण करणे की इच्छा करके ब्राह्मण धर्म परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जीने जो पत्र सांगवेदाध्ययन हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है 'वेदाध्ययनहीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने सक्ता नहीं और जिसने वेद का अध्ययन किया है उसही का केवल ब्रह्म विद्या में अधिकार है'''यह जानके हम सब उत्तर देते हैं।'[1]

इस प्रकार के वाद-विवाद और शास्त्रार्थों, प्रकीर्णकों, पाठ्यपुस्तकों तथा स्वतन्त्र रचनाओं से हिन्दी गद्यका एक ओर विकास हो रहा था परन्तु दूसरी ओर सरकारी क्षेत्र में उर्दू का विरोध इसकी प्रगति में बड़ी बाधा डाल रहा था। यह विरोध विशेष रूप से कचहरी और शिक्षा के क्षेत्र में देखा गया।

शिक्षा—हिन्दी उर्दू का विवाद मूलतः हिन्दी भाषी क्षेत्र विशेषतया पश्चिमोत्तर प्रदेश की समस्या थी। सन् १८३६ ई० में शासन की स्वतन्त्र इकाई के रूप में पश्चिमोत्तर प्रदेशका गठन हुआ। परन्तु सन् १८४३ ई० के पूर्व शिक्षा संस्थाओं का नियन्त्रण स्थानीय सरकार को नहीं सौंपा जा सका था। सन् १८४३ तक इस नये प्रान्त में आगरा, दिल्ली और बनारस में कुल तीन सरकारी कालेज और ९ एंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल थे। सन् १८४३ से १८५३ तक इस प्रान्त के गवर्नर जेम्स थामसन रहे। उन्होंने यहां शिक्षा प्रसार की एक विस्तृत योजना बनाई। इस

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—'राजाराममोहनराय की हिन्दी' (विशाल भारत, दिसम्बर १९३३ पृ० ६७०)।

प्रान्त की स्थिति बंगाल से भिन्न थी, न तो यहाँ बहुत अधिक यूरोपियन व्यापारी और अधिकारी थे और न यहाँ अंग्रेजी कारबार ही बहुत अधिक था। यहाँ पर अंग्रेजी भाषा के बिना किसी कारोबार में विशेष रुकावट नहीं पड़ती थी। अतः यहाँ की स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुए सरकार ने देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा देना निश्चय किया न कि अंग्रेजी के माध्यम से। थामसन ने सन् १८४४ ई० स्कूल बुक्स के लिए एक क्यूरेटर नियुक्त किया और उसे अंग्रेजी, हिंदी तथा उर्दू की तमाम पाठ्य पुस्तकों की एक तालिका बनाने का आदेश दिया। जिलाधीशों से विभिन्न जिलों में शिक्षा की स्थिति की जाँच करके रिपोर्ट माँगी गई। उन रिपोर्टों से मालूम होता है कि उस समय यहाँ पर विद्यालय जानेवाली अवस्था के बच्चों का केवल पाँच प्रतिशत अधूरे ढंग की शिक्षा प्राप्त कर रहा था। तमाम सूचनाओं की प्राप्ति के बाद उन्होंने शिक्षा प्रसार की एक नयी योजना सन् १८४८ ई० में बनाई। यह सन् १८५० ई० में चालू की गई। इसके अनुसार हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में पाठ्य विषयों की पढाई की जाने लगी। सन् १८५१ ई० में केवल आठ जिलों की तीन हजार एक सौ सत्ताइस (३१२७) पाठशालाओं में २७,८१३ विद्यार्थी विद्याध्ययन कर रहे थे। उस समय भी वर्नाक्यूलर स्कूल परिशियन स्कूलों से कम ही थे।

इसी योजना के आधार पर १८५४ ई० मे 'चार्ल्सवुड' की प्रसिद्ध शिक्षा योजना जारी की गई। उसके अनुसार प्रत्येक प्रांत के लिये अलग अलग प्रांतीय शिक्षा विभाग, उसके डाइरेक्टर तथा सहायक निरीक्षकों की नियुक्तियाँ हुईं। अनेक आरम्भिक पाठशालाएँ गावों में खोली गई और भारतीय भाषाओं के माध्यम से उनमें पढाई शुरु हुई। इसी योजना के अन्तर्गत सन् १८५६ ई० में म्योर ने राजा शिवप्रसाद को निरीक्षक नियुक्त किया। इन पाठशालाओं में पाठ्य पुस्तकों की भाषा की समस्या बड़ी टेढी हो गई थी। बच्चों को तीन गुना परिश्रम करना पड़ता था। पद्य की भाषा ब्रज और अवधी, गद्य की खड़ी बोली तथा सरकारी काम काज के लिए कचहरी की भाषा उर्दू को सीखना पड़ता था। बच्चों के घर और उनके साधारण बोल-चाल की भाषा दूसरी थी परन्तु शिक्षा एक अन्य भाषा द्वारा दी जा रही थी। मैकाले की नीति के अनुसार उच्च कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी स्वीकार कर ली गई थी अतः खड़ी बोली में उच्च स्तर की गद्य पुस्तकों का निर्माण

नहीं हो सका। उधर उर्दू का जोर बढ़ रहा था। कम्पनी सरकार भी हिन्दी और उर्दू को दो अलग अलग भाषाओं के रूप में जारी कर बीच में अंग्रेजी भाषा और रोमन लिपि का चलाना चाहती थी। सरकारी पाठशालाओं में भी उर्दू का महत्त्व बढ़ने लगा[१]। जनता भी जीविका, नौकरी के लिए विवश होकर बच्चों को उर्दू सीखने के लिए प्रेरित करने लगी।

सरकारी क्षेत्र में हिंदी उर्दू विरोध की समस्या—सन् १८५७ के प्रसिद्ध गदर के बाद भारत की शासन सत्ता कम्पनी के हाथ से निकल कर सीधे सम्राज्ञी विक्टोरिया के हाथ में चली गई। गदर के बाद अंग्रेजों ने अपनी नीति बदल दी और हिन्दू मुसलमानों के मतभेद में ही अपने साम्राज्य की दृढ़ता को सम्भव समझा। अतः हिन्दू मुसलमानों की सभ्यता, संस्कृति के साथ उनकी भाषा, वेषभूषा, और राजनैतिक अधिकार आदि सबको अलग अलग रखने के लिए दोनों पक्षों को उसकाया। भाषा के क्षेत्र में भी यही नीति दिखलाई पड़ती है। कुछ विदेशी विद्वानों ने हिन्दी भाषा और नागरी लिपि की वास्तविक लोकप्रियता के कारण न्याय भावना से उसका समर्थन भी किया तो तीव्र विरोधी स्वर के आगे उनकी कोई सुनवाई नहीं हो सकी। अधिकतर विदेशी विद्वान रोमन लिपि को प्रचलित करने के लिए हिंदी उर्दू भाषा तथा नागरी और फारसी लिपि का विवाद उपयोगी समझते थे।

भाषा और लिपि के प्रश्न को लेकर विद्वानों के दो दलों में विवाद उठ खड़ा हुआ जो रायल एशियाटिक सोसायटी जरनल और अन्य शोध सबंधी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। पहले तो अंग्रेजी भाषा और रोमन लिपि का ही प्रश्न था। इस मत के प्रधान समर्थकों में मेकाले, ट्रेवेलियन,

---

१—कम्पनी सरकार की इस निति पर गार्सां द तासी ने लिखा है—

'ईस्टइंडिया कम्पनी की यह हिकमत असली रही थी कि उर्दू को हिंदी से अलहदा तसव्वर किया जाय। चुनाचः उर्दू का जो जदीद अदब इस जमाने में पैदा हुआ उसमें अरबी फारसी के अल्फाज बराबर इस्तेमाल किये, जाते थे बल्कि उन अल्फाज को तरजीह दी जाती थी। इस जदीद अदब की सरकारी मदारिस में भी हिम्मत अफजाई की गई।'

चन्द्रबली पाडे 'कचहरी की भाषा और लिपि, पृ० ४८ पर अवतरित।

डा० डप और बीम्स आदि थे तो दूसरी ओर भारतीय भाषाओं के पक्ष में जेम्स, प्रिंसिपल विल्सन और ग्राउस आदि उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम डा० स्प्रेंजर ने 'आग्सबर्ग गजट' में इस विषय पर दो लेख लिखा। इसके बाद अन्य विद्वानों में भी उर्दू और हिंदी के दो दल हो गये। हिंदी समर्थक ग्राउस साहब तथा उर्दू के बीम्स साहब का प्रसिद्ध वादविवाद सन् १८६५ से १८६८ तक के 'रायल एशियाटिक सोसायटी जरनल' में प्रकाशित होता रहा। इन विद्वानों ने एक साथ ही भाषा और लिपि दोनों प्रश्नों को उठाया। जो विवाद शुद्ध लिपि संबंधी होता था उसका भी भाषा से अनिवार्यतः संबंध जुट जाता था। कैप्टन नास्सन लीज[1] ने लिखा है 'यह प्रश्न, जिसपर इन विदेशी विद्वानों ने विवाद किया वह नाममात्र के लिए लिपि संबंधी था वस्तुतः वह भाषा का ही विवाद था'। इन समस्याओं को एक साथ मिलाने का कार्य सम्भवतः सर्वप्रथम डा० स्प्रेंजर ने ही किया। अधिकांश विदेशी विद्वान थोड़े बहुत संशोधन के साथ इसी निष्कर्ष से सहमत थे कि रोमन लिपि का ही प्रयोग होना

१—'The conclusion then at which I have arrived are, that any attempt to adopt the Roman alphabet to the classical languages of India would be mischievous; and that all those languages for which an alphabet has already been perfected by the people speaking them, have no need of such change. But that an attempt might me made to adopt this alphabet or a modification of it to all Indian languages which at present have no alphabet which can properly be called their own'.

Capt. Nassan lees : On the application of Roman alphabet to Oriental languages (Royal Asiatic Society Journal 1864. p., 356).

चाहिये। भारतीय पक्ष के समर्थकों का कहना था कि देवनागरी ससार की अत्यन्त प्राचीन तथा वैज्ञानिक लिपियों में उत्कृष्टतम है और भारतीय आर्य भाषाओं के अनुरूप इसका विकास हुआ है। भारतीय इससे परिचित हैं। इसके विपरीत रोमन विदेशी लिपि है। हिन्दी और अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की सभी ध्वनियो को व्यक्त करने के लिए उचित वर्णों का भी इसमें अभाव है। अतः उन्हें अपनी भाषा को अपनी लिपि में लिखने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। कचहरी की हिन्दुस्तानी को जिसे हिन्दू नागरी लिपि और मुसलमान फारसी लिपि में लिखते हैं, अवश्य रोमन लिपि में लिखना चाहिए। भारतीय मत के पोषक विद्वान् भी कुछ न कुछ रोमन लिपि के पक्ष में झुके हुए थे। वे क्लासिकल भाषाओ के लिए तो देव नागरी लिपि का समथन करते थे पर कचहरी की भाषा हिन्दुस्तानी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं के लिये रोमन की सस्तुति करते थे।

भाषा के क्षेत्र में कचहरी की हिन्दुस्तानी (उर्दू) के सबसे बडे समर्थक जान बीम्स साहब थे। उर्दू और अंग्रेजी को ये सभ्य और प्रगतिशील जीवित भाषा मानते थे। हिन्दी और जर्मनी को गतिहीन और रूढिवादी। जर्मन भाषा जिस प्रकार नई अभिव्यजना के लिए कई घरेलू शब्दो के योग से गढे गये एक नय लद्धड़ शब्द का प्रयोग पसन्द करती है, बीम्स साहब का कहना था कि ठीक यही प्रकृति हिन्दी की भी है। परन्तु जिस प्रकार अंग्रेजी भिन्न भिन्न भाषाओ के पारिभाषिक एवम् लाक्षणिक प्रयोगों को पचा कर अपना शब्द भडार समृद्ध करती है वैसी ही प्रकृति उर्दू की है। जीवित और प्रगतिशील भाषाओं का यही लक्षण भी है। जब अंग्रेजी का हम लोग समर्थन करते हैं तो ठीक उसी प्रवृत्ति वाली उर्दू का समर्थन क्यो नहीं करना चाहिये ?

उनका कथन था कि उर्दू नई गढी गई भाषा नहीं है बल्कि मुसलमानी आक्रमण काल से ही धर्म, सस्कृति, कला, शासन और कारोबार के क्षेत्र में विदेशी शब्द प्रचलित होने लगे और दो जातियों के मेल मिलाप से महल, दरबार और बाजार की एक मिली जुली भाषा शैली का सहज ही विकास हुआ जिसका पिता हिन्दी और माता अरबी है। यह दोनो से स्वतन्त्रता पूर्वक शब्द-राशि उधार लेती है। इसके विपरीत हिन्दी कोई एक निश्चित

भाषा नहीं है बल्कि दस पन्द्रह ठेठ बोलियों का एक समूह है। उनमें से कचहरी और अन्य सरकारी कामकाज के लिए किसी राष्ट्रीय या आदर्श भाषा शैली का चुनाव करना बड़ा कठिन है। अंग्रेजी, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाओं की राष्ट्रीय शैलियां अनेक बोली-भाषाओं के वाञ्छित एवं उपयुक्त शब्दों के आधार पर उसी प्रकार निर्मित हुई हैं जिस प्रकार भिन्न भिन्न जातियों और वर्गों के संयोग से इन राष्ट्रों का उत्थान हुआ है। इसी सिद्धान्त के आधार पर हिन्दुस्तानी को केवल हम इसलिये बुरा नहीं कह सकते कि उसे अपढ जनता नहीं समझ पाती, प्रयत्न यह होना चाहिये कि जनता समझदार बन जाय न कि भाषा को दरिद्र बनाना चाहिये। उर्दू को बीम्स साहब तातार एवं अन्य कबीलों की महान् एवं विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई भाषा की सबसे प्रगतिशील एवं शिष्ट शैली समझते थे।[1]

ग्राउस साहब कचहरी की उर्दू शैली को नापसन्द करते थे। आम जनता के लिये लल्लूजी लाल के प्रेमसागर की भाषा शैली को वे सबसे सरल एवम् सुबोध मानते थे। उन्होंने कहा कि आज से पचास साठ वर्ष पूर्व उर्दू का अस्तित्व भी न था। यह बिल्कुल नई गढन्त है। जब कि हिंदी मुसलमानी काल में भी बराबर जनता और सरकार द्वारा समान रूप से व्यवहृत होती रही है। बहुत प्रयत्न के पश्चात् भी यह सम्भव नहीं है कि उर्दू पूर्णतया फारसी हो जाय। अधिक से अधिक वह हिन्दुस्तानी-फारसी हो सकती है। जब कि निष्पक्ष भाव से देशी मूल के शब्द यदि हमारी राष्ट्रीय भाषा शैली में प्रचलित किये जायं तो वह भारत की वास्तविक राष्ट्रीय शैली हो सकेगी। वही सच्ची जन-भाषा भी होगी। बाप और बेटा को साधारण जनता वालिद और पिसर से कहीं अधिक पहचानती है।

१—'I consider it as the most progressive and civilized form of great and widespread language of the horde'.

Beams: 'Outlines of a plea for the Arabic element in official Hindustani'. Journal Royal Asiatic Society 1888 Pt. 1 Article No. 1.

यह कहना सर्वथा असत्य है कि हिन्दी कई भद्दी और ग्राम बोलियों के लिए एक सामूहिक नाम है। स्थानीय भेद होने से किसी भाषा की अन्तः एकता नष्ट नहीं होती।

कचहरी के लिये फारसी की यह शैली स्वीकार कर लेने पर विवश होकर नागरी लिपि भी छोड़ देनी पड़ेगी जो एक सर्वोत्तम वैज्ञानिक लिपि है। फारसी लिपि में हिंदी ध्वनियों का उच्चारण नष्ट ही नहीं होता बल्कि कभी कभी उलट तक जाता है। ग्राउस साहब ने अन्त में इस विवाद के निर्णय के लिये राजा शिवप्रसाद का यह कथन उद्धृत किया कि 'कचहरी की भाषा देश की भाषा नहीं है'[1]। उनका अन्तिम निष्कर्ष यह था कि इस बनावटी शैली को प्रोत्साहन देने से हिंदू अपने गौरवशाली साहित्य से वंचित हो जायेंगे और चूँकि पढ़े लिखे लोग तक इस भाषा से पूर्णतया परिचित नहीं हैं अतः व्यावहारिक रूप से भी बड़ी असुविधा होगी। अज्ञान का पोषण होगा और पूर्व सभ्यता मिट जायगी तथा राष्ट्रीय साहित्य कभी भी विकसित नहीं हो सकेगा[2]।

ग्राउस साहब के उक्त लेख का बीम्स ने पुन. विरोध किया और कट्टरतापूर्वक उर्दू का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि देशवासियों ने अरबी को अपनी भाषा में चुन लिया है और हिन्दी को बहिष्कृत कर दिया है। हिन्दी निम्न वर्ग के लोगों की भाषा है और उसमें भी तमाम अरबी के शब्द घुस गये हैं क्योंकि राष्ट्रीय भावना ने अरबी को संस्कृति का चिह्न मान लिया है। इसके अलावा 'क्वाटरली रिव्यू'[3] से एक अवतरण उद्धृत करके उन्होंने

१—'The language of the court is not the language of the country'

२—F. S. Growse 'Some objections to the new modern style of official Hindustani'. J. R. A. S. 1866 Pt 1 p. 181.

३—'The natives have chosen Arabic and rejected Hindi...it is true that Hindi is the speech of lower classes, but how many Arabic words have invaded

अपने उक्त मत का समर्थन किया और कहा कि फारसी मुसलमानों को दिल से प्यारी है। वे अपने सभी भावों की अभिव्यक्ति के लिए इसी से सहायता लेना पसन्द करते हैं।*

मुसलमान जाति कई कारणों से प्रगति के क्षेत्र में काफी पीछे थी। वहाबी आन्दोलन और गदर के कारण सरकार उनपर शंका करने लगी थी। ऐसे विपरीत वातावरण में मुसलमानों की नव-जागृति का बीड़ा सर सैयद-अहमद खा ने उठाया। उन्होंने अनुभव किया कि मुसलमानों के हृदय में पाश्चात्य विज्ञान और शिक्षा के द्वारा सामाजिक सुधार, जातीय गौरव तथा अधिकार की भावना भरी जा सकती है। उन्होंने ग्राहम को एक पत्र में लिखा था कि मुसलमानों की सम्पूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक बीमारियाँ शिक्षा द्वारा दूर की जा सकती हैं। सन् १८६४ ई० में इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने गाजीपुर में 'ट्रान्सलेशन सोसायटी' की स्थापना की। जिसके द्वारा इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि की अनेक पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद हुआ। यही संस्था बाद में 'साइन्टिफिक सोसायटी' के नाम से अलीगढ में बहुत प्रभावशाली हुई, और मुसलमानी भाषा तथा संस्कृति आदि की प्रबल पोषक हो गई। सैयद साहब ने भी आगे चलकर हिन्दू-मुसलिम ऐक्य वाले पुराने सिद्धात की खोल को उतार फेंका। उन्होंने कहा कि 'मुसलमान

---

even the lowest Hindi, because the National feeling had adopted Arabic as a sign of cultivation. (Beams 'On the Arabic Element of Official Hindustani' J. R. A. S. 1867 pt. I p. 147).

*—'If Hindustani, adopted by us as the future general language of India, is to be a language and not a Jorgan, it must become so by means of its alliance with Persian, the speech all Indian Mohamedans have at their heart and use as the feeder, or channel of other feeders for all their abstract thoughts, their politics, science and poetry.'

'(Quarterly Review No. 334 p. 517) extract.

इस देश के रहने वाले नहीं हैं। वे जहाँ जहाँ गये अपने साथ अपनी जबान और अपना इस्म अदब साथ ले गये। जबान उर्दू और खत फारसी मुसलमानों की निशानी है।' इसके लिये जी जान से प्रयत्न करना चाहिये। एक बार राजा शिवप्रसाद ने 'साइन्टिफिक सोसायटी' के सदस्यों का ध्यान लोक भाषा हिंदी की ओर आकृष्ट किया तो सैयद साहब बिगड़ गये और कहा कि यह एक ऐसी तदबीर है कि जिससे हिंदू मुसलमानों में किसी तरह इत्तफाक नहीं रह सकता। उन्होंने एक पत्र मे लिखा—

'एक और मुझे खबर मिली है जिसका मुझको कमाल रंज और फिक्र है। कि बाबू शिवप्रसाद साहब की तहरीक से अमूमन हिंदू लोगों के दिल में जोश आया है कि जबान उर्दू व खत फारसी को जो मुसलमानों की निशानी है मिटा दिया जाय। मैंने सुना है कि उन्होंने साइन्टिफिक सोसायटी के हिंदू मेम्बरों से तहरीक की है कि बजाय अखबार उर्दू हिंदी हो, तरजुमः कुतुब भी हिंदी हो। यह एक ऐसी तदबीर है कि हिंदू मुसलमान में किसी तरह इत्तफाक नहीं रह सकता। मुसलमान हरगिज हिंदी पर मुत्तफिक न होंगे और अगर हिंदू मुस्तैद हुए और हिंदी पर इसरार हुआ तो वह उर्दू पर मुत्तफिक होंगे और नतीजः इसका यह होगा कि हिंदू अलहदः मुसलमान अलहदः हो जावेंगे[१]।'

राजा शिवप्रसाद ही उस समय हिंदी भाषा और नागरी लिपि के पक्ष में खड़े हुए। सन् १८६८ ई० का उनका पहला लिपि सम्बन्धी आवेदन उर्दू भाषा और फारसी लिपि का स्पष्ट विरोधी है। पर धीरे धीरे राजनीतिक कारणों से उनका स्वर मन्द पड़ता गया और वे भी हिंदुस्तानी के समर्थक हो गये। अपने मेमोरंडम में उन्होंने कहा था कि फारसी के अध्ययन से हमारी भावनायें दूषित हो जाती हैं और राष्ट्रीयता नष्ट हो जाती है। उस दिन का बुरा हो जिस दिन मुसलमानों ने सिंध पार किया। हमारे अन्दर इन्हीं लोगों के कारण सारी बुराइयाँ आई हैं। मर्दानगी पहली चीज है जो इनके कारण इस देश से गायब हो गई[२]।

१—खतूत सर सैयद—'सैयद रास मसूद, निजामी प्रेस बदायूं सन् १९२४, पृ० ८८-८९।

२—"To read persien is to become persianized, all our ideas become corrupt and our nationality is

उन्होंने हिंदी प्रदेश के अंतर्गत बिहार, पश्चिमोत्तर प्रदेश, राजपूताना, पंजाब और मध्य भारत के कुछ हिस्सों को माना है। इस प्रदेश में बोली जानेवाली विभाषाओं और बोलियों को हिंदी के अंतर्गत लिया है। इनमें से दिल्ली और मथुरा प्रांत की बोलियों से विकसित भाषा शैली को आदर्श शैली मान कर शिवप्रसाद जी उसी का प्रचार चाहते थे। उन्होंने लिखा है कि जब मुसलमान भारत आये उस समय यहाँ सर्वत्र नागरी लिपि का व्यवहार होता था। उनके आने पर फारसी लिपि और भाषा को राजकीय गौरव मिला और धीरे धीरे शासन, प्रभाव और जीविका के लिए फारसी का ज्ञान 'पासपोर्ट' माना जाने लगा। इसलिए बहुत से हिंदुओं ने उसी तरह फारसी में योग्यता प्राप्त की जिस प्रकार आज वे अँग्रेजी में प्राप्त कर रहे हैं। फिर भी फारसी कभी जनता की भाषा नहीं हो सकी। मुगलों का अंत होने पर फारसी से उर्दू शैली का विकास हुआ और अंग्रेजी सरकार ने इस विदेशी भाषा और लिपि को हिंदुओं के ऊपर लाद दिया[1]। थोड़े से अमलों

---

lost, cursed be the day which saw the Muhammadans cross the Indus, all the evils which we find amongst us we are indebted for our 'beloved bretheren' the Muhammadans. Manliness is the first thing which they have entirely extinguished from the land."

(Shiv prasad. Memorandum Court Character in the upper provinces of India, 1868 p. 1)

१—सन् १८६१ ई० में 'स्वयम्बोध उर्दू' नामक पुस्तिका में उन्होंने लिखा था कि 'उर्दू को उसी तरह अटकल से सोच समझ कर पढ़ना पड़ता है कि जिस तरह पर महाजन लोग मुड़िया, अर्थात् बिना मात्रा के हिंदी हर्फों को अटकल से जोड़ जोड़ कर पढ़ लेते हैं।'

शिवप्रसाद—'स्वयम् बोध उर्दू' १८६१ ई० पृ० १५।

'The Government voting that English is not the language for the Masses, are thus unconsc-

की सुविधा के लिए जो यह अन्याय पूर्ण कार्य हो रहा है उसमें अनेक दोष हैं। इसके स्थान पर नागरी प्रचार से जो अनेक लाभ होंगे उनमें सर्व श्रेष्ठ यह है कि हिंदू राष्ट्रीयता पुनः जाग्रत हो सकेगी। सबकी भाषा एक हो जाने से परस्पर संगठन होगा। कचहरी के कागज पत्र सर्व साधारण को सुलभ हो सकेंगे और शिक्षा का प्रतिशत शीघ्र ही बढ जायगा। उत्तम हिन्दी साहित्य की वृद्धि होगी और सम्पूर्ण उत्तरी भारत एक राष्ट्रीय भाषा के सूत्र में बंध कर एक हो जायगा। अत. अन्त में उन्होंने साग्रह निवेदन किया है कि जिस प्रकार कचहरी से फारसी भाषा हटाई गई उसी प्रकार फारसी लिपि भी हटा कर उसके स्थान पर हिन्दी भाषा और लिपि जारी की जाय।

मुसलमानी विरोध और सरकारी नीति के कारण बाद में राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति क्रमशः बदलती गई। वही राजा साहब जिन्होंने अपने 'भूगोल हस्तामलक' (सन् १८५५) में लिखा था......हम उस अवस्था को ध्यान करते हैं जब गाव गाव में पाठशाला बैठ जावेंगे, और हमारे सारे स्वदेशी अपनी बोली में सुगम रीति से समस्त विद्या उपार्जन कर... भारत वर्ष की उन्नति में प्रवृत्त होंगे[१]।' बाद में (सन् १८७५ ई०) हिन्दी व्याकरण की भूमिका में हिन्दुस्तानी का समर्थन करते हुए लिखा कि हिन्दुस्तानी हमारे अंग्रेज अधिकारियों की रुचि के अनुकूल होगी जो उत्तरी भारत के हिन्दू मुसलमानों की भाषा में योग्यता प्राप्त करना चाहते

---

iously forcing another foreign language namely persian, or I may say semi persian, the Urdu, in persian character, upon the helplass masses, in fact doing what ever the Muhammadan Emperors of Delhi never thought to do.'

Shiv Prasad-Memorandum p. 1.

१—राजा शिवप्रसाद—'भूगोल हस्तामलक' सन् १८५५ संस्कृत प्रेस, कलकत्ता पृ० ३,४।

हैं[१]। उन्होंने अन्य सभी मार्गों को बन्द देख मुसलमानों को प्रसन्न रखते हुए अंग्रेजी नीति से प्रभावित होकर नागरी लिपि में हिन्दुस्तानी का प्रचार ही सम्भव समझा और भाषा का इतिहास में लिखा 'हम लोगों को जहा तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिये जो कि आम फहम और खास पसन्द हो। अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं। और जो यहा के पढे लिखे, आलिम फाजिल, पंडित, विद्वान् की बोलचाल में छोड़े नहीं गये है। और जहा तक बन पड़े हम लोगो को हरगिज गैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिये और न सस्कृत की टकसाल कायम करके नये नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिये, जबतक कि हम लोगो को उसको जारी करने की जरूरत न साबित हो जाय[२]।'

वे 'बैताल पचीसी' की भाषा को आदर्श मानने लगे और 'इतिहास तिमिर नाशक' (१८८३) की भूमिका में लिखा कि उर्दू हम लोगों की न केवल कचहरी जबान बल्कि मादरी जबान होती जा रही है। और पश्चिमोत्तर प्रदेश में थोड़ा बहुत सभी लोग उसे बोलते हैं[३]। 'इतिहास तिमिर नाशक' के तीनों भागों की भाषा क्रमशः उर्दू ग्रस्त होती गयी है। और भाषा के क्षेत्र में उनकी बदलती हुई मनोवृत्ति का अच्छा परिचय देती है। उदाहरण स्वरूप 'इतिहास तिमिर नाशक' की कुछ पंक्तिया देखिये—

१—it may be serving the interest of English officers who desire to attain excellence in the use of the common speech of Hindu and Musalman of upper India'.

Shiva Prasad, *Hindi Vyakaran*, *1875*, Preface.

२—शिवप्रसाद—भाषा का इतिहास, हिन्दी भाषा सार पृ० ५९।

३—Urdu is now becoming our mother tongue and is spoken more or less and well or badly, by all in the North-Western Provinces.'

(Shiv prasad—Itihas Timir Nashak 1883 Pt. 1 Preface.)

बाबर बेशक 'एशिया' के अच्छे बादशाहों में था। अच्छा क्या यह तो कोई अजीब बुजुर्ग हो गुजरा। सजा बड़ी देता था। पर बेमबब कभी किसी को नहीं सताता था। अपना सारा हाल अपने हाथ से एक तुर्की किताब में लिख गया है। लाइक देखने के हैं। वह लिखता है कि ऐसा सुख मैंने उम्र भर नहीं पाया जैसा कुछ दिन समरकन्द छोड़ने पर मिला[1]।'

हिन्दी भक्त राजा शिवप्रसाद को इस तरह बदला देख कर उनकी भाषा नीति का राजा लक्ष्मण सिंह ने विरोध किया। फिर भी उन्होंने आरंभ में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के लिए जो प्रयत्न किया था उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। उसने लोगों को प्रेरणा दी। हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के लिए माग बढी। सन् १८८२ ई० में हण्टर कमीशन के सामने हजारों हस्ताक्षरों के साथ जोरदार ढंग से यह माग प्रस्तुत की गई। परन्तु सैयद साहब कमीशन के प्रभावशाली सदस्य थे और उन्होंने कमीशन को समझा दिया कि यह मामला एजूकेशन कमीशन से सम्बद्ध नहीं है बल्कि एक राजनैतिक मामला है। इस पर कमीशन को विचार करने का अधिकार नहीं है[2]। फलतः जनता की माँग ठुकरा दी गई।

जन भाषा हिंदी और नागरी लिपि के आंदोलन की प्रेरणा कुछ बिहार से भी मिली। सन् १८८१ ई० में वहाँ हिंदी प्रचार का आज्ञा मिल गई। उस समय बंगाल के गवर्नर सर जार्ज कैम्पबेल थे उन्होंने जन-साधारण में शिक्षा प्रचार का प्रयत्न करते हुए यह अनुभव किया कि यह कार्य तब तक सम्भव न होगा जब तक इस देश की भाषा हिंदी का प्रचार कचहरियों और दफ्तरों में न हो जाय। बेलारी के कलक्टर की हैसियत से सन् १८२४ में ही उन्होंने शिक्षा प्रचार का कार्य किया था और तत्कालीन गवर्नर

१—शिवप्रसाद-'इतिहास तिमिर नाशक' पार्ट ३, गवर्नमेंट छापाखाना इलाहाबाद, सन् १८७७ पृ०।

२—'यह मसलह एजूकेशन कमीशन से कुछ एलाकह नहीं रखता, बल्कि एक बहुत बड़ा पोलिटकल मसलह है। जिसके साथ गवर्नमेंट के मसालह मुल्की वाबस्तह है। पस इसकी बहस एजूकेशन कमीशन से कुछ एलाकह नहीं रखती।' सरसैयद अहमद-(हयात जावेद-प्रथम भाग पृ० १४२)

थामस मुनरो को जो रिपोर्ट दिया उसमें उन्होंने लिखा था कि शिक्षा और साहित्य की भाषा यहाँ की बोलचाल की भाषा से भिन्न है। यह शिक्षा प्रचार के लिए एक अभिशाप है। कैम्पबेल भारत में बहुत समय से थे और यहाँ की परिस्थितियों से पूर्ण परिचित थे। उर्दू की असलियत भी उन्हें भली भाँति ज्ञात थी। उर्दू के संबंध में उन्होंने लिखा है कि 'किताबों में चाहे इस जबान के मुतल्लिक कोई कुछ लिखे लेकिन हकीकत यह है कि यह उर्दू जबान अहलदरबार और देहली के तवायफों की जबान है। इसको मुल्क की मुरव्वज जबान नहीं कह सकते। मैंने पूरा इरादा कर लिया है कि जहाँ तक मेरा बस चलेगा इस जबान की तालीम को जो हमारे मदरसों में दी जाती है, रोकने की कोशिश करूँगा[1]।' भाषा के सिवा उर्दू लिपि का अनर्थ भी आये दिन लोगों को भुगतान पड़ता था। कहा जाता है कि मोकामा घाट पर उन्हें किश्तियों की जगह लिपि की गड़बड़ी के कारण कस्सियाँ तैयार मिलीं। तुरन्त ही उस लिपि को हटाने का आदेश दिया गया। इस सुधार का यह फल हुआ कि सन् १८७२ ई० में जब कि प्रायमरी स्कूलों में कुल विद्यार्थियों की संख्या ३२४३० थी वह सन् १८९६ ई० में बढ़कर २६०४७१ हो गई। मध्यप्रदेश में भी १८८१ ई० में नागरी का प्रचार हो गया। वहाँ भी इस परिवर्तन का शिक्षा पर शुभप्रभाव पड़ा। नागरी प्रचार के दस वर्ष बाद पाठशालाओं में विद्यार्थियों की संख्या ४५००० से अधिक हो गई। परन्तु इस अवधि के बीच आगरा वा अवध में विद्यार्थियों की संख्या बराबर घटती रही और दस बारह वर्षों में करीब ५० हजार घट गई।

प्रान्त के शिक्षा और सामाजिक उन्नति की इस बाधा को सभी विचार-शील लोग हटाने के लिये चिन्तित थे अतः नागरी के लिये आन्दोलन किया गया। तमाम अर्जियाँ दी गईं। प्रचारात्मक साहित्य रचा गया और जनता को जागृत किया गया। बलिया की सभा में भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा पर अपना प्रसिद्ध भाषण दिया। वहीं पर देवाक्षर चरित्र प्रहसन अभिनीत किया गया। जिसमें उर्दू लिपि के गड़बड़ी के दृश्य दिखाये गये। बलिया के कलक्टर रोज साहबसे यहाँ की जनता के नागरी लिपि के लिये प्रार्थना की—

१—'उर्दू' जुलाई सन् १९३८ पृ० ५२०।

हमनी के देस के कुदसा दुख देखि देखि
हमनी का देसे देवनागरी चलावता।

❀ ❀ ❀

उरदू बदलि देवनागरी अछर चले, इहे एगो साहेब से एगो घरी अरज बा।'

सचमुच ही उर्दू लिपि से देश की बड़ी दुर्दशा हो रही थी। विद्यार्थियों को बड़ा श्रम करना पड़ता था और शिक्षा का ह्रास हो रहा था। हिन्दुओं में ही नहीं उर्दू लिपि के कारण मुसलमानों में भी शिक्षा का प्रतिशत बहुत घट गया था[१]।

सन् १८८५ ई० में राम गरीब चौबे ने 'नागरी विलाप' नाम से 'करुण रस का एक अपूर्व रूपक' लिखा। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था कि 'जब विलाप सुनियेगा तो स्वयम् 'आपको वक्त हो जायगा'। वस्तुतः नागरी विलाप ने नागरी की दुर्दशा की ओर बहुत लोगों का ध्यान आकृष्ट किया।

व्यक्तिगत रूप से नागरी प्रचार के लिए मेरठ के गौरीदत्त की सेवायें भी स्मरणीय हैं। उन्होंने नागरी के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर दिया और गाव-गांव नागरी का झण्डा लेकर उसका प्रचार किया। उन्होंने मेरठ नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की और वहां से नागरी लिपि में उसकी अच्छाइयों पर प्रकाश डालने वाली अनेक पुस्तिकाओं का प्रकाशन कराया। उनका रचा हुआ 'नागरी और उर्दू का स्वांग' बहुत पसन्द किया गया। इसमें महारानी नागरी ने उर्दू बीबी के विरुद्ध दावा दाखिल कर अपना न्यायोचित हक मांगा है। इस 'स्वांग के अलावा उन्होंने नागरी का

१—सैयद अली बिलग्रामी ने लिखा है—

'हमारी पाठशाला के बालकों को केवल शुद्धतापूर्वक पढ़ना सीखने में दो वर्ष लग जाते हैं।...पढ़े लिखे आदमियों की अधिक संख्या उन्हीं मुसलमानों में है जिन्होंने अपने को इस दूसरी जाती के अक्षरों के बन्धन से निर्मुक्त कर लिया है, अर्थात् सिन्ध, बम्बई और बंगाल के मुसलमानों में, जो अपनी भाषा को सिन्धी, गुजराती और बंगला के आर्य अक्षरों में पढ़ते हैं।'

(सरस्वती जून सन् १९०० संख्या ६ भाग १)।

दफ्तर, देवनागरी की पुस्तक, अक्षर दीपिका, गौरी-नागरी-कोष आदि कई पुस्तकें लिखीं।

नागरी प्रचार एवम् हिन्दी की समृद्धि के लिए किये गये अनेक प्रयत्नों में काशी नागरी प्रचारिणी की स्थापना (संवत् १६५०) एक महत्वपूर्ण घटना है। सर्व प्रथम सभा ने नागरी का कचहरी में प्रवेश कराना ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाया। और सन् १८६५ में जब छोटेलाट मैकडानल काशी आये तो सभा ने नागरी प्रचार के लिए एक आवेदन पत्र दिया। सभा का एक बड़ा प्रभावशाली डेपुटेशन जिसमें मदन मोहन मालवीय के अलावा सर सुन्दरलाल, राजा माड़ा, राजा आवागढ आदि प्रभावशाली व्यक्ति थे, लाट साहब से मिला। इस डेपुटेशन के अध्यक्ष अयोध्या नरेश महाराजा प्रताप नारायण सिंह थे। डेपुटेशन ने हजारों हस्ताक्षरों से युक्त एक मेमोरियल भी प्रेषित किया।

मदनमोहन मालवीय ने स्वतन्त्र रूप से एक विद्वता पूर्ण पुस्तक 'कोर्ट करेक्टर एण्ड प्राइमरी एजूकेशन' (सन् १८६७) नाम से लिखी। इसका भी सरकार पर बड़ा नैतिक प्रभाव पड़ा। इस पुस्तक में उर्दू भाषा तथा शिकस्त लिपि के दोषों को युक्ति पूर्वक बहुत प्रभावशाली ढंग से दिखाया गया। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने सर मोनियर विलियम, ब्लाक मेन, डा० ग्रिगस, प्रो० डाउसन, राजा शिवप्रसाद, डा० राजेन्द्रलाल मित्र और बाबू हरिश्चन्द्र आदि के प्रमाण प्रस्तुत किये। नागरी लिपि की वैज्ञानिकता, सर्वजन सुलभता एवम् सरलता आदि के पक्ष में भी उन्होंने विलियम जोन्स, सर आइजक पिटमैन और सर पैरी आदि के कथन उद्धृत किये[1]। इन तमाम प्रयत्नों का बहुत लम्बे अरसे के बाद यह शुभ फल हुआ कि लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर मैकडानल ने अपने आदेश (नं० ५८५।III ३४३–८६८,१८ अप्रैल १६००) द्वारा नागरी को भी उर्दू के साथ कचहरी और दफ्तरो में समानाधिकार प्रदान कर दिया। यद्यपि कार्यरूप में आदेश का पालन बहुत काल तक नहीं किया गया।

१—मदन मोहन मालवीय—'कोर्ट करेक्टर ऐण्ड प्राइमरी एजूकेशन' इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १८९७।

[illegible]न्दी गद्य साहित्य का विकास

कचहरी और सरकारी दफ्तरों तथा पाठशालाओं में तो हिंदी के स्थान पर उर्दू फूलती फलती रही पर स्वतन्त्र रूप से हिन्दी गद्य साहित्य का प्रचार और विकास भी होता रहा। हिन्दी गद्य प्रचार के दो मुख्य कारण थे, एक तो विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलन जो सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्रों में चल रहे थे जिनकी अभिव्यक्ति मुख्य रूप से हिन्दी गद्य के माध्यम से हो रही थी, दूसरे प्रेस और उनसे प्रकाशित समाचार पत्र, जिनमें विभिन्न आन्दोलन प्रकाशित होते थे।

सामाजिक आन्दोलनों में ब्रह्म समाज द्वारा बंगाल में हिन्दी गद्य की सेवा का संकेत किया जा चुका है। इसके अलावा पंजाब में हिन्दी प्रचार का स्तुत्य प्रयास नवीन चन्द्र राय ने किया। सन् १८६३ से ७० के बीच आपने हिन्दी प्रचार, शिक्षा प्रचार और समाज सुधार के लिए पंजाब में बड़े उत्साह से कार्य किया। उन्होंने मार्च सन् १८६७ ई० से इन आन्दोलनों के प्रचारार्थ 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' भी प्रकाशित की। वहा पर शिक्षा विभाग के द्वारा इन्होंने हिन्दी प्रचार का कार्य किया। इन्हें मुसलमानों के विरोध का बराबर सामना करना पड़ा। उर्दू के प्रचलित होने के तमाम दोष ये बराबर अपने लेखों और भाषणों द्वारा लोगों को बताया करते थे। वे उर्दू को आशिकी कविता के अतिरिक्त और किसी गम्भीर विषय के लिये उपयुक्त नहीं मानते थे।

हिंदी प्रचार को अपने आंदोलन का अंग बनाकर चलने वाला दूसरा प्रभावशाली सामाजिक आंदोलन 'आर्यसमाज' का था। स्वामी दयानन्द जी ने आर्यसमाजियों के लिये हिंदी जानना अनिवार्य कर दिया था और स्वयं 'सत्यार्थ प्रकाश' हिंदी गद्य में लिखा। वाद विवाद, खंडन मंडन और शास्त्रार्थ से हिंदी गद्य में बल आया तथा उसका प्रचार यू० पी०, पंजाब आदि स्थानों में हुआ। सन् १८६३ ई० के आसपास पंजाब में एक दूसरे विलक्षण प्रतिभाशाली महापुरुष श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और लेखों की बड़ी धूम थी। 'सत्यामृत प्रवाह' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। सन् १८८१ ई० में अपनी मृत्यु के समय इन्होंने कहा था 'भारत में भाषा के दो लेखक थे एक काशी में दूसरा पंजाब में। काशी के लेखक से उनका

शिवप्रसाद का अखबार बनारस (जनवरी सन् १८४५) था। यह बड़े रद्दी कागज पर लीथो से छपता था। इसके सम्पादक गोविन्द रघुनाथ थत्ते थे। इस पत्र की भाषा नीति राजा शिवप्रसाद की भाषा नीति से शासित होती थी। उर्दू और हिंदी की खिचड़ी शैली में सम्पादकीय टिप्पणी का एक नमूना देखिये–

'यहां जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहेब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है। उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बन्ने का निशान तैयार पहिले मुंदर्ज है सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही और मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है[1]।'

इसकी ऐसी भाषा को ही लक्ष्य करके काशी के प्रसिद्ध पारसी ज्ञाता मुं० शीतलसिंह ने कहा था—

'बनारस में इक जो बनारस गजट है
इबारत सब उसकी अजब अटपट है।'

बनारस अखबार की देखा-देखी सिमला अखबार, मालवा अखबार आदि पत्र भी उर्दू लिपि और खिचड़ी भाषा में निकले और शीघ्र ही बन्द हो गये। शिक्षा विभाग की यह भाषा-नीति उसके प्रभावान्तर्गत प्रकाशित पत्रिकाओं की भाषा को बहुत बाद तक शासित करती रही। सन् १८७६ ई० में एक दूसरे इन्सपेक्टर लक्ष्मीशंकर मिश्र के सम्पादन में काशी पत्रिका निकली। इसको आरम्भ में बालेश्वर प्रसाद ने शुरू किया था। परन्तु उनके डिप्टी कलक्टर होने के बाद लक्ष्मीशंकर मिश्र ने उसका प्रकाशन भार उठा लिया। इसमें स्कूली विषय छपते थे। छात्र एवम् अध्यापक ही इसके ग्राहक होते थे। इसकी भाषा प्रायः उर्दू जैसी ही होती थी। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियां देखिये—

'हवा एक साफ चीज है जो नजर नहीं आती जिसमें मजा और बू नहीं होती जो हरवक्त सिमट सकती है फैल सकती और हर तरफ हरकत कर सकती है[2]।'

१—राधाकृष्ण दास–'हिंदी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास'।

२—'वायु मंडल का बयान' (काशी पत्रिका २९ जुलाई, १८८१ पृ० ३५६)।

अभिप्राय भारतेंदु हरिश्चंद्र से था और पंजाब में वे स्वयं थे। वस्तुतः वे अपने समय के एक ही लेखक और वक्ता थे। इनके भाषणों के प्रभाव से पंजाब की हिन्दू जनता ने मुसलमानी प्रभाव और भाषा (उर्दू) को छोड़कर हिंदी भाषा और हिंदू धर्म के प्रति श्रद्धा करना सीखा।

पत्र-पत्रिकायें—हिंदी साहित्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन बहुत सहायक हुआ। सम्पूर्ण सांस्कृतिक एवम् सुधारवादी चेतना हिन्दी गद्य के माध्यम से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर जनसाधारण के पास पहुँची। सभी प्रभावशाली सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने अपने अपने पत्र प्रकाशित किये और उनके द्वारा अपनी आवाज जनता तक पहुँचायी। मुद्रण यंत्रों के प्रचार से पत्रों का प्रकाशन सरल हो गया था। आरम्भ में सिरामपुर के मिशनरियों में विलियम केरे और विल्किन्सन ने तथा फोर्ट विलियम कालेज में गिलक्रिस्त ने हिंदी टाइप ढालने तथा छापेखाने के प्रचलित करने का कार्य किया। वहीं से पत्र-पत्रिकायें भी निकलीं।

हिंदी का सर्व प्रथम पत्र 'उदंत मार्तंड' सन् १८२६ ई० में युगलकिशोर शुक्ल ने कलकत्ते से प्रकाशित किया। यह पत्र साप्ताहिक था और ग्राहकों की कमी के कारण १८२७ में बन्द हो गया। इसके पूर्व राजा राममोहनराय ने अपने मत प्रचार के लिये बंग दूत का हिंदी संस्करण वहीं से प्रकाशित किया। बंगला पत्र 'समाचार दर्पण' के २१ जून सन् १८३४ के अंक में एक अन्य हिंदी पत्र 'प्रजामित्र का विज्ञापन'' प्रकाशित हुआ था पर इसके प्रकाशन का कोई विवरण नहीं मिलता। बंगला पत्रों के इतिहास का विशेष अध्ययन करने वाले श्री ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी ने बताया है कि युगलकिशोर शुक्ल ने 'उदंत मार्तंड' के बंद होने पर एक दूसरा हिंदी पत्र 'साम्यदंत मार्तंड' भी प्रकाशित किया था। जून सन् १८५४ में कलकत्ते से श्यामसुंदर सेन ने प्रथम दैनिक हिंदी समाचार पत्र 'समाचार सुधा वर्षण' प्रकाशित किया। यह कई वर्षों तक चला और कलकत्ते के नेशनल लाइब्रेरी में सन् १८५५-५६ की कुछ संख्यायें सुरक्षित हैं। जिस समय कलकत्ते से बंगला के साथ लोक भाषा होने के कारण हिंदी में इतने पत्र प्रकाशित हो रहे थे उस समय मूल हिंदी प्रदेश में उर्दू हिंदी विवाद उठ खड़ा हुआ। कचहरी और दफ्तरों के अलावा शिक्षा विभाग की पाठ्य पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की भाषा भी उर्दू हो रही थी। हिंदी प्रदेश से प्रकाशित प्रथम पत्र राजा

शिवप्रसाद का अखबार बनारस (जनवरी सन् १८४५) था। यह बडे रद्दी कागज पर लीथो से छपता था। इसके सम्पादक गोविन्द रघुनाथ थत्ते थे। इस पत्र की भाषा नीति राजा शिवप्रसाद की भाषा नीति से शासित होती थी। उर्दू और हिंदी की खिचड़ी शैली में सम्पादकीय टिप्पणी का एक नमूना देखिये–

'यहां जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहेब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है। उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बन्ने का निशान तैयार पहिले मुद्दर्जे है सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही और मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है[१]।'

इसकी ऐसी भाषा को ही लक्ष्य करके काशी के प्रसिद्ध फारसी ज्ञाता मु० शीतलसिंह ने कहा था—

'बनारस में इक जो बनारस गजट है
एबारत सब उसकी अजब अटपट है।'

बनारस अखबार की देखा देखी सिमला अखबार, मालवा अखबार आदि पत्र भी उर्दू लिपि और खिचड़ी भाषा में निकले और शीघ्र ही बन्द हो गये। शिक्षा विभाग की यह भाषा नीति उसके प्रभावान्तर्गत प्रकाशित पत्रिकाओं की भाषा का बहुत बाद तक शासित करती रही। सन् १८७६ ई० में एक दूसर इन्सपक्टर लक्ष्मीशंकर मिश्र के संपादन में काशी पत्रिका निकली। इसका आरम्भ म बालेश्वर प्रसाद ने शुरू किया था। परन्तु उनके डिप्टी कलक्टर होने के बाद लक्ष्मीशंकर मिश्र ने उसका प्रकाशन भार उठा लिया। इसमें स्कूली विषय छपते थे। छात्र एवम् अध्यापक ही इसके ग्राहक होते थे। इसकी भाषा प्राय उर्दू जैसी ही होती थी। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तिया देखिये—

'हवा एक साफ चीज है जो नजर नहीं आती जिसमें मजा और बू नहीं होती जो हरवक्त सिमट सकती है फैल सकती और हर तरफ हरकत कर सकती है[२]।'

१—राधाकृष्ण दास–'हिंदी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास'।

२—'वायु मंडल का बयान' (काशी पत्रिका २९ जुलाई, १८८१ पृ० ३५६)।

सन् १८५० ई० में हिंदी प्रचार की दृष्टि में रखते हुये शुद्ध हिंदी भाषा का प्रथम पत्र 'सुधाकर' काशी से निकला। परन्तु इसका कोई स्थायी प्रभाव न पड़ सका। इसी समय आगरे से सदासुखलाल के संपादकत्व में 'बुद्धि प्रकाश' प्रकाशित हुआ। इसमें सरकारी सूचनाएं प्रकाशित होती थीं और यह उस समय का एक मान्य पत्र था। इसकी भाषा भी बहुत ही सरल तथा स्पष्ट हिंदी होती थी यथा—

'यहां का रेशम ऐसा नहीं होता जैसा चीन का होता वरन् फ्रान्स और लम्बाई के रेशम से भी कुछ उतरता है जो रेशम कि बंगाले और चीन का बम्बई के मार्ग पंजाब में आता है उसका मोल यहाँ बुखारा के रेशम सें आधा होता है।'[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—ने हिंदी क्षेत्र में आते ही हिंदी प्रचार को एक सामूहिक क्रांति के रूप में बड़े उत्साह के साथ सम्पूर्ण हिंदी प्रदेश में चलाया। उनके नेतृत्व में लेखकों और पत्रकारों का एक बड़ा दल हिंदी गद्य के निर्माण, विकास एवम् संवर्द्धन में लग गया। इस कार्य को सफलता पूर्वक संपादित करने के लिये भारतेंदु ने स्वयं कई पत्र निकाले और उनके प्रोत्साहन से उनके मित्रों ने भी बहुत से पत्र प्रकाशित किये। इन पत्रों में प्रचार साहित्य के अलावा बँगला, अंग्रेजी और संस्कृत साहित्य से उपन्यास, निबंध, लेख, नाटक आदि अनूदित होकर हिंदी गद्य में प्रकाशित हुए। अनेक मौलिक नाटक, प्रहसन और लेख आदि लिखे जाने लगे। सारांश यह कि हिंदी साहित्य की सर्वांगीण उन्नति आरम्भ हुई और हिंदी गद्य का व्यापक प्रयोग बढ़ा।

उन्होंने साधु भाषा में सन् १८७३ ई० में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का प्रकाशन किया। इसके पूर्व सन् १८६८ ई० में ही उन्होंने 'कवि वचन सुधा' प्रकाशित किया था पर सत् कविता का उद्धार एवं सवर्द्धन तथा काव्य भाषा का परिष्कार ही इसका मुख्य उद्देश्य था।[2] हिंदी गद्य शैली का

१—'पंजाबी रेशम का वर्णन' 'बुद्धिप्रकाश' जिल्द ३ नं० ९, १० मार्च १८५३।

२—कविवचन सुधा का सिद्धान्त वाक्य था—

'तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं।'

नूतन निर्माण एवम् सम्यक प्रचार 'हरिश्चंद्र मेगजीन' या 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' द्वारा ही हुआ। उन्होंने कालचक्र में लिखा 'हिन्दी नये चाल मे ढली, १८७३'। हरिश्चन्द्र मैगजीन के मुख पृष्ठ पर लिखा होता था कि इसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक और धार्मिक विषय और पुरातत्व के शोध, नाटक, इतिहास, उपन्यास, काव्य-संग्रह, हास्यविनोद आदि विविध विषय प्रकाशित होंगे। इतने बहुमुखी विषय की अभिव्यक्ति हिन्दी गद्य में प्रस्तुत करने का प्रयत्न इसके पूर्व किसी पत्रिका ने नहीं किया। मैगजीन का प्रथम अंक देखने से ही इसका विषय—विविधता एवम् व्यापकता का परिचय मिलता है। मैगजीन के प्रथम अंक में 'हिन्दी भाषा' पर एक लेख अंग्रेजी में छपा। जिसमें हिन्दी भाषा का रूप निर्धारित करते हुए उसके उद्देश्य के बारे में कहा गया कि 'हमारी भाषा का प्रथम उद्देश्य विचारों को सर्वजन हिताय प्रकृत और सरल ढग से प्रकट करना ही है। ऐसा भी एक निरपेक्ष सामजस्य है जो मनमानी भरती के अरबी फारसी प्रयोगों और शब्दों से उतना ही विचार वैमनस्य रखता है, जितना संस्कृत की तत्सम शब्दावली से।'

उर्दू हिन्दी विवाद और नागरी आन्दोलन पर भी स्वतन्त्र अथवा मौलिक लेख निकले या अंग्रेजी पत्रों से उद्धृत किये गये और उनका सिंहावलोकन किया गया। जनवरी १८७४ ई० के बंगाल मैगजीन से 'कामन हिन्दुस्तानी' नामक लेख प्रथम अंक में उद्धृत किया गया। कैम्पबेल साहब ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में हिन्दी को भी स्थान देना चाहा था पर अधिकारियों ने उर्दू के कारण इसका विरोध किया। उक्त लेख में कहा गया था कि यह विरोध हमारे राष्ट्रीय जीवन की हत्या है जब हिन्दी द्वारा रायपुर और बिलासपुर में सरकारी कामकाज हो सकता है तो किस आधार पर यहाँ के सरकारी कर्मचारी और कचहरी के अमले कहते हैं कि हिन्दी सरकारी कामकाज के उपयुक्त नहीं है। इस लेख में राजा शिवप्रसाद पर भी व्यंग किया गया था कि देशी इन्सपेक्टर भी उर्दू में पुस्तकें लिख कर उन्हें पाठशालाओं में प्रचलित करते हैं और हिंदी की हत्या करते हैं। लेख के अन्त में बंगाल के गवर्नर कैम्पबेल और लार्ड नार्थ-ब्रुक से हिंदी को राज भाषा पद देने के लिए साग्रह निवेदन किया गया था। उसी अंक में सिरसा के काशीनाथ खत्री ने नागरी लिपि के लिए अंग्रेजी में

एक लघु लेख लिखा जो अलीगढ गजट में प्रकाशित नागरी के विरुद्ध एक लेख का प्रतिवाद था। इसमें कहा गया था कि किसी भी भाषा ने विदेशियों की लिपि के लिये कभी अपनी लिपि नहीं छोड़ी। जिस तरह हिंदी को आज फारसी लिपि में लिखने की माग हो रही है उसी तरह आज से कुछ वर्ष पश्चात् रोमन में भी लिखने की माग होगी। अन्त में लिखा कि नागरी लिपि का प्रयोग करने से सर्वाधिक लोगों का सर्वोत्तम लाभ होगा। उन्होने १५ मार्च, १८७४ के मैगजीन में एक सक्षिप्त लेख "गवर्नमेन्ट गिभिंग अनड्यू इम्पारटैन्स टू मोहम्मडन्स" में लिखा कि सरसैयद के प्रयत्न से सरकार ने अरबी पाठशालाओं को १०००० रुपये का अनुदान दिया है, यह तो खैर ठीक है पर उनके लिये नौकरी सुरक्षित रखना, उन्हें सर्वत्र प्राथमिकता देना और सस्कृत पाठशालाओं को अरबी मकतबों के समान सुविधा न देना सिद्ध करता है कि सरकार मुसलमानों के प्रति अनुचित पक्षपात करती है। साराश यह कि उस समय मुसल्मानी विरोध की प्रवृत्ति बढ रही थी क्योंकि मुसलमानो की ओर से साम्प्रदायिक भावना का परिचय सरसैयद खा पहले ही दे चुके थे और हिंदी का न्यायोचित स्थान अन्यायपूर्वक उर्दू ने दखल कर रखा था। जून सन् १८७४ ई० के हरिश्चद्र चन्द्रिका में हरिश्चन्द्र का प्रसिद्ध 'स्यापा'[1] निकला जो उर्दू और उसके समर्थकों पर तीखा व्यग्य है। उस समय की राष्ट्रीय भावना एक प्रकार की जातीय भावना था। हिन्दुत्व के साथ हिंदी के सम्मान की भावना बढ रही थी। प्रतापनारायण मिश्र ने तो 'हिंदी, हिंदू हिंदुस्तान' का नारा ही अपना लिया था। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर से सन् १८८३ में 'ब्राह्मण' निकला। लाला श्रीनिवासदास ने दिल्ली से सवत् १९३१ में 'सदादर्श' साप्ताहिक पत्र निकाला। तोताराम ने (१९३३) 'भारतबन्धु', कन्हैयालाल ने (सवत् १९३४) मित्र विलास, देवकी नन्दन तिवारी ने (सवत् १९४०) प्रयाग समाचार, राधाचरण गोस्वामी ने (सवत् १९४१) 'भारतेन्दु', चौधरी प्रेमघन ने (सवत् १९३८) 'आनन्द कादम्बिनी' और अम्बिकादत्त व्यास ने (सवत् १९४१) 'पीयूष प्रवाह' तथा बालकृष्ण भट्ट ने (सन् १८७७) 'हिंदी प्रदीप' पत्र निकाला।

१—देखिये 'उर्दू का स्यापा' हरिश्चन्द्र चन्द्रिका खड १, जून १८७४।

हिंदी प्रचार के आंदोलन में कलकत्ते से भी कई प्रसिद्ध एवम् प्रभावशाली हिंदी के पत्र प्रकाशित हुए। १७ मई सन् १८७८ ई० में दुर्गा प्रसाद मिश्र ने छोटू लाल के सम्पादन में 'भारत मित्र' निकाला, जो बालमुकुन्द गुप्त के सम्पादकत्व मे हिंदी का बड़ा प्रख्यात पत्र निकला। इसके प्रकाशन का उद्देश्य आर्थिक लाभ नहीं बल्कि 'देशोपकार और भाषोन्नति' था।

भारतमित्र से अलग होकर दुर्गाप्रसाद मिश्र ने सदानन्द मिश्र के सम्पादकत्व में 'सारसुधानिधि १८७९ ई० में निकाला। यह पत्र बारह वर्ष तक चला। इसके प्रयोजन के सम्बन्ध में लिखा था 'कि यथार्थ हिंदी भाषा का प्रचार करना व हिंदी लिखने वालों की संख्या वृद्धि करना इसका एक मूल प्रयोजन है।' उचित भाषा शैली में न प्रकाशित होने के कारण ही इस पत्र का 'बिहारबन्धु' से भाषा सम्बन्धी सूत्र विवाद चलता था। इनके अलावा कलकत्ते से 'उचित वक्ता' और 'हिंदी बंगवासी' आदि कई पत्र निकले।

कलकत्ता के इन पत्रों की भाषा पर बंगला के उच्चारण का प्रभाव तो अवश्य पड़ा परन्तु इसमें बंगला से अनेक उपन्यास अनूदित होकर छपे, इससे भाषा में बंगला की कोमल-कान्त पदावली और साहित्यिकता भी आई।[1] उन दिनों पत्रों का प्रकाशन कोई लाभप्रद व्यवसाय नहीं था। बल्कि हिन्दी सेवकों को इन पत्रों के लिए काफी क्षति उठानी पड़ती थी। देवकीनन्दन तिवारी का स्वय कम्पोज करना, छापना, सम्पादित करना तथा पीठ पर लाद कर बेचना प्रसिद्ध ही है। कार्तिक प्रसाद खत्री घर घर जाकर अपनी पत्रिका सुना आया करते थे। इतना करने पर भी महीनों बीत जाते और ग्राहक चन्दे का पैसा नहीं देते थे। प्रतापनारायण मिश्र को आठ-आठ महीने बीतने पर यजमानों से दक्षिणा-दान की याचना करनी पड़ती थी। अधिकतर पत्र

१—सारसुधानिधि में 'तपस्विनी' उपन्यास धारावाहिक प्रकाशित हुआ उसकी भाषा का नमूना दिया जा रहा है—

किन्तु उसके सुधामय सुधांशुविनिन्दित मुख मंडल को अब मानों निविड़ कुज्झटिका जाल ने आछन्न कर लिया है, नव जलधर सदृश आलुलायित सुदीर्घ केश पीठ पर अरु भ्रमर मलिन कृष्ण अलकावली वदन कपोल अरु गंडस्थल पर लटक कर कभी कभी सुस्निग्ध वायु द्वारा इषत् कम्पित अरु आन्दोलित हो रही है। (सारसुधानिधि १८ अप्रैल, १८७९)।

साइकों की उदासीनता और चन्दे के अभाव से असमय में ही मर जाते थे। उस विषम स्थिति में भी हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, हिन्दी प्रदीप, हिन्दोस्तान और भारतमित्र आदि पत्रों ने दीर्घकाल तक अनेक कष्ट झेलकर हिंदी का पोषण किया। इन पत्रों ने हिन्दी गद्य के विविध रूपों और व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त अनेक शैलियों के विकास में आशातीत योग दिया। ये सभी शैलियां भारतेन्दु द्वारा निर्धारित गद्य शैली पर आधारित थीं। परन्तु कहीं कहीं विभिन्न लेखकों की व्यक्तिगत विशेषतायें भी दिखलाई पड़ती हैं।

गद्यरूपों का विकास—हरिश्चन्द्र जब हिंदी की सेवा के लिये मैदान में आये उस समय हिंदी का कोई स्थिर स्वरूप नहीं था और न कोई मान्य शैली थी। हिन्दी को अरबी फारसी से सजाने का प्रयत्न करके राजा शिवप्रसाद उसे कृत्रिम हिंदुस्तानी बना रहे थे। और उसकी प्रतिक्रिया में राजा लक्ष्मण सिंह ने दूसरी ओर अरबी फारसी के अत्यन्त चलते शब्दों का भी बहिष्कार कर दिया। आवश्यकता पड़ने पर वे सस्कृत तत्सम या अर्द्धतत्सम शब्दों का प्रयोग करते थे। राजा लक्ष्मण सिंह हिंदी और उर्दू को दो न्यारी न्यारी बोलियां मानते थे, और अरबी फारसी संयुक्त शैली को हिन्दी नहीं मानते थे। उन्होंने एक अति शुद्ध भारतीय शैली का प्रचार करना चाहा जिसमें व्रजभाषापन के लिये तो स्थान था परन्तु अरबी फारसी पन के लिये नहीं। उनकी भाषा का एक नमूना शकुन्तला के अनुवाद से दिया जा रहा है—

हे क्षत्री यह मृग आश्रम का है। इसको मत मारो। देखो इसको मत मारो। इसके कोमल शरीर में जो बाण लगेगा सो मानो रूई के पुञ्ज में आग लगेगी। कहां तुम्हारे वज्र बाण कहां इसके अल्प प्राण। हे राजा बाण को उतार लो। यह तो दुखियों की रक्षा के निमित्त है, निरपराधियों पर चलाने को नहीं है।"[1]

इसकी भूमिका में पिन्काट साहब ने लिखा कि ठेठ हिंदी को अरबी फारसी के शब्दों की अपेक्षा सस्कृत के शब्दों से समृद्ध करना अधिक उचित

१—राजालक्ष्मण सिंह—शकुन्तला (सम्पादक-पिन्काट, १८७६ पृ० २)।

है और जनता में इन्हीं का अधिक प्रभाव पड़ेगा[१]। यही मत उस समय के अधिकांश हिंदी हितैषियों का था परन्तु साथ ही पिन्काट साहेब ने वहीं पर यह भी कह दिया कि संस्कृत के नये और क्लिष्ट शब्द तब तक गढ़कर न जारी किये जाय जब तक उनके स्थान पर सरल और प्रचलित शब्द सुलभ हों।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राजा लक्ष्मणसिंह की शैली को और परिष्कृत करके साधु शैली बनाया तथा उसी का प्रचलन किया। उन्होंने हिंदी गद्य को पंडिताऊपन और क्लिष्ट संस्कृत प्रयोगों से मुक्त रखा और उसका परिमार्जित रूप लोगों के समक्ष उपस्थित किया। वह आंदोलन काल था, सभी हिंदी के सेवक थे पर हिंदी का अध्ययन व अभ्यास आवश्यक नहीं समझते थे। कोई अंग्रेजी का विद्वान था तो कोई संस्कृत का, कोई अरबी फारसी का पारखी था तो कोई बंगला का। फलतः इन सभी व्यक्तिगत विशेषताओं का प्रदर्शन वे लोग अपने हिंदी गद्य में करते थे। कलकत्ते के पत्रों में कलकतियापन और बंगला उच्चारण है तो बिहारबन्धु मे उर्दूपन; सदादर्श और पीयूष प्रवाह मे संस्कृत शब्द अधिक हैं तो प्रतापनारायण मिश्र के ब्राह्मण मे कनौजिया प्रयोगों की अधिकता है। भारतेन्दु ने ही सर्वप्रथम एक सामान्य शिष्ट भाषा का नमूना अपने पत्रों के द्वारा लोगों के सामने रखा। उन्होंने अपनी 'हिंदीभाषा' नामक पुस्तक में तत्कालीन गद्य के हर प्रकार के नमूने प्रस्तुत किये हैं और उनमें से शुद्ध तथा शिष्ट शैली का संकेत भी किया है। इस पुस्तक मे उन्होंने भाषा के तीन विभाग किये—

१—घर मे बोलने की भाषा, २—कविता की भाषा, और ३—लिखने की भाषा। वे व्रजभाषा को कविता की भाषा और खड़ी बोली को लिखने (गद्य) की भाषा मानते थे। उन्होंने लिखा है कि इस समय गद्य की भाषा

१—"...It may justly be urged that as the vulgar Hindi must be enriched from such source, there is more hope that Sanskrit words will take root among the people than there is that unusual persian or other foreign vocables will do so"
Sakuntala-Editor Pincott, (Preface.)

के अनेक रूप पाये जाते हैं जैसे, संस्कृत-बहुल हिंदी, फारसी-बहुल हिंदी, काशी की देशी हिंदी, बंगाली हिंदी, अंग्रेजी हिंदी आदि अर्थात् भाषा का कोई निश्चित रूप नहीं। लोग अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में हिंदी गद्य को ढाल रहे थे। इन अनेक रूपों में से हरिश्चन्द्र ने नं० २ जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं और नं० ३ जो शुद्ध हिंदी है, को ही हिंदी गद्य का साधु रूप बताया था। नं० २ और ३ के नमूने नीचे उद्धृत कर रहा हूँ—

नं० २ जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं—

"सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया पुल टूट गये बांध खुल गए पङ्क से पृथ्वी भर गई पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाये बहुत वृक्ष समेत कूल तोड़ गिराए सर्प बिलों से बाहर निकले महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतन्त्र स्त्रियों की भांति उमड़ चली।"

नं० ३ जो शुद्ध हिंदी है—

"पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फन्द में पड़ गए कि इधर की सुधि ही भूल गये[१]।"

उन्होंने सर्वत्र इन्हीं दो शैलियों का व्यवहार किया। एक भावात्मक निबंधों या लेखों के लिए और दूसरी विवेचनात्मक विषयों के लिए अधिक प्रयुक्त हुई। विवेचनात्मक शैली में विषयानुरूप कभी कभी वे संस्कृत पदावली का भी प्रयोग करते थे। उनकी भावात्मक शैली की भाषा अधिक साधु और गम्भीर है, और वाक्य कुछ बड़े होते हैं। दोनों ही शैलियों में भाषा की सहज सरलता अक्षुण्ण है। कभी कभी बनारसी बोली का पुट आ जाता है। विवेचनात्मक शैली में लिखे गए "काशी" शीर्षक एक पुरावृत्त सम्बन्धी लेख से निम्नलिखित उदाहरण दे रहा हूँ—

"काशी में किसी समय दशनामी गोसाइयों का बड़ा प्राबल्य था और इन महात्माओं ने अनेक कोटि मुद्रा पृथ्वी के नीचे दबा रक्खी है अतएव अनेक ताम्रपत्र पर बीजक लिखे मिलते हैं, पर वे द्रव्य कहां हैं इसका पता नहीं। इन गोसाइयों ने अनेक बड़े बड़े मठ बनवाये थे और ये सब ऐसे दृढ़ बने हैं कि कभी हिल भी नहीं सकते। इन गोसाइयों में पीछे मद्यपान की चाल फैली

१—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—"हिन्दी भाषा"

और इसी से इनका तेजोनाश हुआ और परस्पर की उन्मत्तता और अदालत की कृपा से इनका सब धन नाश हो गया, पर अद्यापि वे बड़े बड़े मठ रखे हैं[1]।"

भावात्मक शैली में उन्होंने अधिकांश नाटक विशेषतया 'चन्द्रावली' और अपनी 'आत्मकथा' तथा कुछ यात्राओं को लिखा। इनकी निर्धारित भाषा-शैली के इन्हीं दो रूपों का उस युग के अधिकांश लेखकों ने प्रयोग किया। अधिकतर लेखकों की भाषा सरल, सीधीसादी, और अनलंकृत है। हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में पंडित बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, श्री निवास दास, ठा० जगमोहन सिंह, चौधरी प्रेमघन, दुर्गा प्रसाद मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, सुधाकर द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, काशीनाथ खत्री, कार्तिक प्रसाद खत्री, रमाशंकर व्यास और राधाकृष्ण आदि ने हिंदी गद्य को पुष्ट करने में मुख्य रूप में योग दिया। इन लोगों ने गद्य के विविध स्वरूपों का पोषण-संवर्द्धन किया, और इनमें से ही कुछ लोगों ने व्यक्तिगत विशिष्टताओं से समन्वित गद्य-शैली का सूत्रपात भी किया। बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र ने हिंदी गद्य के निर्माण में वही योग दिया जो अंग्रेजी में एडिसन और स्टील ने दिया था। बालमुकुन्द गुप्त की शैली में जितना प्रवाह, प्रभाव एवम् व्यक्तिगत वैशिष्ट है वह पीछे बहुत काल तक नहीं देखने को मिला। इनका 'शिवशंभु का चिट्ठा' व्यंग्य साहित्य का अनोखा नमूना है। इन प्रसिद्ध गद्य लेखकों के अलावा कुछ अन्य साहित्यिकों के गद्य में भी इतनी स्पष्ट विशेषताएं हैं जिनके आधार पर हम उन्हें तुरन्त पहचान जाते हैं। उदाहरणार्थ कादम्बरी की शैली में लिखे गये ठाकुर जगमोहन सिंह के लंबे लंबे वाक्य स्वयं अपने लेखक का परिचय दे देते हैं। उसी प्रकार अलंकृत शैली में लिखे गए चौधरी प्रेमघन के वाक्य उनकी 'कलम की कारीगरी' स्वयं व्यक्त करते हैं।

उस युग में संस्कृत के अध्ययन और अनुवाद, बंगला ग्रन्थों के अनुवाद तथा आर्य समाज द्वारा प्रेरित वैदिक पुनरुत्थान की भावना के फलस्वरूप भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्द्धतत्सम प्रयोगों की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती गई। कुछ थोड़े से उर्दूदां लोगों को छोड़कर अरबी-फारसी के प्रयोग हिंदी

---

[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—"काशी" हरिश्चन्द्र मैगज़ीन १८७३ पृ० ३९।

गद्य में बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं। अंग्रेजी के प्रभाव से हिंदी गद्य में अंग्रेजी के दैनिक व्यवहार में आने वाले शब्दों का प्रयोग भी हुआ। बालकृष्ण भट्ट ने तो अंग्रेजी के साहित्यिक शब्दों का प्रयोग भी अपने लेखों के बीच में कर दिया है, और कुछ लेखों के शीर्षक भी अंग्रेजी में ही रखे हैं। इन गद्य लेखकों ने गद्य के विविध रूपों-लेख, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबंध आदि का संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी साहित्य से अनुवाद करके या उनकी प्रेरणा से मौलिक रचना करके हिंदी को समृद्ध किया।

नाटक—प्रायः सभी देशों के इतिहास में नवजागरण के साथ नाटकों के प्रति नवोत्साह देखा जाता है। पैरीक्लीज का यवन स्वर्णयुग, अंग्रेजी साहित्य में एलिजाबेथ का नव-जागरण युग तथा संस्कृत में कालिदास और हर्ष का युग इस कथन का साक्षी है। साहित्यिक पुनरुज्जीवन और नाटक निर्माण में समवाय सम्बंध देखा गया है। जातीय जीवन में शिथिलता आने पर नाटकों के निर्माण में भी शिथिलता आ जाती है। हिंदी साहित्य का रीतिकाव्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। नाटक प्रगतिशील जीवन का चित्र है। रीतिकाल में नाटकों का लिखा जाना सम्भव ही नहीं था क्योंकि जीवन में नाटकोचित गति ही लोप हो गई थी। चलना, फिरना, रोना, हंसना सबके लिये साहित्य में बंधा बँधाया रास्ता था। नवीनता अपराध मानी जाती थी। यही कारण है कि चौदहवीं शताब्दी से भारतेन्दु तक केवल थोड़ी सी रूपक नामधारी रचनाओं का पता लगता है। सर्व प्रथम हरिश्चंद्र ने संस्कृत की आदर्शवादी नाट्यकला में अंग्रेजी के एलिजाबेथ कालीन नाटकीय तत्वों का समावेश कर हिंदी नाटकों का पुनरुद्धार कार्य आरंभ किया। अंग्रेजों के प्रोत्साहन से संस्कृत का अध्ययन शुरू हो चुका था और संवत् १९१८ में राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुन्तला का अनुवाद शुद्ध हिंदी में प्रस्तुत किया जिसकी बड़ी प्रसिद्धि हुई[1]। सीधे अंग्रेजी साहित्य की ओर लोगों की रुचि तो

१—नाटकों को उत्साह देने के उद्देश्य से 'रत्नावली' की भूमिका (सन् १८६८) में हरिश्चन्द्र ने लिखा—

'हिंदी भाषा में जो सब भांति पुस्तकें बनने के योग्य हैं अभी बहुत कम बनी हैं, विशेष करके *नाटक* तो (कुंवर लक्ष्मण सिंह के शकुंतला के सिवाय) कोई भी ऐसे नहीं बने हैं जिसको पढ़के कुछ चित्त को आनंद और

अधिक थी ही, बंगला साहित्य के माध्यम से भी पश्चिमी साहित्य का प्रभाव पड़ने लगा था।

भारतेन्दु के ऊपर आरंभ में अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी नाटकों का प्रभाव बंगला के माध्यम से ही पड़ा। उन्होंने लिखा है कि 'ग्यारह वर्ष की अवस्था में हम जगन्नाथ जी गये थे। मार्ग में वर्द्धमान में विधवा विवाह नाटक बंग भाषा में मोल लिया सो अटकल से ही उसको पढ लिया।' यतीन्द्र मोहन ठाकुर कृत बगला के अति प्रचलित नाटक 'विद्यासुंदर' का उन्होंने सर्व प्रथम हिंदी रूपांतर प्रस्तुत किया। मूलतः यह रचना संस्कृत के चौर कवि की थी। अनुवाद के लिये इस नाटक के चुनाव से ही उन पर संस्कृत और बंगला का प्रभाव स्पष्ट प्रकट हो जाता है। उनका प्रसिद्ध राष्ट्रीय नाटक 'भारत जननी' भी बंगला के 'भारतमाता' नामक रूपक के आशय पर लिखा गया। इसमें भारतमाता की दुर्दशा के कारणों—फूट, कलह आदि-का रोमांचक वर्णन है, और भावी सुधार के लिये उपाय भी बताया गया है। 'भारत दुर्दशा नाटक' में भारत अपने दुर्भाग्य पर रोता रोता बेहोश हो जाता है। उसे दुर्दैव, रोग, आलस्य और फूट का विष व्याप्त हो गया है। अतिशय शृंगारी कवियों पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है कि देश में सच्ची जागृति अभी केवल बंगाल और महाराष्ट्र में ही आ सकी है। सभी भारत हितैषी इकट्ठे होकर जब भारत की रक्षा का उपाय सोच रहे हैं उस समय हिंदी के कवि पुंगव जी कहते हैं—

'अब फौजदार इस पार उतरने लगे कनात के बाहर हाथ निकाल कर उंगली चमका कर कहे 'मुए इधर न आइयो, इधर जनाने हैं।' बस दुश्मन हट जायेंगे।'

(भारतेन्दु ग्रन्थावली भा० १ पृ० ४८६)

राष्ट्रीयता से अनुप्राणित नाट्य साहित्य की रचना को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से उन्होंने स्वयं १७ नाटक रचे। इनमें से एक अंग्रेजी का अनुवाद, एक बंगला का और ५, संस्कृत के अनुवाद हैं। शेष १० नाटक

इस भाषा का बल प्रकट हो इस वास्ते मेरी ऐसी इच्छा है कि दो चार नाटकों का तरजुमा हिंदी में हो जाय तो मनोरथ सिद्ध हो।'

भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १ पृ० ४३।

मौलिक माने जाते हैं। 'रत्नावली' नाटिका अधूरी है। 'प्रवास' नाटक की सूचना मिलती है परन्तु वह अप्राप्य है और सती प्रताप के केवल चार दृश्य ही भारतेन्दु ने लिखे थे जो नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका अक्टूबर सन् १८८४ ई० में प्रकाशित हुई थी। इस गीतिरूपक के शेष भाग को राधाकृष्णदास ने पूरा किया।

उनके नाटकों में व्याप्त स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को उचित ढंग से हृदयंगम करने के लिये उनके 'नाटक' नामक प्रबन्ध का संक्षिप्त परिचय अधिक सहायक होगा। इसमें भरतमुनि तथा धनञ्जय द्वारा गिनाये गये नाटक के प्राचीन भेदों के साथ ही उन्होंने नवीन भेद का भी समावेश किया और तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए 'समाज संस्कार' नाटकों के सृजन पर जोर दिया। प्राचीन नाट्यशास्त्र के प्रतिकूल वियोगान्त नाटकों को प्रोत्साहित किया। श्रीनिवासदास के 'रणधीर प्रेममोहनी' नामक वियोगान्त नाटक की भूमिका में उन्होंने लिखा था[१] कि जीवन दुखान्त है और इस प्रकार के नाटकों का मानव मन पर तीव्र प्रभाव पड़ता है। अतः दुखान्त नाटक भी लिखने चाहिये। उन्होंने स्वयं 'नीलदेवी' नामक वियोगान्त गीतिरूपक लिखा। अंक, विष्कम्भक, मंगलाचरण और अन्य नाटकीय नियमों में भी नवीनता का समावेश किया। प्राचीन नाटकों में प्रचलित सात अंकों के स्थान पर शेक्सपियर की तरह अधिकतर पांच अंकों का चलन बढ़ा। हरिश्चन्द्र ने तो 'सत्य हरिश्चन्द्र' में केवल चार ही अंक रखे। विषय की दृष्टि से नाटकों में स्वच्छन्दता के साथ ही यथार्थवादी प्रवृत्ति का भी समावेश हुआ। 'प्रेमयोगिनी' से यथार्थवादी नाटकों का सूत्रपात ही होता है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों के लिये सामग्री का सचय जीवन के विविध क्षेत्रों से किया। उनका जीवन प्रेममय था अतः आदर्श प्रेमयुक्त 'चन्द्रावली' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना हुई। विषय की दृष्टि से उनके नाटकों को तीन भागों में बाटा

१—सूत्रधार—प्यारी मेरी जान तो इस संसार रूपी कपट नाटक के सूत्रधार ने जगत को दुखान्त बनाया है, कैसी भी राजपाट, उत्साह, विद्या, खेल तमाशा क्यों न हो अन्त में कुछ नहीं। सबका अंत दुःख है इससे दुःखान्त नाटक ही खेलो।'

श्रीनिवासदास ग्रन्थावली, संपादक डा० श्रीकृष्णलाल, भूमिका पृ० ९

जा सकता है—(१) सामाजिक, (२) पौराणिक, (३) प्रेम सम्बन्धी। सामाजिक नाटकों के अन्तर्गत ही धार्मिक और राजनीतिक नाटक भी समझना चाहिये।

हरिश्चन्द्र और उनके साथियों ने बहुत से प्रहसन लिखे। इनके विषय और उद्देश्य भी प्राचीन नाट्यशास्त्र के विरुद्ध हैं। संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रहसनों की रचना का उद्देश्य हास्य-विनोद था न कि समाज सुधार। परन्तु हरिश्चंद्र कालीन प्रहसन सुधारवादी आंदोलनों के अंग हैं। प्राचीन नियमानुसार प्रहसनों में सामाजिक व्यंग्य, देश सुधार आदि वर्जित हैं। परन्तु पाश्चात्य 'सटायर' से प्रभावित देश की सच्ची परिस्थियों से प्रसूत इन प्रहसनों की ध्वनि व्यंग्यात्मक है। इनमें तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवम् राजनीतिक कुरीतियों और त्रुटियों पर क्रूर व्यंग्य किया गया है। समाज को उसकी बुराइयों का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिए व्यंग्य और प्रहसन सभी देशों में बहुत प्रभावशाली अस्त्र सिद्ध हुए हैं। इंग्लैंड के रेस्टोरेशन काल में ड्राइडन, डेफो, स्विफ्ट आदि प्रसिद्ध व्यंग्यकार हुए। हिंदी में सन् १८७३ ई० में भारतेन्दु ने 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रथम प्रहसन लिखा। इसमें धर्म के नाम पर प्रचलित पशुबलि, मद्यपान, और मांसाहार पर व्यंग्य किया गया है। इस प्रहसन में राजा तमाम अनर्थ करता है परंतु लोभी पुरोहित उसके सारे कुकृत्यों के लिए अनुकूल शास्त्रीय व्यवस्था दे देता है। अन्त में यमराज निर्णय देते हैं 'दुष्ट कहीं का वेद पुराण का नाम लेता है, मांस मदिरा खाना है तो योंहीं खाने को किसने रोका है, धर्म को बीच में क्यों डालता है।' अंधेरपुर-नगरी (१८८१) राजा जमींदारों के अंधेर को सुधारने के लिये लिखा गया और बड़ा लोकप्रचलित हुआ। उनके साथियों में बालकृष्ण भट्ट राधाचरण गोस्वामी, देवकीनन्दन तिवारी, अम्बिकादत्त व्यास ने बहुत से प्रहसन लिखे। बहु-विवाह, बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध, वेश्यावृत्ति, अविद्या, फैशन की गुलामी, ईसाइयत का कुप्रभाव, नशेबाजी, खानपान में अविवेक, धार्मिक आडंबर, भूत-प्रेत पूजा, पंडे पुरोहितों का आतंक, जुआ, फिजूलखर्ची आदि सभी कुरीतियाँ इन प्रहसनों में दिखाई गईं। देवकीनदन तिवारी के व्यंग्य अन्य सभी लोगों से अधिक तीव्र होते थे। उन्होंने 'कलयुगी जनेउ, कलयुगी विवाह, स्त्रीचरित्र, जयनारायनसिंह नामक प्रहसन लिखे। बालकृष्ण भट्ट ने पश्चिमी प्रभाव से मुग्ध बिगड़े युवकों को अपने व्यंग्य का

लक्ष्य बनाया। पश्चिमी सभ्यता के फलस्वरूप प्रचलित मांसाहार, मद्यपान, फैशन की गुलामी, जोरूदासता, अपव्यय आदि पर व्यंग्य किया और 'शिक्षा-दान,' 'जैसा काम वैसा परिणाम' आदि प्रहसन लिखा। राधाचरण गोस्वामी ने पंडा पुरोहितों के कुकृत्य का भंडाफोड़ किया। उन्होंने 'तन मन धन गोसाईं जी के अरपन,' 'भगतरंग प्रहसन', 'बुढे मुंह मुहासे देखें लोग तमाशे' नामक तीन प्रहसन लिखे। 'तनमनधन गुसाईं जी के अर्पन' में गोस्वामी जी ने निवेदन किया है कि 'कामी गुरु' और 'भेड़ भक्तों' के उपदेश तथा शिक्षा के लिये लिखा गया।' इसमें एक गुसाईं जी सेठ गोकुल चंद की नववधू का अनकूट में देखकर ललच उठते हैं और अपने गुप्तचर द्वारा बहू के समर्पन का प्रस्ताव सेठ रूपचंद के पास करवाते हैं। इस पर वृद्ध सेठ कहता है, 'हैं, तो ठीक पर गाकुल यहां बहिर्गत है, अंग्रेजी पढ के वाकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, कहा सुनोगे, तो विघ्न कर देगो, अच्छा म सेठानी से बात कर लूं। हमारे ऐसे भाग्य कहां जा महाराज अंगीकार करें'

प्रत्यक्ष है कि अँग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से ही नवयुवक समर्पन जैसी कुरीतियों के विरुद्ध खड़े हो सके और अंधविश्वासी बापों की दृष्टि में भ्रष्ट बने। हरिश्चन्द्र काल में ऐसे बहुत से प्रहसन लिखे गए। उस काल के सभी साहित्यिक ठा० जगमोहन सिंह को छोड़कर नाटकार और प्रहसनकार थे। नाटककारों में हरिश्चन्द्र के अलावा श्री निवासदास, प्रतापनाराय मिश्र और राधाचरण गोस्वामी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री निवासदास ने 'प्रह्लाद चरित्र, तप्ता सवरण, रणधीर प्रेम-मोहिनी और 'सयोगिता स्वयंवर' की रचना की। इनमें 'रणधीर प्रेम-मोहिनी' सर्वोत्तम रचना है। इस पर रोमियो जूलियट की छाया अवश्य है फिर भी भारतेन्दु युग के अधिकतर नाटकों से यह अधिक लोकप्रिय हुआ। यह दो राजपरिवारों की दुःखान्त कहानी है। 'सयोगिता स्वयंवर' और 'रणधीर प्रेम मोहिनी' पर रीतिकालीन शृंगार लीलाओं, संगीतों और चुहलबाजियों का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

प्रतापनारायण मिश्र ने 'भारत दुर्दशा,' 'सांगीतशाकुंतल' और 'कलि-कौतुक' आदि नाटक लिखे। 'कलिकौतुक' में एक पतिव्रता पत्नी की जार पति के हाथों दुर्दशा दिखाई गई है। 'भारत दुर्दशा' भारतेन्दु के इसी नाम के रूपक से स्पष्ट प्रभावित है। राधाचरण गोस्वामी ने 'अमरसिंह राठौर,' सती चन्द्रावती और श्री दामा नामक तीन बड़े नाटक लिखे। इनमें 'अमरसिंह

राठौर' बड़ा लोकप्रिय हुआ। राधाकृष्णदास ने अधिकतर सामाजिक और ऐतिहासिक नाटक लिखे जिनका उद्देश्य समाज सुधार होता था। 'दुखिनी बाला' विधवा विवाह निषेध की और 'धर्मालाप' नाना मतवादों की निंदा करता है। 'महाराणा प्रताप' और 'महारानी पद्मावती' उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक रूपक हैं जिनकी स्वयं हरिश्चंद जी ने प्रशंसा की थी। बालकृष्ण भट्ट ने 'दमयन्ती स्वयंवर' और 'वेणुसहार' नाटक लिखे हैं। इसी प्रकार अन्य बहुत से नाटकों की रचना हुई।

मौलिक नाटकों के अलावा बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत के नाटकों का अनुवाद भी प्रचुर परिमाण में हुआ। वस्तुतः इन अनुवादों से ही नाटककारों को मौलिक रचना की प्रेरणा और शक्ति मिली। सर्व प्रथम राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के 'शकुंतला' का अनुवाद किया। इसके बाद 'हरिश्चंद्र' ने अनेक अनुवाद किये जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। लाला सीताराम ने संस्कृत के कई नाटकों का हिंदी में रूपांतर किया जिनमें 'मालती माधव' 'मृच्छकटिक' 'नागानंद' आदि उल्लेखनीय हैं। अंगरेजी से तोताराम ने 'केटो कृतांत' रूपांतरित किया। गोपीनाथ पुरोहित ने 'ऐज़ यू लाइक इट' का 'मनभावन' और 'रोमियो एंड जूलियट' का 'प्रेमलीला' नाम से अनुवाद किया। मथुरानाथ शुक्ल ने 'मैकबेथ' का अनुवाद 'साहसेंद्र साहस' नाम से किया। बंगला के प्रायः सभी प्रसिद्ध नाटकों का भी अनुवाद किया गया। हरिश्चंद्र ने जो कार्य आरम्भ किया उनके मंडल के अन्य मित्रों ने उसे उत्साहपूर्वक पूरा किया। बालकृष्ण भट्ट ने 'माइकेल' के पद्मावती नाटक और 'शर्मिष्ठा' का अनुवाद किया। रामकृष्ण वर्मा ने 'माइकेल' के 'कृष्णकुमारी' का और राज किशोर दे कृत 'पद्मावती' का तथा द्वारिका नाथ गांगुली कृत 'वीर नारी' का अनुवाद किया। केशवराम भट्ट का 'सज्जादसुम्बुल' भी बंगला के नाटक के आधार पर लिखा गया। कई उत्तम प्रहसन भी अनूदित किये गये जिनमें 'माइकेल' के 'एकी की बोले सभ्यता' का व्रजनाथ द्वारा अनुवाद 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं' अधिक प्रचलित हुआ।

इस प्रकार संस्कृत, अंगरेजी, बंगला के सभी मुख्य नाटककारों की कृतियों से हिंदी भंडार तो भरा ही उनकी प्रेरणा से विविध विषयों, शैलियों

और विधानों से समन्वित अनेक मौलिक नाटकों की रचना द्वारा हिंदी का यह अंग भारतेंदु काल में अत्यधिक पुष्ट हो गया।

उपन्यास :

साहित्य के अति लोकप्रिय स्वरूप उपन्यास का सूत्रपात भी हरिश्चंद्र के ही हाथों हुआ। उन्होंने अपनी 'मैगजीन में' अन्य लेखों और साहित्यिक रूपों के साथ 'नावेल' को भी स्थान दिया था। इसी 'मैगजीन' में (सन् १८७३ ई०) बाबू गदाधर सिंह ने 'कादंबरी' का अनुवाद क्रमशः प्रकाशित कराया। उन्होंने बंगला के प्रसिद्ध उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' का भी अनुवाद किया। भारतेंदु ने इस अभाव की पूर्ति के लिये स्वयं बंगला के उपन्यास पूर्णप्रभा चन्द्रप्रकाश[1] का अनुवाद किया जिसका विषय अनमेल विवाह से सम्बन्धित है। 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जगबीती' पूरा होने पर एक उत्तम कोटि का उपन्यास होता जिसमें रईसजादों पर खुशामदी चापलूसों का प्रभाव चित्रित किया जा रहा था। इस संकेत की ओर बढ़कर लाला श्रीनिवासदास ने हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षागुरु'

१—पूर्णप्रभा चंद्रप्रकाश को मराठी उपन्यास से अनूदित कहा जाता रहा है परन्तु उक्त पुस्तक की पुष्पिका से स्पष्ट प्रकट होता है कि वह बंगला से अनूदित था। पुष्पिका इस प्रकार है—

॥ कुलीन कन्या ॥ अथवा चन्द्रप्रभा और पूर्ण प्रकाश। कुलीन विवाह सम्बन्धी एक छोटी सी आख्यायिका ॥ बंग भाषा का आशय लेकर हिन्दी में प्रकाश की गई।

'कितीनतोकुलकुलवधू काहिनकोहिसिख दीन,
कौनेतजीनकुलगली ह्वै मुरलीसुरलीन।' (बिहारी)

महल्ला मैवाली सपरा बनारस हरिप्रकाश यन्त्रालय में अमीर सिंह ने मुद्रित किया।

इसकी भाषा पर बंगला प्रभाव स्पष्ट है—यथा—

'आंख के पक्ष्माग्र भाग में दो एक अश्रु विन्दु दिखलाई पड़ते हैं, निबिड़ कृष्ण कुंचित कुंतल जाल नितम्ब के ऊपर गिरकर मेघमाला की शोभा कर रहा है तब कांचन निभ उज्ज्वल गौर कांति विद्युत की प्रभा विकीर्ण कर रही है।'

(१८८२) लिखा। परीक्षागुरु के पूर्व ही श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भाग्यवती' नामक सामाजिक उपन्यास सन् १८७७ में प्रकाशित कराया था। यह स्त्रियों की शिक्षा के निमित्त लिखा गया था। फुल्लौरी जी ने लिखा है 'बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिंदी भाषा में लिखूं जिसके पढने से भारत खंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो।' इसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त उन्होंने यह उपन्यास लिखा था। उपन्यास की भाषा के संबंध में उन्होंने लिखा है कि 'प्रसंग तो इसमें काशीवासी लोगों का है परंतु वहाँ की बोली पूर्वी और कुछ कड़वी भी होने के कारण इस ग्रन्थ में वह हिंदी भाषा लिखी है कि जो दिल्ली और आगरा, सहारनपुर, अम्बाला के इरद गिरद के हिंदू लोगों में बोली जाती है और पजाब के स्त्री पुरुषों को भी समझनी कठिन नहीं है'[1]।

भाग्यवती के कारण परीक्षागुरु का महत्व क्षीण नहीं होता। शिल्प विधान की दृष्टि से परीक्षागुरु ही प्रथम उपन्यास माना जायगा। इसके पूर्व सन् १८७८ ई० की 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में राधाकृष्णदास ने 'नाटकोपन्यास' नामक पाक्षिक पुस्तिका प्रकाशित करने की सूचना दी थी, जो निकल नहीं सकी अन्यथा अवश्य ही कुछ अधिक सख्या में,उच्चकोटि के उपन्यासों की रचना हिंदी में हो जाती। परीक्षागुरु अपने समकालीन मध्यवर्गीय समाज और देश दशा का अच्छा चित्र उपस्थित करता है। यह उपन्यास लाला मदनमोहन नामक एक धनी सेठ के पतन और उद्धार का नाटकीय चित्रण प्रस्तुत करके एक नयी शैली का सूत्रपात करता है।

हरिश्चन्द्र मडल के अन्य लेखकों ने भी अनेक सामाजिक और नैतिक उपन्यास लिखे। पडित बालकृष्ण भट्ट ने छात्रों को नैतिक शिक्षा देने के लिये सन् १८८६ ई० में 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक उपन्यास लिखा। 'सौ अजान एक सुजान' में भट्ट जी ने पात्रों का यथार्थ चित्रण किया है। चद्र के चरित्र से उत्तम शिक्षा मिलती है। अन्य मौलिक उपन्यासों में राधाकृष्णदास का निस्सहाय हिंदू (सन् १८९०) ठाकुर जगमोहनसिंह का 'श्यामा स्वप्न' (सन् १८८८) और पं० अम्बिका दत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तांत' (सन् १८९३) विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

१—श्रद्धाराम—'भाग्यवती' पंचम आवृत्ति सन् १९१२ (भूमिका)

बंगला के कथा साहित्य का हिंदी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सर्व प्रथम भारतीय संस्कृति का गौरवशाली स्वरूप बंकिम चंद्र ने अपने उपन्यासो द्वारा पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया और बहुत लोकप्रिय हुये। हिंदी मे उनके अधिकाश साहित्य का अनुवाद हुआ। सन् १८६४ ई० में ही उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद हो चुका था। भारतेंदु ने स्वयं उनके दूसरे उपन्यास 'राजसिंह' का अनुवाद किया। राधाकृष्णदास और प्रतापनारायण मिश्र ने भी बंकिमचन्द्र के कई उपन्यासों का अनुवाद किया। राधाकृष्णदास ने उनकी 'दुर्गेशनन्दिनी' के अलावा बंगला के अन्य लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासकार तारकचंद्र के दुःखपूर्ण सामाजिक उपन्यास 'स्वर्णलता' का अनुवाद किया। रमेशचंद्र दत्त के ऐतिहासिक उपन्यास 'वंगविजेता' का अनुवाद गदाधर सिंह ने किया। राधाचरण गोस्वामी ने बंगला के कई उपन्यासों का जैसे 'दीपनिर्वाण' और 'विरजा' आदि तथा प्रतापनारायण मिश्र ने 'कपाल कुंडला,' 'युगलागुलीय' आदि का अनुवाद किया। इस प्रकार बंगला के सभी प्रसिद्ध उपन्यासकारों—बंकिम, रमेशचद्र दत्त, हाराण चद्र रक्षित, चण्डीचरण सेन और चारुचंद्र आदि की रचनाओं का हिंदी में अनुवाद किया गया। अनुवाद कार्य में गदाधर सिंह, रामकृष्ण वर्मा और कार्तिक प्रसाद खत्री तथा अन्य कई लेखकों ने योग दिया। हिंदी साहित्यकारों को ऐतिहासिक कथानकों मे सामाजिक या राष्ट्रीय भावों को निपुणता पूर्वक गुम्फित करने की कला बंगला उपन्यासों से मिली। घटनाओं का यथार्थ एवम् नाटकीय चित्रण और चरित-वैचित्र्य आदि विधान के लिये भी हिंदी साहित्य बंगला का ऋणी है।

किशोरीलाल गोस्वामी ने इन अनूदित एवम् मौलिक उपन्यासों के आधार पर अपने प्रयोग आरंभ किये और अनेक प्रकार के उपन्यास रच डाले। देवकीनंदन खत्री ने तिलस्मी और गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यासों की जो परम्परा चलाई उस पर तो चलनेवालों की भीड़ ही लग गई। उपन्यास साहित्य को लोकप्रिय बनाने का सर्वाधिक श्रेय सम्भवतः खत्री जी को ही है, भले ही उसमें नैतिकता, शिल्प विधान और यथार्थ आदि औपन्यासिक गुणों की कमी हो। इस प्रकार क्रमशः उपन्यास साहित्य समृद्ध हो चला और हिंदी के लिये आशातीत पाठकों और प्रशंसकों का निर्माण हुआ।

निबंध और लेख—पत्र-पत्रिकाओं के प्रचलन से ही निबंध साहित्य की भी नींव पड़ी। इसके पूर्व गद्य केवल कथात्मक होता था। 'सिंहासन बत्तीसी' 'बैतालपच्चीसी' 'रानी केतकी की कहानी,' 'तोता मैना' जैसी पुस्तकों का प्रणयन ही उन लेखकों के लिये सम्भव और स्वाभाविक था जो पाठकों की रुचि एवम् आवश्यकता से अनभिज्ञ थे। व्यक्तिगत सम्पर्क से दूर रहने वाले अपने पाठकों को कथावार्ता के अलावा वे और क्या दे सकते थे। पत्र-पत्रिकाओं (दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक) द्वारा लेखक क्रमशः पाठकों के निकट सम्पर्क में आने लगे और रुचिकर साहित्य के अलावा हितकर साहित्य भी पाठकों को देने लगे। आधुनिक निबंधों का रूप पश्चिम से लिया गया है यद्यपि नाम संस्कृत का है। संस्कृत में निबंध पद्यात्मक भी होते थे। अंग्रेजी में भी पोप ने 'ऐसे' का प्रयोग अपनी पद्यात्मक रचना के लिए किया है। आजकल तो पद्य में निबंध की कल्पना भी नहीं की जा सकती परंतु हरिश्चंद्र काल में संक्रमण युग होने के कारण पद्यात्मक निबंध भी लिखे गये जैसे 'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान'। बुद्धिवाद का ज्यों-ज्यों प्रभाव बढ़ता गया त्यों-त्यों भावुक कविता में एक बार कमी आती गई और विचार प्रधान गद्य की अधिकता होती गई। गद्य के विविध रूपों—नाटक, उपन्यास और कथा के साथ ही लेखों और निबंधों का भी विकास हुआ। अधिकतर ये निबंध बुद्धि को ही प्रभावित करने के लिए लिखे गये न कि हृदय को। फलस्वरूप चन्द्रोदय जैसे भावात्मक निबंधों की हरिश्चंद्र काल में कमी ही रही। समाज सुधार सम्बन्धी लेख और व्यंग्य ही अधिक लिखे गये। इन्हीं से वर्तमान निबंधों का वह स्वरूप विकसित हुआ है जिसमें भावों की कसावट के साथ लेखक के व्यक्तित्व और भाषा की स्वच्छन्द गति का दर्शन होता है।

काव्य में पद्य मुक्तकों की भांति निबंध गद्य मुक्तक हैं। इनमें संक्षिप्तता के साथ ही अन्विति, प्रभावोत्पादकता आदि गुण भी आवश्यक हैं। आरम्भिक लेखकों में इन गुणों का अभाव है। ये गुण हिंदी लेखकों में क्रमशः आये हैं। जिस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों, भाष्यों और टीकाओं तथा उपदेशों को निबंध नहीं कहा जा सकता। वैसे ही आरम्भिक लेखों को सच्चे अर्थ में निबंध नहीं कहा जा सकता। यथार्थवादी प्रवृत्ति के उदित होने पर समाज की सच्ची स्थिति और जीवन में पाई जाने वाली बुराइयों पर लेख लिखे जाने लगे या

उन पर व्यग्य किए गये। सीधे सादे लेख, जो अधिक लिखे गय, विचार प्रधान निबधों की कोटि में आवेंगे। श्रीनिवासदास का लेख भारतखड की समृद्धि (हरिश्चद्र चद्रिका खड १, सख्या ६ स० १६३१) हरिश्चद्र का (हरिश्चद्र चन्द्रिका खड २, सख्या ३ दिसम्बर १८७४) 'अग्रेजों से हिंदुस्तानियो का जी क्यों नहीं मिलता', इशु खृष्ट और इशकृष्ण (ह० च० खड ६ सख्या ७ सन् १८७९), बालकृष्ण भट्ट का 'सभ्यताभिलाषी' सत्यनाशकारी हुइ (हिंदी प्रदीप जिल्द २५ सख्या १–२) 'अग्रेजी शिक्षा और अग्रेजी सभ्यता' (हिंदी प्रदीप जिल्द २८ सख्या ४), चौधरी प्रेमघन का 'पुरानी का तिरस्कार और नई का सत्कार' तथा 'स्वदेशी वस्तु स्वीकार और विदेशी बहिष्कार' आदि इस प्रकार के अनेक लेख विभिन्न पत्र पत्रिकाओ म छपे।

कुछ लेख इन विषयो पर सीधे न लिखे जाकर व्यग्यात्मक रूपकों के रूप में लिखे गये। इनमे हरिश्चद का एक 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' 'तोताराम का 'स्वप्न' बालकृष्ण भट्ट का 'कलिराज की सभा' और 'स्वर्ग म सब्जेक्ट कमेटी' आदि उल्लेखनीय हैं। इन्हें हम कथात्मक निबध कह सकते हैं। जिनम व्यग्य की सृष्टि के लिये कथा का सहारा लिया गया है। जिस प्रकार इन निबधों में कथा तत्व का योग है उसी प्रकार अधिक प्रभाव लाने के लिये निबधों मे नाटक तत्व का भी समावेश किया गया। जैसे 'पच प्रपच' (कवि वचन सुधा २६ दिसम्बर १८७१) और 'मेला झमेला' आदि लेख इसी कोटि में आवेंगे। स्तोत्र और उपालम्भ भी इसी शैली के अन्तर्गत हैं। राधाचरण गोस्वामी ने इस प्रकार के लेख अधिक लिखे। हरिश्चद्र ने भी कुछ स्तोत्र लिखे थे। इन लोगों ने 'यमलोक की यात्रा' 'नापित स्तोत्र', 'वेश्या स्तोत्र 'ककर स्तोत्र' आदि हास्य प्रधान लेख जनता पर अधिक प्रभाव डालने की दृष्टि से लिखे। भट्ट जी ने लिखा है कि 'रसिक पढने वाले हास्य पर अधिक टूटते हैं। सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ वृन्द को कली समान दात न खिल उठे तो लेख ही क्या[१]।

गम्भीर विचारात्मक निबधों के लिए बालकृष्ण भट्ट चिरस्मरणीय हैं। प्रेमघन जी ने उनके सम्बन्ध म लिखा था कि उन्होंने 'हिंदी की अमूल्य सेवा कर सब लोगों में हिंदी पत्र पठन की रुचि उत्पन्न की जब हिंदी पत्रो की सख्या कदाचित् दो तीन से अधिक नहीं थी[२]।'

१—हिन्दी प्रदीप जि० २३ सख्या १, २, ३, सन् १९०० ।
२—आनन्द कादम्बिनी, माला ६ मेघ ११-१२ सवत् १९६३ ।

उन्होंने विवेचनात्मक शैली में अनेक विचार प्रधान लेख लिखे जैसे 'माता का स्नेह', 'आंसू', 'लक्ष्मी', 'कालचक्र का चक्कर', 'शब्द की आकर्षण शक्ति', 'प्रतिमा' 'आत्मनिर्भरता', 'आशा', 'आत्मगौरव', 'रुचि', 'निवृत्ति', 'खटका', 'विश्वास', 'सुख क्या है', एव 'कवि और चितेरे की डाड़ा मेढ़ी' आदि।

पडित प्रताप नारायण मिश्र अपने निबन्धों द्वारा पाठकों के और समीप आये। उन्होंने आत्म व्यजक निबधो में विशिष्टता प्राप्त की। अत्यन्त साधारण विषयों पर भी प्रभावशाली लेख लिख देना उनकी कुशलता थी। उनम चुलबुलापन और चमत्कारकी मात्रा भी अन्य लेखकों से अधिक थी। उन्होंने 'आप', 'दांत' 'धोखा' खुशामद आदि साधारण विषयों पर सुन्दर निबन्ध लिखे। इन निबधो मे शिक्षा के साथ ही रमणीयता भी आई। वस्तुतः ये अपने युग के सच्चे निबधकार थे। इनके सबध मे स्वय भट्ट जी ने लिखा था 'अब इस चद्र (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) के अस्त होने पर उनके उद्भट लेख की बची बचायी कणिका यदि कहीं बच रही है तो कानपुर निवासी ब्राह्मण सपादक के लेख मे देखी जा सकती है।'[1]

इस प्रकार जब खड़ी बोली गद्य के विविध रूपों-नाटक, उपन्यास, कथा कहानी, निबध और लेखों का विकास हो रहा था उस समय ब्रजभाषा गद्य म ता सम्भवत रचनायें नहीं ही हुईं, पद्य मे भी केवल परिपाटी विहित मुक्तकों का ही प्राधान्य रहा। काव्य के नाना रूपों की ओर से कवियों की दृष्टि बन्द रही। परतु यह स्थिति अधिक दिन तक सम्भव नहीं थी। खड़ी बोली के माध्यम में साहित्य और जन जीवन में जागृति, नवीनता और विविधता का सचरण प्रारम्भ हो चुका था जिसने समय पर सपूर्ण साहित्य में क्रांति किया।

———

१—हिन्दी प्रदीप जि० ८ संख्या ५ सवत् १९४१।

तृतीय अध्याय

खड़ी बोली आन्दोलन की पूर्वपीठिका (पद्य)

आन्दोलन-पूर्व खड़ी बोली की पद्य रचना

परम्परा प्रिय पंडितों की दृष्टि में खड़ी बोली अस्पृश्य थी, पवित्र काव्य-मंदिर में उसका प्रवेश नियमतः निषिद्ध था। परन्तु जनसाधारण की यह प्रिय भाषा थी और उसके लौकिक भाव इसी के माध्यम से अभिव्यक्त होते थे। राजभाषा या काव्यभाषा का सम्मान इसे भले नहीं मिल सका परन्तु जनसाधारण ने इसे लोकभाषा का गौरव बहुत पहले से दे रखा था। साधारण जनता अपने सुख-दुख, विजय-पराजय और घृणा-प्रेम की कथा इसी भाषा में गाया करती थी। खड़ी बोली में इसीलिए बहुत प्राचीन तथा विस्तृत जन-साहित्य निर्मित हुआ। विशेष पर्व, उत्सव और ऋतु में गाये जाने वाले ग्रामगीतों के अलावा इस बोली के गद्य-पद्य में रचित स्वांग, भगत, खंड आदि परम रोचक और अवलोकनीय अभिनयों द्वारा हरिद्वार कनखल, ज्वालापुर, मेरठ, मुरादाबाद, बुलंदशहर, हाथरस और आगरा आदि स्थानों की जनता अपना मनोरंजन करती रही।

मुसलमानों के साथ साथ स्वांगों और भगतों का प्रचार गुजरात तथा महाराष्ट्र तक हो गया था। इनके विषय प्रायः पौराणिक या ऐतिहासिक महापुरुष और उनके चरित्र हुआ करते थे। दक्खिन में जाकर खड़ी बोली दक्खिनी के नाम से लोकभाषा और साहित्यिक भाषा भी बन गई थी अतः दक्खिनी में भी पर्याप्त लोक साहित्य की रचना हुई। दक्खिन के हिन्दू मुसलमान संत अपने निर्गुण सगुण की चर्चा इसी लोकप्रिय भाषा के ख्याल और लावनियों में जनता को सुनाया करते थे। इनका दूर दूर तक प्रचार था। औरंगजेब की मजहबी कट्टरता के कारण स्वांगों और नर्तकियों के नाच तमाशों का अवश्य ह्रास हुआ। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद नामधारी सम्राटों और नवाबों की विलासिता का सम्बल पाकर

इनको पुनः पनपने और फैलने का अवसर मिला। इस बार इनका विकास उर्दू के आशिक-माशूकी साहित्य से बहुत प्रभावित हुआ। लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह को इस प्रकार के नाच तमाशों का बड़ा शौक था। उसके दरबार के प्रसिद्ध सागीतकार 'अमानत' ने 'इन्दर सभा' की रचना की। कहा जाता है 'शाह' ने स्वयम् 'इन्दर' का अभिनय किया। यह रचना इतनी लोकप्रिय हुई कि इसकी शैली पर पीछे बहुत से सागीतों की रचनाएं की गईं। वाजिदअलीशाह स्वयं 'जान आलम पिया' उपनाम से रसीली ठुमरियां भी लिखता था। उसकी देखा देखी 'कदर पिया,' 'सनद पिया,' 'नासिर पिया,' 'हुसनी पिया' आदि अनेक व्यक्तियों ने शृंगारी ठुमरी, दादरे और खेमटे आदि बनाये।

इस प्रकार आधुनिक युग के पूर्व खड़ी बोली में प्रचुर जन साहित्य हिन्दी भाषी क्षेत्र और उसके बाहर सुदूर महाराष्ट्र और गुजरात तक निर्मित हो चुका था। स्थूल रूप से सम्पूर्ण जनसाहित्य को चार भागों में बांटा जा सकता है—

(१) खड़ी बोली के ग्रामगीत जो मेरठ और दिल्ली के गावों में गाये जाते हैं, (२) लावनी या मरहठी ख्याल तथा दक्खिन के ग्राम गीत और बारहमासे आदि जिनका दक्खन, महाराष्ट्र और गुजरात तक प्रचार था। (३) स्वांग और भगत जो ठेठ खड़ी बोली प्रदेश के बाहर दूर दूर तक प्रचलित थे। (४) शृंगारी सागीत, ठुमरी, खेमटा, गजल आदि चलते गीत जो विलासी नवाबों के प्रश्रय में खूब पनपे।

अंग्रेजी संसर्ग के प्रभाव से जब देश मे राष्ट्रीयता की लहर उठी, चारों ओर सुधार हुए, उसी समय पिछले खेवे के शृंगारी जन साहित्य का भी परिष्कार किया गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही अन्य सुधारवादी आन्दोलनों के साथ इनके भी सुधार का आन्दोलन किया फलत. हरिश्चंद्र काल में नये ढग के सुधारवादी लोकगीत रचे गये।

इनके अलावा वह प्रचार साहित्य भी जनसाहित्य के अन्तर्गत ही है जिसकी रचना ईसाई धर्म प्रचारकों तथा आर्यसमाजी प्रचारकों ने की थी। इन सुधारकों और प्रचारकों ने लावनी, गजल, होली, दादरा, ठुमरी, कजरी आदि विविध लोक-प्रचलित गीतों में अपना मन्तव्य प्रगट किया। इनमें

लोकगीतों की सरसता का अभाव है। उपदेश की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट होने से इन रचनाओं में रमणीयता कम लोकसंग्रह की भावना ही अधिक है। फिर भी भारत की दुर्दशा और दरिद्रता के करुण गीतों और भारत-सन्तानों की अन्धवृत्ति पर किये गये व्यंग्यों में बड़ी प्रभावोत्पादकता है। इस काल के अधिकांश जनसाहित्य की भाषा भी खड़ी बोली ही है। श्रीधर पाठक के पूर्व सत्-काव्य म खड़ी बोली का सम्मानित स्थान निश्चित ही नहीं मिला परन्तु हरिश्चन्द्र ने जनसाहित्य के अलावा अपने नाटकों के साधारण पात्रों के सवादों और हल्के पद्यों में खड़ी बोली के कुछ प्रयोग किये थे।

खड़ी बोली के ग्रामगीत –[१]

ग्रामगीतों म उनके रचना स्थान की सम्पूर्ण विशेषताओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। इन गीतों म उनके जन्म भूमि की बोली का प्रकृत स्वरूप भी सुरक्षित रहता है क्योंकि ग्रामगीतों के रचयिता अधिकतर कम पढ़े लिखे लोग होते हैं और वे भाषा का सस्कार करना नहीं जानते। अत इन ग्रामगीतों विशेषतया स्त्रियों के सस्कार और पर्व-गीतों मे भाषा का प्रकृत रूप अक्षुण्ण रहता है।

कुरु प्रदेश के ग्रामों म यह रिवाज है कि विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ अपने नैहर भात न्योतने जाती हैं। निमन्त्रण पाने पर उनके भाई अपनी सामर्थ्य के अनुसार भेंट लेकर अपनी बहिन के घर विवाह में शामिल होते हैं। भात पाकर बहिन की प्रसन्नता गीतों म फूट पड़ती है। कुछ पंक्तियां देखिये—

> 'भैना ने अगन लिपाइ है, बीरा ने ढलदा है भात।
> भैया जाए ने ढलदा है भात ॥ छुकिया..

१—कुरु प्रदेश के लोक गीतों का कोई उत्तम सग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हो सका। महापंडित राहुल ने 'आदि हिन्दी की कहानियां और गीतें' (राहुल पुस्तक प्रतिष्ठान पटना) शीर्षक से लोकप्रचलित कहानियों और गीतों का एक सग्रह प्रकाशित कराया है। इसमें कुल ५६ कहानियां और ७२ गीत दिये हुए हैं।

बीरा भात भरा मेरे मातई, ढक दिये देवर जेठ।
मेरे पर्चों की शोभा मातई, अर मढई की शोभा बीर[1] ॥

वर्षा ऋतु में एक विशेष प्रकार का रगीन वस्त्र जिसे उधर धनुपपुरी कहते हैं, लाने के लिये एक पत्नी अपने प्रिय से आग्रह करती है। पति पत्नी की वार्ता गीत की निम्नलिखित पंक्तियों में देखिये—

राजा लसकर जइयो जी, के हमकू लइयों धनुपपुरी।
गोरी हमना जाने जी, कै कैसी तेरी धनुपपुरी ॥
राजा ऊदा ऊदा डढिया होय, किनारी चारों ओर जरी।
गोरा अब हम जहियें जी, कै लइयें तेरी धनुपपुरा[2] ॥

इन संस्कार और ऋतु गीतों के अलावा ग्रामगीतों में महत्वपूर्ण घटनाओं की भी चर्चा होती है। सन् १८५७ के गदर जैसी महत्वपूर्ण घटना को भले भारतेन्दु कालीन सत् साहित्य में स्थान नहीं मिला पर लोकगीतों में उसके विवरण निखरे पड़े हैं। मेरठ के एक गीत में वहाँ की एक स्त्री गदर की लूट का और उसमे अपने पति के भालेपन का वर्णन करती हुई कहती है—

लोगों ने लूटे शाल-दुशाले, मेरे प्यारे ने लूटे रूमाल।
मेरठ का सदर बाजार है मेरे सैंया लूट न जानें।
लोगों ने लूटे प्याली कटारे, मेरे प्यारे ने लूटे गिलास।
मेरठ का सदर बाजार···
लोगों ने लूटे गोले छुहारे, मेरे प्यारे ने लूटे बदाम। मेरठ का...
लोगों ने लूटे मोहर अशर्फी, मेरे प्यारे ने लूटे छदाम। मेरठ का...

प्रेम भी इन गीतों की चिरन्तन वृत्ति रही है। मेरठ की एक स्त्री अपने प्रियतम से आग्रह करती है—

१—कुरुप्रदेश के लोकगीत (सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, स० २०१० पृ० १८१)

२—वही पृ० १८१।

३—'आधुनिक हिन्दी साहित्य', डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० २८७।

सुन सुन रे पीतम सुखहाल, मैं भी चलूंगी तेरे नाल।
तेरा हाल सो मेरा हवाल। मुझे दुनिया ने बदनाम किया[१] ॥

दक्खिनी का लोक साहित्य —

नाथ संतों, सूफी फकीरों और मुसलमानी शासकों के साथ साथ खड़ी बोली अपने जन्मस्थान दिल्ली और मेरठ के बाहर दूर दूर तक प्रचलित हुई और दकन में जाकर यह अत्यधिक जनप्रिय हो गयी। वहा पर मुसलमानों ने इसे अपनी मातृभाषा बनाकर इसका नाम दक्खिनी रख दिया। दक्खिनी के संबंध में डा० अब्दुल हक ने अपनी किताब 'उर्दू की इब्तिदाई नशो व नुमा में सूफियाय कराम का काम' में लिखा है कि—'इन बुजर्गों के घरों में भी हिन्दी बोलचाल का रवाज था और चूंकि यह उनके मुर्शिदे मतलब था इसलिये वह अपनी तालीम व तकलीन में भी इसी से काम लेते थे।[२] जनभाषा का महत्व मिलने के कारण दक्खिनी में विशाल जनसाहित्य, ग्रामगीत, लावनी, खयाल, बारहमासा और पद आदि के रूप में तैयार हुआ। वर्षा ऋतु में गाये जाने वाले दकन के एक ग्रामगीत की कुछ पंक्तिया इस प्रकार हैं—

न्हयोकाला (बरसात) ग्राम अफोलगा, बीदर।

'न्हयो काला आया न्हयो काला आया।

उड़ते सो अबरां काले पतंगा, चांदी के डोरे पानी के धारां।
न्हयो काला आया·········
पानी की झड़ियां मोती की लड़ियां, बादल के घोड़े सोने की छड़िया।
न्हयो काला आया ·········
मही की चद्दर चांदी की पत्तर, फुल फुल के फुगो बहते हैं ऊपर।
न्हयो काला आया[3] ········

१—श्रीधर पाठक-'खड़ी बोली की कविता' (प्रथम हि० सा० स० कार्य विवरण द्वि० भाग)

२—डा० बाबूराम सक्सेना-'दक्खिनी हिन्दी' प्रथम संस्करण पृ० २९)।

३—श्रीराम शर्मा 'दक्खिनी का गद्य और पद्य' प्रथम संस्करण पृ० ३०८

लावनी व ख्याल—

जनसाहित्य के अन्य रूपों में लावनी का प्रमुख स्थान है। मराठी लोक-काव्य का तो यह एक महत्वपूर्ण अंग ही है हिन्दी के रीतिकाल के समसामयिक मराठी काव्य में 'पोवाड़ो' (वीररस प्रधान आख्यान काव्य) और 'लावड़ियों' (शृंगार रस प्रधान प्रेमगीत) का बहुत जोर रहा। इनके रचयिता कम पढे लिखे लोग होते थे। संवत् १८६२ के आसपास रामजोशी की शृंगार रस की लावनियां मिलती हैं। इनके अलावा अनन्त फन्दी, होना जी वाला, प्रभाकर, परशुराम, सगन भाऊ, आदि की लावनिया प्राप्त हुई हैं। इनका अधिकांश साहित्य शृंगार प्रधान है[१]। लावनी को मराठी या मराठी खयाल भी कहते हैं। आगे चलकर इसके गाने वालों के दो दल हो गये (१) तुर्रा (२) कलंगी। तुर्रा के प्रवर्तक महात्मा तुकनगिरि एक दशनामी सन्यासी थे और कलंगी के शाह अली एक फकीर। दोनों मध्यप्रदेश के थे। इनका समय सन् १७५० के आस पास अनुमान किया जाता है। क्योंकि तुकनगिरि के मुख्य शिष्य बाबा रसालगिरि सन् १८०० के आसपास कानपुर आये थे। कानपुर पीछे चलकर लावनीबाजों का प्रधान केन्द्र हो गया। पंडित प्रताप-नारायण मिश्र के काव्यगुरु ललित जी एक लावनी बाज थे। संतों और फकीरों ने लावनियों में सगुण निर्गुण का विवाद उठाया जो बहुत काल तक लावनियों का मुख्य विषय रहा। बाबा रसालगिरि ने लावनी का प्रचार बुन्देलखंड, सी० पी० और मारवाड़ तक किया। इन लावनियों के आरंभ में मंगलाचरण होता था। जिसमें इष्ट देवी देवता के साथ राजा की भी स्तुति होती थी। सन् १८११ ई० में गब्बू कवि की एक लावनी से कुछ पंक्तिया उद्धृत कर रहा हूँ जिनमें बड़ौदा के महाराज फतेह सिंह गायकवाड़ की प्रशंसा की गयी है।

१—लावनियों या ख्यालों की एक प्रसिद्ध पुस्तक 'साईं के सौ ख्याल' के आरंभ में उसके लेखक गेंदनलाल 'गौहर' ने लिखा है' पहिले हिस्से में रंगीन मिजाजी के ख्यालात यानी लावनी मरहठी और दोम में इबादत और कथाओं के तरजुमे उर्दू भाषा में हैं'। (नवल किशोर प्रेस, पहली बार १८९४ ई०) उक्त अवतरण से स्पष्ट होता है कि मरहठी लावनी में रंगीन मिजाजी की या शृंगार की ही चर्चा अधिक होती थी।

'बड़ौदा गायकवाड़ का, राज वो करते गुर्जर खंड का।
हाथी ऊपर उड़े जरी पटका, बाजता नौबत पर डंका॥
आबुका होते तोपों का, कलेजा धड़के दुश्मन का।
वीर नरसिंह बड़ा बांका, तखत तुम सुनो बड़ौदे का[१]।

तुर्रे वाले ब्रह्म को और कलगी वाले माया को बड़ा सिद्ध करते थे। इनके अलग अलग अखाड़े परस्पर उत्तर प्रत्युत्तर द्वारा दंगलों में जनता का मनोरंजन करते थे। काशीगिरि की एक लावनी से कुछ पंक्तियां देखिये—

'आज तलक नहिं कहा किसी ने और न कोई कह सकेगा अब।
आसमान हो तले जमीं ऊपर इसका कहो क्या मतलब॥
अगर तुम्हें मालुम होय तो कहो मायने इसके सब।
आइने में शकल नजर नहिं आये इसका कौन सबब॥
और बात मैं कहूँ आपसे इसके तईं सुनना साहब।
उलटा दरिया चले कहां पर इसका जवाब दीजियेगा कब[२]॥

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध लावनी का स्वर्ण युग था। उस समय इसके उस्ताद नत्थासिंह 'तालिब', बाबा रामकरनगिरि, बाबा शम्भुपुरी, पं० प्रभुदयाल, पं० रामप्रसाद, मुं० लालालाल आदि सभी तुर्रे वाले थे। इनके समसामयिक कलंगी सम्प्रदाय में बाबा बनारसीदास प्रसिद्ध लावनी बाज हुये। अधिकतर इन सबकी भाषा खड़ी बोली होती थी। परन्तु उसमें उर्दू और ब्रजभाषा का पुट भी रहा करता था। कम पढ़े लिखे होने से इनकी लावनियों में मात्रा दोष और व्याकरण दोष भी कम नहीं हैं पर उसे ये लोग गाकर पूरा कर दिया करते थे। इनमें से कुछ लावनियां लय और भाषा के प्रवाह के कारण बहुत ही लोकप्रिय हो गई थीं यथा फर्रुखाबाद के प्रसिद्ध लावनीबाज लाला गणेशप्रसाद की निम्नलिखित लावनी—

'बिन काज आज महराज लाज गई मेरी,
दुख हरो द्वारकानाथ शरण मैं तेरी।

१—गणपति जानकी राव—'गुजराती का हिन्दी से सम्बन्ध' पद्य साहित्य सम्मेलन, कार्य विवरण द्वि० भाग।

२—'ख्याल अर्थात लावनी मद्दज्ञान' (श्रीमत् काशीगिरि बनारसी पृ०)।

दुशासन वश कुठार महादुखदाई, कर पकरत मेरी चीर लाज नहीं आई ।
अब भयो धरम का नाश पाप रही छाई, लखि अधम सभा की ओर ॥
नारि बिलखाई ।
शकुनी दुर्योधन करण खड़े सब घेरी, दुख हरो द्वारका नाथ शरण में तेरी[1] ।

निर्गुण उपदेश के अलावा लावनियों का प्रधान विषय शृंगार रहा । नौटंकियों और सांगीतो में प्रयुक्त लावनियों का रूप और भी अश्लील हो गया । उर्दू साहित्य के आशिकाना तौरतरीके का भी ख्यालों पर प्रभाव पड़ा । काशीगिरि के एक ख्याल की कुछ पंक्तियां उल्लेखनीय हैं—

'गर्चे इश्क में रंज न होवे तो कोई इसका नाम न ले ।
आशक वो है रंज के सिवा और कहीं आराम न ले ॥
लाखों सदमें सहे जिगर पर जबां से निकले आह नहीं ।
चाहने वालों को रंज के सिवा किसी का चाह नहीं[2] ॥

बारहमासा—शास्त्रीय साहित्य में षट्ऋतु और जन साहित्य में बारह मासा का प्रचार बहुत प्राचीन है । षट्ऋतु में संयोग शृंगार का विधान अधिक होता है पर बारहमासा में प्रायः विरह वर्णन की परम्परा ही अधिक मिलती है । संत् साहित्य में जायसी और जन साहित्य में 'वहाब' का बारह मासा संभवतः सबसे पुराना है । वहाब का समय इसा की सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है । उसके बारहमासे के आरंभ की पंक्तियां इस प्रकार हैं—

'सखी बिछुरन कहानी मैं सुनाऊं, कि बारहमास पिय बिन मैं बिताऊं ।
सुनत ही आसु भर आये नयन में, जिसे बेदन बिरह का हाय तन में ॥
वर्षा बीतने पर ज्येष्ठ मास का वर्णन इस प्रकार किया गया है—
'सखी भरसाल तलफत हमको बीता । न जाना कौन दिन भर नैन सीता ।
कहानी में कहूँ सखियों बिथा की । सुनो बितलाय बातें इस कथा की ॥

१—लावनी चौदह रत्न सम्रहकर्ता राजाराम मिश्र बिहार, बन्धु प्रेम० द्वि० सं० पृ० २—५ ।

२—काशीगिरि—'ख्याल अर्थात् लावनी महाज्ञान' (वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई पृ० २०७)

कहानी का सखी जो भेद पावे। सकल जग तज के पीव को ध्यान लावे।
कहे 'औहाव' सो परवीण चेला। महम्मद है गुरु जिसका अकेला[1] ॥

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में ही मुहम्मद अफजल ने एक बारहमासा' या 'विकट कहानी' लिखा। कहा जाता है कि ये किसी हिन्दू लड़के गोपाल पर आशिक थे और अपनी ही विरह वेदना का बारहमासे में बयान किया है।

बारहमासे के आरम्भ में आप लिखते हैं—

'सुनो सखियों विकट मेरी कहानी। भई हूँ इश्क के गम से दिवानी।
न मुझको भूख है ना नींद राता। विरह के दर्द से सीना पिराता ॥
मेरे गल में पड़ी है प्रेम फांसी। भया मरना मेरा और लोग हासी।
जिन्होंने दिल मुसाफिर से लगाया। उन्होंने सब जनम रोते गवांया ॥

इनके अलावा सैराशाह का बारहमासा, बारहमासा निदा, और बारहमासा मुन्दर कली आदि प्राचीनता की दृष्टि से खड़ी बोली के उल्लेखनीय बारहमासे हैं। 'निदा' के बारहमासे का एक उदाहरण दिया जा रहा है—

आसाढ़ आया घटा घन घेरि आई, कड़क बिजुली की बादल ने सुनाई।
गगन पर छा गई काली अंधेरी। कटे किस तौर से अब रात मेरी।
विदेशी घर व घर सब अपने आये। सभी मिलजुल के घर अपना बसाये[2] ॥

सन् १८१२ ई० में लार्डमिन्टो के आदेश से मिर्जा काजिमअली जवा ने बारहमासों का एक संग्रह प्रकाशित किया। इस संग्रह से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

'यह है वैशाख गर्मी का महीना, हुआ गुल पर है शबनम पसीना।
महक फूलों की कोई ले रहा है, किसी को कोई बीड़े दे रहा है[3] ॥

१—वहाब—बारहमासा, प्रकाशक (मतबअ सवादी कानपुर चैत्र सुदी १० संवत् १६४५ पृ० १५।

२—बारहमासा 'निदा'—संपादक मुं० बीनारायण सन् १८८२ पृ० ३।

३—रूपाभ, जुलाई वर्ष १, संख्या १ 'हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी।'

सांगीत, स्वांग और भगत :—

खड़ी बोली की लोकप्रियता व्यापकता और प्राचीनता का यह बहुत बड़ा प्रमाण है कि सदियों पूर्व पूना, सागली और बंबई की मराठी भाषा भाषी जनता खड़ी बोली में अभिनीत स्वागो से रस ग्रहण कर सकती थी। बालकृष्ण पाठक ने सत्रहवीं शताब्दी में ललित सग्रहनामक स्वाग की रचना की। इस मराठी ललित स्वाग में तथा अन्य आरम्भिक मराठी नाटकों मे हिन्दी सवादों की अधिकता देखकर इसके व्यापक प्रभाव का अनुभव होता है। ललित सग्रह के एक हिन्दी संवाद की भाषा देखिये—[1]

'छड़ी दार निर्गुण निराकार जिनका अष्ट कूँ आधार, जिनकी नीति से वेद बने चार, उस साहब कूँ मुजरा करूँ। नजर राखे मेहरबान, साधु सन्त सुजान, मेरे जुबान पर रखो ध्यान, कहे बंदा रामजी अज्ञान, सब साधु सज्जन कूँ मुजरा करूँ। ऐसे महाराज निर्गुण निराकार, उन्ने लिये दश अवतार, किया दुष्टन का सहार, वो दीनोद्धार महाराज हैं, मेहरबान सलाम'।

ये स्वाग गीतिप्रधान होते थे। गीति काव्य का कोई प्राचीन रूप न रहने के कारण लावनी, ख्याल, शैर और चौबोले आदि का इनमें बहुत प्रयोग होता था। कभी कभी सवाद भी शैर और चौबोले में होते थे। गद्य संवाद की भाषा में भी तुक का आग्रह दिखाई पड़ता है। अधिकतर इन स्वागों और भगतों के विषय ऐतिहासिक या पौराणिक महापुरुष और उनके महान चरित्र हुआ करते थे। इस परम्परा के भगत और स्वाग मेरठ, हाथरस, आगरा, मुरादाबाद, आदि स्थानों में बहुत प्रचलित थे। हाथरस के प्रसिद्ध सागीतकार चिरजीलाल नत्थाराम ने 'आल्हा का 'विवाह', 'ऊदल का विवाह', इन्दल हरण, जागन का विवाह, निहाल दे का विवाह, चन्द्रावली का झूला, अमर सिंह राठौर, दयाराम गूजर आदि सागीता का रचना की। यहीं के दूसरे उस्ताद मुरलीधर ने सागीत आल्हा, सांगीत प्रहलाद, और कई अन्य सागीत लिखे। इनके अलावा रमते योगियों के गीतों में वर्णित पूरनचन्द, भरथरी, गोपीचन्द आदि पर भी कई सांगीत रचे गये। औरइया के मातादीन चौब ने सागीत पूरनमल, हाथरस के मुरलीधर और नत्थाराम ने सागीत गोपीचन्द

१—विनय मोहन शर्मा—'मराठी कला व रंगभूमि' (साहित्यावलोकन प्र० स०)

आदि लिखा। इनकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि रामायण और महाभारत जैसे पुनीत और विशाल ग्रन्थों को भी सागीतों के तर्ज पर रूपान्तरित किया गया। प्रायः सभी ख्याति-प्राप्त चरित्रों पर सागीत बने जैसे श्रवण चरित्र, नल चरित्र, हरिश्चन्द्र चरित्र, सुदामा चरित्र आदि।

इनकी भाषा का ढाचा खड़ी बोली पर आधारित होता था। परन्तु ब्रज और अरबी फारसी के अति चलते प्रयोगों का अभाव भी नहीं रहता था। हाथरस के स्वांगों, सागीतों में ब्रजभूमि की समीपता के कारण ब्रजभाषा का पुट अधिक है। सच बात तो यह है कि इन सागीतों की रचना करनेवाले अपढ़ कुम्हार, कोली, सगतरास, जुलाहे आदि होते थे। वे प्रायः पद योजना में भाषा की विशुद्धता के पक्षपाती नहीं होते थे और न उन्हें राष्ट्र भाषा का गौरव बढ़ाना था न खड़ी बोली का साहित्य समृद्ध करना था बल्कि उन लोगों को ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ी बोली में लिखना सरल लगा और आम जनता इसी भाषा को अधिक समझती और पसन्द करती थी अतः स्वभावतः उन लोगों ने खड़ी बोली को अपने सागीतों का आधार बनाया। इन सागीतों में दोहा, चौबोला, झूलना, लावनी, दादरा, कवित्त, गजल आदि विभिन्न लोकप्रचलित छन्दों और गीतों का प्रयोग होता था। नौटंकियों में एक दोहे के बाद चौबोला रखकर पीछे उड़ान द्वारा एक विशेष प्रकार के तर्ज की उत्पत्ति उनके आकर्षण का मूल होता था। हाथरस के प्रसिद्ध उस्ताद नत्थाराम के सागीत 'चन्द्रावली के झूले' से एक उदाहरण उक्त कथन के स्पष्टीकरण में उद्धरणीय है।

दोहा—दिल्ली का जा बादशाह, बेटी रह्यो सिखाय।
अब के नौलख बाग में, तू झूलन मति जाय॥
चौ०—तू झूलन मति जाय, महल में रेशम डोर डरा ले।
मान कही मेरी विधु वदनी, घर त्योहार मना ले॥
मदन ताल मति जाय कुँवा पै घूँघर सुता सिराले।
बुलवा के माली घर बेटी, नौलख बाग बनाले॥
उड़ान—सुता चन्द्रावली प्यारी, मान ले कही हमारी।
जाउ तेरी बलिहारी, गावो मंगलचार महल॥
मत बाग नौलखा जारी[1]॥'

१—चिरंजीलाल नत्थाराम—'सांगीत चन्द्रावली का झूला' (ब्राह्मण प्रेस, कानपुर पृ० २८)

इस प्रकार की बहुत सी रचनायें अप्रकाशित पड़ी हैं। लल्लू जी लाल के भाई मन्नूलाल के एक अप्रकाशित भगत 'सीताराम चरित्र' का नमूना देखिये—

'विजय माल लेकर चली, सिया सखिन के संग।
रग भूमि में उस समय, बरस रहा रसरग।
बरस रहा रसरग सियाने, कर सरोज लेकर बरमाल।
राघो जी के उर पहिराई, प्रेम फद का पड़ गया जाल।
सखियां कहैं राम पद परसो, डरपैं सुध कर गौतम बाल।
प्रीति अलौकिक देख सिया की, मन में बिहसे राम दयाल[1]।'

श्रृंगारी सांगीत और ठुमरियां आदि —

सांगतों की इस दूसरी परम्परा का सूत्रपात अमानत के सांगीत 'इन्दर सभा' से हुआ। इसपर विलासी नवाब की श्रृंगारिकता और आगे चलकर पारसी थियेटरों की अश्लीलता तथा उर्दू साहित्य के दर्दे-दिल, शमा-परवाना आदि का पूरा प्रभाव पड़ा। इस परम्परा के अन्तर्गत लिखे गये सांगीतों में इन्दर मन का इन्द्र सभा, मुरलीधर का 'दरियाई इन्द्र सभा' और नत्थाराम का 'गुंजरी', 'सब्जपरी', गुलफाम आदि मुख्य हैं। अमानत ने सन् १८५३ में 'इन्दर सभा' की रचना की थी। इसमें भिन्न भिन्न परियां इन्द्र की सभा में आकर ठुमरी, गजल, शेर, दादरे में अपना सवाद सुनाती हैं। इसकी भाषा में उर्दूपन अधिक है। 'इन्द्र' मच पर आते हैं और देव को आज्ञा देते हैं, साथ ही अपना परिचय भी—

'राजा हूँ मैं कौम का इन्दर मेरा नाम,
बिन परियों के दीद के नहीं मुझे आराम।
सुन ले मेरे देव अब दिल को नहीं करार,
जल्दी से मेरे वास्ते सभा करो तैयार।
तख्त बिछाओ जगमगा जल्दी से इस आन,
मुझको शब भर बैठना महफिल के दरम्यान[2]।'

१—बद्रीनाथ भट्ट—खड़ी बोली का कविता हि० साहित्य सम्मेलन कार्य विवरण द्वि० भा० पृ० १३०—१३६)

२—अमानत—'इदर सभा' हरिप्रकाश यन्त्रालय द्वि० स०, सवत् १९४९ पृ० १।

महफिल में पुखराज परी की गाई हुई निम्नलिखित गजल इस सागीत की भाषा और भावशैली आदि का अच्छा परिचय देती है—

'टकरा के सर को जाने न दूं मैं तो क्या करू।
कब तक फिराके यार में सदमें सहा करूं।
अन्धेर है लगाऊं जो उस शमारू से ली।
परवाना गैर पर मा है और मैं जला करू।
जी चाहता है सन अते साने पै हूँ निसार।
बुत को बिठा के सामने यादे खुदा करूं[1]।'

अमानत के इन्दर सभा के आधार पर अनेक सागीत रचे गये कुछ तो ज्यों के त्यो थोडे हेर फेर के साथ छपा दिये गये जैसे जिला उन्नाव ग्राम बदरका के *पंडित कृष्णबिहारी शुक्ल ने इसे बिल्कुल मामूली परिवर्तन के* साथ ज्यों का त्यों वेंकटेश्वर छापेखाने से संवत् १६५३ में छपवाया। इस शैली में 'लैला मजनू,' 'हीररांझा' आदि के कथानकों पर बनाये गये स्वांगों और नौटंकियों का साधारण जनता में बड़ा प्रचार था। भजनलाल कृत 'हीर रांझे' से एक झूलने का नमूना दिया जा रहा है। इस सांगीत की रचना *सन् १८११ में ही हो चुकी थी। अतः प्राचीनता की दृष्टि से भी इसका* महत्व है।

'भजन कहैं जब हीर की बाह पकड़ी उठ रांझे गले लगाई है रे।
उठी हीर लौं रांझे की बाह पकड़ लेके खिड़की के बीच आई है रे।
दोनों सेज बिछाय के बैठ गये पढ़ कुरान कई कंठ लगाई है रे।
पाक दोनों की एक सी है जोड़ी हक ताला ने बनाई है रे।
देख हीर की भाभी ने कहा भजन चुगली जाय पटमरा से खाई है रे[2]।'

इस प्रकार के सागीतों मे गजल और ठुमरी आदि की अधिकता का *मुख्य कारण है तत्कालीन नवाब और रईसों की पसन्द। नवाब वाजिदअली* शाह स्वयं अख्तर नाम से गजल और जान आलम पिया नाम से ठुमरिया लिखा करता था। इनके विषय घोर शृंगारी होते थे। इन गीतों से क्रमशः

१—वही पृ० ५।

२—भजनलाल—'हीरांझा' (नवल किशोर प्रेस, मथुरा सन् १८८४ पृ० १९)।

जनता की रुचि भ्रष्ट हो गई और इसी प्रकार की चीजे वह पसन्द करने लगी थी। सागीतकार पौराणिक और धार्मिक आख्यानो को भी इसी रग से सराबोर कर देते थे। फर्रुखाबाद के सागीतकार लाला गनेश प्रसाद अपने सागीत शकुन्तला में मेनका का रूप वर्णन करते हुए लिखते हैं—

'खिला नूर भरपूर अजब जोबन जमाल दिखलाती है।
परी मैनका माहरू परिसतान से आती है। लटक।
रही नागिन लट काला क्या बहार गुलबदन के बीच।
मिसाल कामिल हुग्रा रुख माह मुनव्वर गहनके बीच।
× × ×
कर चीनी को गौर शकल गुम तो सौकी हो जाती है।
परी मैनका माहरू परिसतान से आती है[1]।'

इस प्रकार की वर्णन-शैली को जनता बहुत पसन्द करती थी। इस रुचि-भ्रष्टता का कारण तत्कालीन सामाजिक परिस्थितिया हैं। इस काल में राजनैतिक और सामाजिक अराजकता व्याप्त थी। मुगल साम्राज्य का पतन हो रहा था। चारो ओर विद्रोह और बगावत हो रही थी। आये दिन लूट, रक्तपात आदि की घटनायें सुनाई पड़ती थीं। नाम मात्र के अन्तिम बादशाह इस विश्रृंखल स्थिति को नियन्त्रित कर सकने मे असमर्थ थे। वे जीवन की कठोर वास्तविकता से भाग कर सपनों की रगीन दुनिया में छिप जाना चाहते थे। इन नवाबों और अमीरों के आश्रित कवि गण जिनके पास स्वतन्त्र जीविका का कोई साधन नहीं था, अपने काव्यों में वास्तविकता का चित्रण क्या खा कर करते? यह स्थिति साहित्य और कला के विकास के लिए अत्यन्त अहितकर थी। मुसलमान शासको का उर्दू साहित्य की ओर अधिक झुकाव था। अतः इस काल को हिन्दी सत् कविता को सरक्षण नहीं मिल सका। जो कुछ नवीनता या उत्कृष्टता दिखाई पड़ती है वह व्यक्तिगत प्रतिभा है नकि सामूहिक चेतना।

उच्च साहित्य के अभाव में साधारण जनता भी अपना मनोरजन ठुमरियो, सागीतों और नौटकियों से करने लगी। फलतः इस प्रकार का साहित्य बहुत

१—लाला गनेश प्रसाद—'शकुन्तला नाटक' नवीन (दिलकुशा प्रेस, फतहगढ़ प्रथम भाग संवत् १९४७, पृ० १४)।

लोकप्रिय और विस्तृत हुआ। लखनऊ के विलासी वातावरण के प्रभाव से उर्दू की देखा देखी खड़ी बोली में भी अश्लील साहित्य की रचना बढी। दादरों, खेमटों और ठुमरियों में आशिक माशूक के नाले और शिकवे, वेवफाई और वेरुखी का बयान बढा। कहीं कृष्ण भी भूले भटके आ गये हैं पर राह चलते गोपियों से छेड़ छाड़ करना, दुलरी तोड़ना[1] और मटुकी फोड़ना ही उनका कार्य रह गया है।

सुधारवादी जन साहित्य

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध म अंग्रेजो की प्रगतिशील संस्कृति का हमारी पिछड़ी अवस्था पर जैसा प्रभाव पड़ना चाहिये था वैसा अनेक कारणों से नहीं पड़ सका। परन्तु सन् १८१३ ई० म विल्बरफोर्स ऐक्ट पास हो जाने पर ईसाई धर्म प्रचारकों को भारत मे अपने धर्म प्रचार की आज्ञा मिली और बडे उत्साहपूर्वक उन लोगों ने अपना कार्य आरम्भ किया। सन् १८३२ ई० तक मिशनरियों ने देश की बत्तीस भाषाओं मे अपने धर्म ग्रन्थों को प्रकाशित किया। ये ईसाई धर्म प्रचारक खड़ी बोली गद्य मे अपना मत प्रचार किया करते थे। परन्तु जनता को आकर्षित करनेके लिये बीच बीच में पद्य भी सुना दिया करते थे। इन लोगों ने लल्लू जी लाल के ब्रजरंजित खड़ी बोली गद्य को अपने प्रचार साहित्य की भाषा का आदर्श स्वीकार किया था। इनको अत्यन्त साधारण तथा निम्नवर्ग मे अपना मत प्रचार करना था। अत. यथा सम्भव इन लोगों ने भाषा बहुत ही सरल रखी। इस साहित्य का कोई काव्य-गत मूल्य नहीं है। यह पूर्णतया प्रचार साहित्य है। इसमें काव्यत्व या सरसता बिल्कुल नहीं है परन्तु भाषा शैली के विकास और उसके प्रचार की दृष्टि से ईसाई साहित्य का भी महत्व है।

ईसाई साहित्य—इन लोगों ने अपने प्रचारात्मक पद्यों में पद गजल और लावनी तथा अंग्रेजी ढग के कुछ मुक्त छन्दों का प्रयोग किया जिनम बहुत अधिक गद्यात्मकता है। इनमें से अधिकांश गीतों की रचना सन् १८५० ई० के पूर्व हो चुकी थी। एक गजल गीत की कुछ पंक्तियां देखिये—

मेरी नौका अब टूट जाती मुझे ऐसा आता डर।

---

[1]—'नासिर पिया' से मिल आई सजनी टूट गई दुलरी।'

लहर ऐसी प्रबल उठती डूब के मरता हूं उस पर ।'
प्रभु यीशु, अब लगाव किनारे पर[1] ।'

अंग्रेजी मीटर का निम्नलिखित प्रयोग भी द्रष्टव्य है—

एक द्वारा खुला रहता है, कि जिससे सदा आता
एक नूर जो क्रूस से फैलता है मसीह का प्रेम बतलाता
क्या यह हो सकता प्रेम अपार कि खुला रहा मुक्ति का द्वार ।
कि मैं कि मैं
कि मैं प्रवेश करूं
सबहों पर खुला है यह द्वार जो उससे मुक्ति चाहते
हर जात हर कौम धनवान लाचार
मुक्त उसमें पहुँच जाते वगैरा[2] ।'

इन गीतों में स्पष्ट ही उर्दू पन को पूरी तरह से बचाया गया है। सरल भाषा के लिये ही प्रयत्न किया गया है। अंग्रेजी ढंग के वाक्य विन्यास अवश्य दिखलाई पड़ते हैं जैसे ऊपर के गीत में 'सबहों पर खुला है यह द्वार जो उससे मुक्ति चाहते' वाली पंक्ति। हिन्दुओं की जातीय संकीर्णता, ऊंच नीच के भेद और छुआछूत आदि के विरुद्ध ईसाईयों की धार्मिक समानता ने लोगों को उधर अधिक आकृष्ट किया। मुंगेर निवासी जान क्रिश्चियन 'अधम' के गीत ईसाई साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने इस संसार को असार बताकर विरक्ति का उपदेश दिया। और हमारी लोकप्रचलित शैली के गीतों और पदों में अपनी रचनायें कीं। खड़ी बोली में 'अधम' का बनाया हुआ एक भजन नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

'दुनिये में मनुआ तू क्या लपटाना है।
मैं सत बार तुझे समुझाया, ख्याल न एको बेरि तु लाया।
जीवन मानो बुदबुद बात समाना है।

१—ए कलेक्शन आफ हाइम्स आफ डेली वरशिप—'जान पारसन और जान क्रिश्चियन' (बेपटिस्ट मिशन प्रेस चतुर्थ सं० १८७९ पृ० ८२)।

२—'गीत और भजन' (नार्थ इण्डिया ट्रैक्ट सोसायटी ने सन्डे स्कूलों के लिए संग्रह किया, इलाहाबाद मिशन प्रेस, १८७५ पृ० १७९)।

सुत हित भाई परिजन नारी, साथी तेरो दुइ दिन चारी।
छन भर के यह नाता क्या भरमाना है[१]।

इन लोगों ने अपने प्रचार का केन्द्र भारत के प्राय: सभी मुख्य स्थानों और पिछड़े प्रदेशों में स्थापित किया था। मिरजापुर के आरफन प्रेस से इनका बहुत सा प्रचार साहित्य प्रकाशित होता था। मिस लेसली की एक पुस्तक का खड़ी बोली गद्य-पद्य में 'ज्योतिरुदय' नाम से एक अनुवाद इस प्रेस द्वारा १८७५ ई० में प्रकाशित हुआ जिसके अनुवादक अलमोड़े के कोई सज्जन थे। इसके पद्य की भाषा सरल और शुद्ध खड़ी बोली है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ देखिये—

'तूने आँखें क्यों मूँद दीं, अरे गोपाल अरे गोपाल।

❀ ❀ ❀

'हाय हाय कहां जाऊं', कहां गोपाल को पाऊं।
मुझा चन्द सा मुखड़ा। मेरा जी जभी सुकड़ा[२]।

हरिश्चन्द्र द्वारा जनसाहित्य के परिष्कार का प्रयास :—

विक्टोरिया के शान्त शासनकाल में जनता स्थिर होकर अपनी दुर्दशा का अनुभव कर सकी और उसे दूर करने के लिये प्रगतिशील अंग्रेजों का अनुसरण करने लगी। फलत: ब्रह्म समाज की स्थापना हुई जिसने बंगाल को बहुत अधिक प्रभावित किया। अंग्रेजों के सम्पर्क से हिन्दी प्रदेश में भी नवीन चेतना की लहर उठी। अंग्रेजी संसर्ग, वैज्ञानिक शिक्षा और अंग्रेजी साहित्य ने हमारी कूप-मण्डूकता को दूर किया। लोगों में धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक सुधार की आकांक्षा बलवती हुई। हिन्दी साहित्य में इस नव जागृति के अग्रदूत की तरह भारतेन्दु का अवतार हुआ। किसी संगठित संस्था के अभाव में समाज सुधार का पूर्ण दायित्व भी हरिश्चन्द्र और उनके मंडल पर आ पड़ा। फलत उस समय का प्रत्येक साहित्यिक नेता और सुधारक भी हुआ। यह सच है कि इनकी जागृति में पिछली रात की खुमारी भी कम नहीं थी क्योंकि यह संक्रमण काल था। समाज और साहित्य में नवीनता तथा

१—'सत्यशतक' नार्थ इन्डिया क्रिश्चियन ट्रेक्ट एंड बुक सोसायटी, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण १८९४ पृ० १७।

२—'ज्योतिरुदय'—आरफन प्रेस मिरजापुर पृ० ८१।

प्राचीनता का सघर्ष चल रहा था। भारतेंदु ने इन दोनो अतिवादी परिस्थितियों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया।

हरिश्चंद्र को सत् साहित्य के ह्रास का बड़ा दुख रहता था। चारो ओर कुरुचि पूर्ण खेमटे, कजरियो, दादरों और ठुमरियो पर जनता टूट रही थी। उन्होंने इनका घोर निरोध किया। बलिया के भाषण में उन्होने कहा कि 'मीर हसन की मसनवी और इन्दर सभा पढाकर छोटेपन ही से लड़कों का सत्यानाश मत करो।' लोकरुचि को भ्रष्ट करने में इन्दर सभा और इस प्रकार के सगीतो का सचमुच बड़ा हाथ था। हरिश्चंद्र ने 'बदर सभा' नाम से इसकी पैरोडी लिखकर इसकी उच्छृखल अभिनय शैली और अश्लील प्रवृत्ति पर व्यग्य किया। उन्होने अनुभव किया कि जनता का हृदय परिवर्तन करने के लिए दृश्य काव्य बडे प्रभावशाली साधन हैं। अतः नये ढग के सुधारवादी नाटक रचे। कुरुचि पूर्ण साहित्य के प्रणयन का उन्होने बराबर विरोध किया। उनके 'वैदिकी हिंसा हिसा न भवति' प्रहसन का निम्नलिखित भरत वाक्य इस सम्बन्ध में उनके विचारों पर अच्छा प्रकाश डालता है—

'कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख सत् कविता सब कोई कहै'
यह कवि बानी बुध बदन में रवि ससि लौं प्रगटित रहै।'

वे चाहते थे कि उपदेश प्रधान सुरुचिपूर्ण उत्तमकोटि के साहित्य ग्रन्थों का निर्माण हो। राधाकृष्ण दास के नाटक महारानी पद्मिनी की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि 'ऐसे ही ग्रन्थो का प्रचार अब भारतवर्ष में अपेक्षित है। 'कदरपिया' की ठुमरी सुनते सुनते आर्यों में क्लीव पना अब चरम सीमा पर पहुँच गया। अब आर्यों को इस बात की याद दिलानी चाहिए कि उनके पूर्व पुरुष कैसे उदार, कैसे वीर, कैसे धीर, दृढ अध्यवसायी थे।'

परन्तु एक बारगी ही रूढि प्रिय भारतीय जनता को सत् साहित्य की ओर मोड़ना बड़ा कठिन था। दूसरे सत्काव्य से लाभ उठाने वाले उच्च वर्ग के पढे लिखे लोग थोडे से होते थे। उनसे सम्पूर्ण भारत के उत्थान की आशा नहीं थी। साधारण जनता न सत्काव्य की शास्त्रीय पोथियों को खरीद सकती थी न समझ सकती थी। अतः उन्होंने नीचे से ही कार्य करना आरम्भ किया। शुष्क उपदेश द्वारा जनसाधारण में सुधार और भी कठिन हो जाता अतः भारतेन्दु ने उन्हीं के ग्रामगीतों द्वारा उनका सुधार करना निश्चित

किया। गीतों का मानव-मस्तिष्क पर बहुत तीव्र प्रभाव पड़ता है। साथ ही काव्यरूप की दृष्टि से भी इन गीतों का बहुत महत्व था। हरिश्चन्द्र ने जब गीत रूपक, और गीत प्रधान नाटक लिखने शुरू किये तो अन्य गीतरूपों के अभाव में लावनी, होली, गजल, ठुमरी आदि पुराने रूपों को ही अपनाना आवश्यक हुआ। अंग्रेजी सभ्यता के फलस्वरूप वैदय संस्कृति और जनवादी प्रवृत्ति बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में जन साहित्य का सर्वथा परित्याग सम्भव भी नहीं था। विदेशी विद्वान भारतीय हृदय का सम्यक् अध्ययन करने के लिए भारतीय लोकगीतों का संग्रह और सम्पादन कर रहे थे। इससे भी लोकगीतों के प्रति आदर की भावना बढ़ी। भारतेन्दु ने भी अपनी समन्वयात्मक बुद्धि से काम लिया और लोकगीतों के बाह्यरूप को, जो जनता को बहुत प्रिय था ज्यों का त्यों रहने दिया परन्तु उनके विषय में परिवर्तन करने का आन्दोलन खड़ा किया। उन्होंने कहा कि लोकगीतों के लय और तर्ज तो वैसे ही बने रहने दिए जाय परन्तु सरल तथा लोकभाषा में नये सुधारवादी विषय जनता में प्रचारित किये जाय। इस अभिप्राय से उन्होंने 'जातीय संगीत' शीर्षक से एक अपील निकाली और उसमें लिखा—

'भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आज कल सोच रहे हैं उनमें एक और भी होने की आवश्यकता है। इस विषय में बड़े बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किन्तु वे जनसाधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इस हेतु मैंने यह सोचा है कि 'जातीय संगीत' की छोटी छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश गाँव गाँव म साधारण लोगों में प्रचार की जायँ। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय, तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है[१]।'

इन लोकगीतों के लिए उन्होंने ऐसे सभी विषयों का संकेत किया जिनसे देश के उन्नति की संभावना थी जैसे बालविवाह, बहुविवाह, वृद्धविवाह,

---

१—हरिश्चन्द्र—'जातीय संगीत' (भारतेन्दु ग्रन्थावली २रा भाग पृ० ६३५)।

विधवा विवाह निषेध, भ्रूणहत्या, शिशुहत्या, बहुजातित्व, बहुदेववाद, आलस्य, फूट, अदालत, नशा, अँगरेजी फैशन का अन्धानुकरण आदि का विरोध तथा बालशिक्षा, मैत्री और ऐक्य, पूर्वजआर्यों और मातृभूमि की स्तुति, भारत दुर्भाग्य, स्वदेशी आदि का प्रचार।

ऐसे गीतों के छन्द और भाषा के विषय मे उनका कथन था—

'........ऐसे गीत छोटे छोटे शब्दों में और साधारण भाषा में बनें, वरन् गवारी भाषा और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, साझी, लम्बे, लावनी, जाते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो, और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो, अर्थात् पंजाब में पजाबी, बुंदेलखंडी, बिहार में बिहारी ऐसे जिन देशों में जिस भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें[१]।'

भारतेन्दु कालीन भारतीय सगीत मे खडी बोली के प्रयोग—

भारतेन्दु ने केवल दूसरों को ही प्रोत्साहित नही किया बल्कि स्वयं ऐसे जातीत सगीत लिख कर दूसरो के सामने उदाहरण भी प्रस्तुत किया। इस प्रकार की रचनाओं में सभी प्रचलित प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु ने सत्काव्य मे ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया परन्तु जन-साहित्य मे लोक प्रचलित भाषा खडी बोली का प्रयोग भी प्रारम्भ किया। इन्होंने 'प्रेमतरग' 'रस बरसात' फूलों का गुच्छा, वर्षा विनोद, होली, विनयप्रेम पचासा, आदि कई जातीय सगीत के सग्रह लिखकर प्रकाशित किये। साधारण जनता की क्रय-शक्ति का ध्यान रखते हुए इन पुस्तकों का मूल्य असाधारण रूप से अल्प रखा गया।

प्रेमतरग मे २१ और 'विनयप्रेमपचासा' में १३ रचनायें लगातार खड़ी बोली म हैं। इनके अलावा 'वर्षा विनोद' और अन्य सभी पुस्तकों में खड़ी बोली के सगीत हैं। इन सगीतों में उन्होंने प्रायः रेखता, गजल, शैर, ख्याल और लावनी जैसे लोकप्रिय या उससे प्रभावित छन्दों का ही प्रयोग किया है। नाना धर्मों और मतमतान्तरों को झूठा झगड़ा बताते हुए उस रहस्यमय सत्ता के सबध मे वे लिखते हैं—

१—हरिश्चन्द्र 'जातीय सगीत' भारतेन्दु ग्रन्थावली तीसरा भाग पृ० ९३६।

'यह वह गोरख धंधा है, जिसका न किसी पर भेद खुला।
वह झगड़ा है फैसला जिसका कुछ अबतक न हुआ।
× × ×
हरीचंद के सिवा किसी पर जरा न तेरा भेद खुला।
वह झगड़ा है फैसला जिसका कुछ अब तक न हुआ[1] ॥'

हरिश्चन्द्र हृदय से प्रेमी जीव थे। कर्तव्य के ध्यान से उन्होंने सुधार और प्रचार के सम्बन्ध में सप्रयास बहुत कुछ लिखा भी, परन्तु उनके रसिक हृदय से सरस रचनायें स्वभावतः फूट पड़ती थीं। उनकी एक सरस लावनी का उदाहरण लीजिये—

'नहीं का बाक़ी वक्त नहीं है जरा न जी में शरमाओ।
लब पर जां है भला अब तो प्यारे मिलते जाओ।
हम तो ख़ैर हसरत लाखों ही जी में अपने ले के चले।
पर ये ख़ौफ है तुम्हें बेरहम न प्यारे कोई कहे।
हंसके रुखसत करो न जी में तो कुछ भी अरमान रहे।
कोई जुदा गर होय तो मिलते हैं सब जाके गले।
हरीचंद से भला रस्म इतनी तो अदा करते जाओ।
लब पर जां ......[2]

'रस बरसात' में वर्षा ऋतु में गाने लायक चीजें हैं। इसी में उनकी प्रसिद्ध लावनी—'बीत चली सब रात न आये अब तक दिलजानी'—संग्रहीत है।

'प्रेमतरंग' में उन्होंने अपनी रचनाओं के साथ ही अपने पूज्य पिता जी की रचनाओं को भी संग्रहीत किया है। 'चन्द्रिका' की बंगला रचनायें भी इसके अन्त में दी गई हैं। भारतेन्दु के पिता जी ने भी खड़ी बोली में कुछ कवितायें लिखी थीं। उनका एक भजन दिया जा रहा है—

'शरन जो श्याम के होते तो तुम भर नींद नित सोते।
न जम का देखते द्वारा तुम्हें मिलता वहीं प्यारा।
बना जो जोग जप नाहीं सो सब याहीं के है माही।

१—हरिश्चन्द्र—'फूलों का गुच्छा' (भारत जीवन प्रेस १८८५ ई०)
२—वही।

कहै यह भागवत गीता, भजो नित राम औ सीता।
जनम जाता तेरा बीता न कर नर मन को तू रीता।
कहै शिव चार मुख बानी हरी का दास है ज्ञानी।
सु गिरिधरदास यों बरनै गहौ घनश्याम की सरनै[१]।'

हरिश्चन्द्र के प्रयत्न स्वरूप उनके मंडल के सभी कवियों ने 'जातीयसंगीत' की सैकड़ों पुस्तकें लिखीं जिनमें श्री अम्बिकादत्त व्यास कृत 'धर्म की धूम' रसीली कजरी, हो हो होरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र कृत 'मन की लहर', होली है, देवकी नन्दन तिवारी कृत 'कबीर', देवी प्रसाद का 'योगीड़ा', खंगबहादुर मल्ल की 'सुधाबुंद' 'पीयूष धारा' और गौरीदत्त कृत 'नागरी के भजन' आदि उल्लेखनीय रचनायें हैं। स्त्रियों को अश्लील गानों से रोकने तथा शुभ अवसरों पर गाने के लिये गीतों के भी संग्रह निकले। इनमें गिरिराज कुंवरि कृत 'श्रीबृजराज विलास' और मुं० इन्द्रबलदेवलाल की 'मंगल-गीतावली' मुख्य हैं। इन सभी रचनाओं के विषय वे ही हैं जिनका भारतेन्दु ने अपनी 'अपील' में संकेत किया था परन्तु विशेष कवियों ने कुछ विशेष विषयों को चुन लिया था जैसे अम्बिकादत्त व्यास अंग्रेजी पढ़े लिखे बाबुओं और ईसाइयत के अंधप्रेमियों पर अधिक व्यंग्य किया करते थे। 'रसीली कजरी' में लिखते हैं—

प्यारे होके हिन्दुस्तानी बाबू अंग्रेजी मत बोल।
हाउ डूयूडू, हाउ डूयूडू कह क्यों होता डावांडोल।
जामा पगड़ी पहन बदन पर, कोट पैन्टलून खोल।
बिस्कुट पर मत लाल चुआ तू खा मेवे अनमोल।
हैट लगा सर सर करता क्यों बनता है बकलोल।
बात सुकवि की नहिं सुनने से निकल जायगी पोल[२]।'

रसीली कजरी को आद्योपान्त देखने के बाद ऐसा लगा कि नये भाव, सुधार, उद्बोधन, भर्त्सना, देशप्रेम आदि-खड़ी बोली की कजरियों में ही

१—'प्रेमतरंग' (हरिप्रकाश यन्त्रालय तृतीय आवृत्ति पृ० १५)।
२—अम्बिकादत्त व्यास—'रसीली कजरी' (विक्टोरिया प्रेस काशी, १८८३ ई० प्रथम आवृत्ति पृ० २)।

प्रकट किये गये हैं। ब्रजभाषा की कजरियों का मुख्य विषय अधिकतर शृंगार है। पढ़े लिखे भ्रष्ट हिन्दुओं के प्रति उनकी निम्नलिखित चेतावनी द्रष्टव्य है—

'तेरी बात निराली देखो तुझको भूत लगा है क्या।
तू तो बात नहीं कुछ सुनता तेरा होश उड़ा है क्या।
तैंने वेद पुरान डुबोये तैंने बीफा बिस्कुट खाये।
तैंने बोतल भी ढलकाये तू कलिराज बना है क्या[१]।'

इन लोगों में पंडित देवकीनन्दन तिवारी के व्यंग्य बड़े चुभनेवाले तथा प्रत्येक क्षेत्र को स्पर्श करने वाले होते थे। उन्होंने अपने 'कबीर' में राजनीति, धर्म, समाज सब पर तीखे व्यंग्य किये हैं। यहां उनका एक कबीर उद्धृत कर रहा हूँ—

'राजनीत औ धर्मनीति है औ समाज की प्रीति
तीनों के गुण दोष कबीरा कह्यो फाग की रीति
भला हित जान आपनो मत चिढ़ियो। अररर र कबी र।
तब के राजा ऐसे थे कि हरते प्रजा कलेस।
अब के राज बात बात पर प्रजा पीर के सेस।
भला कानून नाथ से नथ डाला। अ र र र र र कबी र[२]।'

पं० प्रतापनारायण मिश्र ने ब्रज और बैसवारी ही में अधिकतर 'जातीय संगीत' की रचनायें कीं। परन्तु 'मन की लहर' में प्रेम और भक्ति भाव से ओतप्रोत उनकी खड़ी बोली की लावनियां भी संग्रहीत हैं। एक लावनी की कुछ पंक्तियां देखिये—

'झूठे झगड़ों से मेरा पिण्ड छुड़ाओ।
मुझको प्रभु अपना सच्चा दास बनाओ।
है काम क्रोध, मद लोभ ने मुझको घेरा।
लूटे ही लेते हैं विवेक का डेरा।
यद्यपि बल साहस करता हूँ बहु तेरा।

१—वही पृ० ५।
२—देवकीनन्दन तिवारी—'कबीर' (भारत जीवन प्रेस १८८९ ई० पृ०)

पर हाय हाय कुछ बस नहीं चलता मेरा ।
मरता हूँ मरता हूँ बस धाओ धाओ[1] ।' मुशको०

मुं० गयाप्रसाद ने हरिजनों में नये भावों का प्रचार करने के लिये 'कबीर' लिखे । इनका स्वर चिरपरिचित कबीरों सा है, यथा—

'सुनलो भक्तों मोर कबीर
भारत भेद धसान है प्यार निहारो नैन,
सहल मिडिल पर नौकरी को को पावै चैन,
अबू से बनिजारी पर कमर कसो जासो अँगरेज लिया भारत ।
यह हुनर अमीरी है यारो[2] ।'

चौधरी प्रेमघन स्वभावतः आनन्दी व्यक्ति थे । स्वदेशानुराग के कारण कांग्रेस के प्रति उनका झुकाव रहता था । पर वे नरम विचार के देशभक्त थे । राजभक्ति भी उनमें कम नहीं थी । मिरजापुर में कजलियों का अधिक प्रचार होने से वहीं की स्थानीय भाषा में उन्होंने 'श्रीवर्षा विन्दु' लिखा । उसमें खड़ी बोली की भी कुछ रचनायें मिल जाती हैं । कांग्रेस के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा—

'नीके भारत के दिन आये नेशनल कांग्रेस अब होय ।
जागे भाग राजऋषि आये लाट रिपन छल खोय[3] ।'

खड़ी बोली में उनकी वर्षा विषयक कजली की कुछ पंक्तियां देखिये—

'क्या घिरी घटा घन की है कारी कारी ।
पड़ रही बूंदियां कैसी प्यारी प्यारी ।
क्या सौरभ साने सुखद समीरन डोलै ।
क्या चीख चीख केचातक देखो बोले ।'

१—प्रतापनारायण मिश्र—'मन की लहर' (भारत जीवन प्रेस, प्रथम संस्करण १८८५ ई०)

२—मुं० गयाप्रसाद—'कबीर' (खालिस राम प्रेस, आगरा, प्रथम बार १८८३ ई०)

३—चौधरी प्रेमघन—'श्रीवर्षा विन्दु (आनन्द कादम्बिनी प्रेस, प्रथम बार १८८८ ई० पृ० ४१ ।

४—वही पृ० ४६ ।

इन प्रसिद्ध साहित्यिकों के अलावा साधारण और अर्द्ध शिक्षित लोगों ने भी बहुत से ग्रामगीत रचे। इनमें अमान सिंह की 'शृंगाररसमंजरी' (१८८७ ई०) रामकृष्ण की 'श्याम कजरी', अम्बिकाप्रसाद मुख्तार की 'भजनावली', आनन्दी प्रसाद की गोअष्टक विलाप लावनी आदि पुस्तकों में खड़ी बोली की लावनियां, गजलें, कजलिया, आदि पर्याप्त प्राप्त हुई हैं। कलकत्ते के प्रसिद्ध संगीतज्ञ स्वर्गीय कृष्णानन्द रागसागर ने भिन्न भिन्न प्रान्तों में प्रचलित इन जातीय संगीतों का एक वृहद् संग्रह 'रागकल्पद्रुम' नाम से चार भागों में प्रकाशित कराया। इसका प्रथम खंड सन् १८४२ ई० में ही निकला था। प्रति खंड का मूल्य २५ रु० था। इसमें सभी प्रान्तों की सभी बोलियों में हर प्रकार के गीत संग्रहीत हैं। इसमें खड़ी बोली के लिये 'हरियाण दिल्ली की बोली' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अपने मत प्रचार कार्य में रोचकता पैदा करने के लिए आर्यसमाजी भी कुछ तुकबंदियाँ सुनाया करते थे। परन्तु इसमें शुष्क उपदेश की मात्रा बहुत अधिक होती थी। इस प्रकार की प्रचारात्मक तुक-बंदियों की अधिकता से काव्य प्रेमियों को सरस कविता के सम्बन्ध में शंका होने लगी थी। इसके अलावा तत्कालीन अधिकतर साहित्यिक दयानन्द के विरोधी थे। हरिश्चन्द्र ने अपनी लावनी में स्पष्ट ही लिखा था 'क्या तो गदहा को चना चटावैं की होइ दयानन्द जाय हो दुईरंगी'। 'भारतजीवन' (२६ मई १८८४ ई०) की सम्पादकीय टिप्पणी में आर्यसमाजियों को सम्बोधित करके कहा गया था कि 'वे खड़ी खड़ी कविता की मिट्टी खराब न करें।' इसके उत्तर में आर्यसमाज विलासपुर के मंत्री श्रीजगन्नाथ प्रसाद ने 'भारतराज्य' शीर्षक से एक पद्य प्रकाशित कराया था जिसकी दो पंक्तियाँ यहा दी जा रही हैं—

'कुरानी पुरानी और बड़े बड़े ज्ञानी देखे
जैनी और किरानी सहसन मतवादी को।
× × ×
भारत विचार कहैं सबन में छानि देखौ
देश को हितैषी एक स्वामी दयानन्द को।'

हिन्दी और नागरी प्रचार तथा गोरक्षा जैसे विषयों पर भी जातीय संगीत लिखे गये। बलिया के मन्नीलाल की एक लावनी से कुछ पंक्तियाँ इस संबंध में उद्धरणीय हैं—

'अब जगहुँ बीरवर भारतवासी कोऊ।
करती विलाप गौ और नागरी दोऊ¹।'

'हन्टर रिपोर्ट' को लक्ष्य करके इलाहाबाद के शिवराम पंड्या ने हिन्दी प्रचार विषयक अनेक लावनियां और गजलें लिखीं। उनकी एक लावनी की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

'हन्टर ने जो हिन्दी को हण्टर मारा।
बस टूट गया दिल टुकड़े हुआ हमारा।

× × ×

हिन्दी को नहीं क्या कोई देगा सहारा। बस टूट गया०
शिवराम विनय करता है दास तुम्हारा। बस टूट गया०²।'

पंजाब में हिन्दू धर्म और हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में श्रीश्रद्धाराम फुल्लौरी की सेवायें स्वामी दयानन्द से कम महत्व नहीं रखतीं। उन्होंने उपदेशात्मक गजल, बारहमासे और भजन आदि लिखे जिन्हें छपवाकर उनके शिष्यों ने जनता में वितरित किया। 'सत्य धर्म मुक्तावली' नामक उनके संग्रह की भाषा में खड़ी बोली के साथ ही पंजाबीपन भी मिलता है। क्योंकि ये ऐसी शब्द-योजना पसन्द करते थे जिसे अनपढ़ पंजाबी स्त्री-पुरुष आसानी से समझ सकें। फिर भी इनकी रचनाओं में कर्ण कटुता या ग्रामीणता कम है। उनके एक बारहमासे की भाषा देखिये—

'चढ़ा वैसाख विचार पियारे किस पर आकड़ करता हूँ।
मात पिता सुत होत पराये जिनकी खातर मरता हूँ।
अपने सुख का सब कोई गाहक किसको समझे घर का तूं।
सबको त्याग जाग कर श्रद्धा नाम सिमर ले हरि का तू³।'

१—भारतजीवन—१८ अगस्त १८८४ ई०।

२—वही २६ मई, १८८४ ई०।

३—श्रद्धाराम—'सत्यधर्म मुक्तावली', हिन्दू धर्म प्रकाशक सभा, लोदेहाना सं० १९३२ पृ० ४७।

इस बारहमासे की रचना सन् १८६५ ई० के पूर्व हो चुकी थी। अत. प्राचीनता की दृष्टि से भी इसका महत्व है। उनकी लिखी हुई 'रेल की गजल' में खड़ी बोली का प्रयोग देखिये —

> 'स्टेशन जिसम है मेरा नफस की रेल चलती है।
> पकर सक्ता नहीं कोइ कि जब फारम निकलती है।
> नहीं आती है जब तक तार धुर से लैन किलियर की।
> करो दिल की सफाई फिर जरा फ़ुरसत न मिलती है[1]।'

इसमे जिसम (जिस्म) नफ्स, फ़ुरसत आदि उर्दू और स्टेशन, फारम (प्लेटफार्म) और लाइन क्लियर आदि अग्रेजी के प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

नाटकों में खड़ी बोली पद्य:—

इस प्रकार नये विचारों और सुधारवादी विषयों पर खड़ी बोली मे जातीय सगीत की राशि राशि रचनायें होने लगी थीं। गद्य में तो खड़ी बोली का प्रयोग भारतेन्दु ने निर्विवाद कर दिया था, परन्तु सत्काव्य में खड़ी बोली का प्रयोग नहीं के बराबर होता था। हरिश्चन्द्र ने जब नाटक लिखना शुरू किया तो उन्हें लगा कि एक ही रचना का गद्य-खड खड़ी बोली में और पद्य खड-ब्रजभाषा मे लिखा जाना बेतुका है। अत. उन्होंने प्रहसनों तथा निम्न वर्ग के पात्रों और मुसलमान पात्रों की भाषा के लिये खड़ी बोली का प्रयोग शुरू किया परन्तु सस्कार तथा प्राचीनता के मोहवश वे परम्परा का पूर्ण अतिक्रमण न कर सके और उच्च वर्ग के पात्रों के पद्यबद्ध सम्वादों को ब्रजभाषा मे ही रहने दिया। लाला श्रीनिवासदास, जो ठेठ खड़ी बोली प्रदेश के साहित्यिक थे, को छोड़कर अन्य लेखकों ने हरिश्चद्र से भी कम खड़ीबोली का पद्य में प्रयोग किया। हरिश्चन्द्र के प्रहसन 'वैदिकी हिसा हिंसा न भवति' और 'अधेर नगरी' में क्रमशः नशे में पुरोहित और पाचकवाले की भाषा खड़ी बोली है। 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' मे डोम और डाकिनी, 'सती प्रताप' म यमदूत तथा 'प्रेमजोगिनी' मे दलाल की भाषा खड़ी बोली रखी गई है।

१—वही पृ० ४३, ४४।

'नीलदेवी' में मुसलमानों की पद्य भाषा खड़ी बोली है। इनके सुधारवादी रूपक 'भारतदुर्दशा' में 'भारतदुर्दैव' का गाना सुनिये—

> 'अरे,
> उपजा ईश्वर कोप से औ आया भारत बीच।
> छार खार सब हिंद करूं, मैं तो उत्तम नहिं नीच।
> मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।
> कौड़ी कौड़ी को करूं मैं सबको मुहताज,
> भूखे प्रान निकालूं इनका तो मैं सच्चा राज।
> काल भी लाऊं महगी लाऊं और बुलाऊं रोग।
> पानी उलटा कर बरसाऊं, छाऊं जग में सोग।
> फूट बैर औ कलह बुलाऊं, लाऊं सुस्ती जोर।
> घराघर में आलस फैलाऊं, छाऊं दुख घनघोर[1]।'

उक्त गीत पर सांगीतों के धुन का प्रभाव स्पष्ट है। सुधारवादी पद्यों में अधिकतर खड़ी बोली का प्रयोग बढ़ रहा था। 'सती प्रताप' गीति रूपक में नैपथ्य से निम्नलिखित गीत गाया गया है—

> 'तुझ पर काल अचानक टूटेगा।
> गाफिल मत हो लवा बाज ज्यों हसी खेल में लूटेगा।
> कब आवेगा, कौन राह से प्रान कौन बिधि छूटेगा।
> यह नहि जानि परैगी बीचहिं यह दरपन फूटेगा।
> तब न बचावेगा कोई जब काल दंड सिर कूटेगा।
> 'हरीचन्द' एक वही बचैगा जो हरिपद रस घूटेगा[2]।'

संभवतः यह हरिश्चन्द्र के नाटकों में खड़ी बोलीसत्काव्य के विरल उदाहरणों में एक है।

अन्य नाटककारों में श्रीनिवासदास ने खड़ी बोली के गीत और पद्य अपने नाटकों में दूसरों की अपेक्षा अधिक रखे। लोक प्रचलित गीत जैसे दादरे, खेमटे और कजलियों के अलावा थियेट्रिकल तर्ज के चलते गाने

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १ पृ० ४७३।

२—वही पृ० ७९५।

भी इन्होंने लिखे। थियेट्रिकल ढंग के एक गाने की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत हैं—

'मैं वारी जाऊ प्यारी मेरी वारिया, तेरी मैं बलिहारी जी
तेरा मैं बलिहारी कोमल नार ॥टेक॥
बिजुरी भी चमके प्यारी मेरी झमक से जि काई सननन चले बियार।

× × ×

गरमी भी बीती प्यारी तेरा दुख गया जि को अब क्यों करै विचार।
अब तो आशा तेरी पुज गई जी[1]।'

मुरादाबाद के शालिग्राम ने भी अपने नाटकों में खड़ी बोली के पद्यों को अपेक्षाकृत अधिक स्थान दिया। उनके अभिमन्यु नाटक में भूत और राक्षसों के अलावा उच्च वर्ग के स्त्री पुरुष पात्र भी खड़ी बोली में गीत और सोरठ आदि गाते हैं जैसे—

'कुंद और केतकी के हम अकोले फूल लावेंगी।
उन्हें चुन चुन के गजर हार और माला बनावेंगी।
गले में डार प्यारी के तपन तन की बुझावेंगी।
...........[2]

'बिहारबन्धु' के सम्पादक केशवराम भट्ट की भाषा-नीति उर्दू की ओर झुकी हुई थी। वे उर्दू को खड़ी बोली की एक साहित्यिक शैली मात्र मानते थे। उन्होंने हिन्दी व्याकरण की भूमिका में अपने भाषा सम्बन्धी विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'जब कोई किसी विषय को लिखने बैठता है तो उसके सामने बहुत से भाव भी आ खड़े होते हैं। जिन्हें नित्य की बोलचाल नहीं व्यक्त कर सकती। लाचार ऋण लेना पड़ता है। यह ऋण मुसलमान अरबी से लेते हैं और हिन्दू संस्कृत से। इसी भेद के कारण हिंदी का एक नाम और उर्दू भी हो गया है।.........हिन्दी उर्दू

१—लाला श्रीनिवास दास—'संयोगिता स्वयंवर' प्र० स० सारसुधानिधि प्रेस संवत् १९४२ पृ० ३७

२—लाला शालिग्राम—'अभिमन्यु नाटक' वेंकटेश्वर प्रेस, संवत् १९५३ पृ० ३५।

को अलग अलग दो भाषा समझना बड़ी भूल है। क्योंकि व्याकरण सम्बन्धी हेरफेर में दोनों के ऐसा कोई भेद नहीं।'

इसी नीति का पालन उन्होंने अपने दोनो उत्तम नाटकों—'सज्जाद सुम्बुल' और 'शमसाद सौसन' में भी किया पर लोकमत के उर्दू विरोधी होने के कारण इनके नाटकों को लोकप्रियता नहीं प्राप्त हो सकी। इन नाटकों में आये हुए पद्यों की भाषा उर्दू मिश्रित खड़ी बोली है। ब्रजभाषा का इन्होंने पद्य म कहीं भी प्रयोग नहीं किया। इनके 'पालू' गीत की भाषा का नमूना देखिये—

> 'कहीं अंगरेज हैं बाहम कहीं अगरेजिनें बाहम।
> दियारे हिन्द में अब औज पर जिनका जमाना है[1]।'

हरिश्चन्द्र की देखा देखी उनके साथियों ने भी अपने सुधारवादी नाटकों में खड़ी बोली पद्य को स्थान दिया। अम्बिकादत्त व्यास प्रगतिशील विचारों के विद्वान थे। उन्होंने भाषा, भाव, छन्द आदि सभी क्षेत्रों में नवीनता का स्वागत किया। 'भारत सौभाग्य' नाटक में उत्सव के अवसर पर अन्य भाषाओं के साथ खड़ी बोली मे भी एक कविता उन्होंने सुना दी है। प्रतापनारायण मिश्र के 'भारत दुर्दशा' नाटक मे 'आलस्य' की पद्य भाषा खड़ी बोली है। यहा तक कि खड़ी बोली पद्य के घोर विरोधी राधाचरण गोस्वामी ने, भी अपने 'भग तरग' प्रहसन में खड़ी बोली का एक गजल रख दिया है, जो इस प्रकार है—

> 'टांगे लथरा गई' चमड़ी पै बड़े दाग हुये।
> बाल हलहल के सुआपालक के से साग हुये।
> गिर पड़े फल जो खिजूरी की तरह सूख सूख।
> पिच गये गाल बबूले की तरह दूख दूख[2]।'

इस प्रकार भारतेन्दु युग के नाटकों और प्रहसनों में एक छोटा सा स्थान खड़ी बोली पद्य को भी मिलने लगा था। वस्तुतः भारतेन्दु की भाषा नीति बड़ी उदार थी। उन्होंने कर्पूर मजरी में स्वयम् कहा था 'बात अनूठी चाहिये

१—केशवराम भट्ट—'सज्जाद सुम्बुल' प्र० सं० बिहारबन्धु छापा खाना सन् १८७७ पृ० १२।

२—राधाचरण गोस्वामी—'भंग तरंग' प्रहसन।

भाषा कोऊ होय'। ब्रजभाषा के प्रति स्वाभाविक झुकाव होते हुए भी उन्होंने यह स्पष्ट अनुभव कर लिया था कि थोड़े ही दिनो पीछे खड़ी बोली में पद्य रचना की प्रवृत्ति अवश्य बढेगी और खड़ी बोली भी काव्य की भाषा बनेगी। वे भविष्य द्रष्टा थे और सन् १८७२ ई० में ही उन्होंने 'हिन्दी कविता' शीर्षक लेख में लिखा था कि अब तक खड़ी बोली में पद्य कविता नहीं बनी पर जो ऐसी वृद्धि है तो आशा है यह भाषा सुधर जायगी'। उन्होने केवल ग्रामगीतों और नाटकों में ही खड़ी बोली पद्य को स्थान नहीं दिया बल्कि सत् काव्य में भी खड़ी बोली को उचित स्थान देना चाहा था। १ सितम्बर सन् १८८१ ई० के 'भारत मित्र' मे प्रकाशित उनकी तीन खड़ी बोली की कवितायें तथा निम्नलिखित पत्र इस कथन का प्रमाण है। उनके पत्र से प्रगट होता है कि वे खड़ी बोली में काव्य रचना को सरस एव सुन्दर बनाने के लिये प्रयत्नशील थे और यदि अवकाश मिला होता तो इस क्षेत्र मे भी वे अवश्य कुछ कर जाते। यहा उनका पत्र उद्धृत किया जा रहा है—

'प्रचलित साधु भाषा में कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें कसर क्या है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। इस विषय में सर्वसाधारण की अनुमति ज्ञात होने पर आगे से वैसा परिश्रम किया जायगा। तीन भिन्न भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने ही के लिये कि किस छद में इस भाषा का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे संतुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है। मैंने कहीं कहीं सौन्दर्य के हेतु ही दीर्घ मात्राओं को भी लघु करके पढ़ने की चाल रखी है। लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे, तो और भी लिखने का यत्न करूगा।'

खड़ी बोली में कविता करते समय हरिश्चन्द्र या अन्य कवियों को सबसे बड़ी असुविधा छन्द के सम्बन्ध मे मालूम पड़ती थी। खड़ी बोली का नये नये छदों में प्रयोग करना अनभ्यास के कारण श्रमसाध्य था। इसकी क्रियाओं

१—हरिश्चन्द्र—'हिन्दी कविता' (कविवचन सुधा १० जनवरी १८७२ पृ० ७८–७९)।

में दीर्घमात्रा और शब्दों को सुविधानुसार तोड़ने मरोड़ने की छूट न होने से असुविधा और बढ जाती थी। सबसे बड़ी असुविधा तो अनभ्यास की ही थी। ब्रजभाषा के कवियों के लिए खड़ी बोली में पद्य लिखना बिल्कुल नीरस लगता था। परन्तु यह सब होते हुए भी हरिश्चन्द्र ने इस प्रचलित साधु भाषा में पद्य-रचना का प्रयत्न किया और उन्होने तीन भिन्न भिन्न छंदों मे निम्नलिखित तीन कवितायें 'भारतमित्र' म प्रकाशनार्थ भेजी—

१—'बरषा सिर पर आ गई हरी हुई सब भूमि।
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमर गण झूलि।

× × ×

खोल खोल छाता चलै लोग सड़क के बीच।
कीचड़ में जूते फंसे जैसे अघ में नीच।'

२—'गरमी के आगम दिखलाये, रात लगी घटने।
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर, बैठ लगी रटने।
ठढा पानी लगा सुहाने, आलस फिर आई।
सरस सुगन्ध सिरिस फूल की कोसों तक छाई।
उपवन में कचनार बनों में टेसू हैं फूले।
मदमाते भौंरें फूलों पर, फिरते हैं भूले।'

३—'कहा हो हे हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़ कर मुझको सिधारे।
बुढ़ापे मे मुझे यह देखना था।
इसी के भोगने को मै बचा था।'

वस्तुतः जब हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली में पद्य लिखना शुरू किया उस समय खड़ी बोली में छन्द नहीं के बराबर थे। सत साहित्य से प्राप्त कुछ पदों और गीतों के अलावा फकीर के रेखते, खुसरो की मुकरिया तथा उर्दू के बह्रों के आधार पर ही भारतेन्दु को अपना प्रयोग करना पड़ा। सत साहित्य से प्राप्त भजनों के ढंग पर उन्होंने कुछ भजन और गीत रचे जैसे 'हरिमाया भटियारी ने क्या अजब सराय बसाई है।' या 'डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।' ये पद और गीत अधिकतर भक्ति और वैराग्य भाव से ओतप्रोत हैं और उनकी अन्तिम अवस्था में लिखे गये थे। 'नये जमाने का

मुकरी' उन्होंने खुसरो के मुकरियों की शैली पर लिखी। इसमें कुल १४ मुकरिया हैं जो रेल, अंग्रेज, अंग्रेजी, ग्रेजुएट, चुंगी, अमला, पुलिस आदि पर व्यग्य हैं। अमानत के प्रसिद्ध सागीत 'इन्दर सभा' की पैरोडी 'बन्दर सभा' नाम से उन्होंने हरिश्चन्द्र चन्द्रिका संख्या ६, जुलाई सन् १८७९ में प्रकाशित की। उनका 'उर्दू का स्यापा' मरसिये के ढंग का होते हुए भी एक व्यग्यात्मक पद्य है। खड़ी बोली मे गजल, रेख़ते और शैर इत्यादि के अलावा 'रसा' उपनाम से उर्दू के बहों में उन्होंने पर्याप्त रचनायें कीं। इनकी और इनके साथियों की ऐसी ही रचनाओं को अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'मौलवी स्टाइल' की कविता कहा था। इन्होंने थोड़ी सी समस्या पूर्तिया भी खड़ी बोली मे की। 'राम बिना बेकाम सभी' समस्या पूर्ति उन्होंने खड़ी बोली में इस प्रकार की थी—

> 'इक्कीस तोप सलामी की औवल दर्जे का काम सभी।
> ख़ास खाब इस्टार हुये, महराज बहादुर नाम सभी।
> जग जस पाया मुलुक कमाया किया ऐश आराम सभी।
> सार न जाना रहा भुलाना राम बिना बेकाम सभी[1]।'

हरिश्चन्द्र की इन कविताओं के अलावा अन्य कवियों की भी थोड़ी सी खड़ी बोली की पद्य रचनायें मिलती हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने 'सागीतों' की शैली पर 'सागीत शाकुन्तल' खड़ी बोली में लिखा। हरिश्चन्द्र के मुकरियों की देखा देखी इन्होंने 'लोकोक्ति शतक' की रचना की जिसमें यत्र तत्र खड़ी बोली की भी लोकोक्तिया हैं। 'बरहमन' उपनाम से उर्दू बहों मे इन्होंने गजल और शैर भी लिखे। इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी खड़ी बोली में कुछ न कुछ कवितायें की। परन्तु भाषा भाव, छन्द विषय आदि की दृष्टि से हरिश्चन्द्र के आगे बढ़कर नवीनता का परिचय किसी कवि ने नहीं दिया।

हरिश्चन्द्र काल में नवीनता के साथ ही प्राचीनता भी सभी क्षेत्रों में बनी रही। नये भाव आ रहे थे परन्तु पुराने भी पूर्णतया पीछे नहीं छूट गये थे। हरिश्चन्द्र ने नवीनता के झोंक में आकर प्राचीनता का पूर्ण बहिष्कार नहीं किया। यही कारण है कि हरिश्चन्द्र काल मे साधारणतया लोगों को दो विरोधी प्रवृत्तिया दिखाई पड़ती हैं। देश भक्ति के साथ राजभक्ति, सुधारवादी

१—हरिश्चन्द्र—'भारतेन्दु संग्रह' भाग २ पृ० ८६४-६५।

कविता के साथ शृंगारी प्रवृत्ति और खड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा इसी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप दिखाई पड़ती है। हरिश्चन्द्र स्वयं सामन्तवादी वातावरण में पड़े थे। जमींदारों के रूप में सामन्तों का एक दल तब भी समाज में शक्तिशाली था। इसलिए पुरानी रुचि का बना रहना स्वाभाविक था। प्राचीनता का मोह और नवीनता के प्रति थोड़ी झिझक होती भी है। भाषा के क्षेत्र में ब्रजभाषा का सम्मान और अभ्यास कई सौ वर्षों का पुराना था। एकाएक उसे छोड़कर पूर्णतया नई भाषा अपना लेना असम्भव था। हरिश्चन्द्र स्वत वल्लभ सम्प्रदाय क भक्त थे, रसिक थे, अतः ब्रजभाषा की परम्परावादी कविता के प्रति उनकी रुचि स्वाभाविक थी।

हरिश्चन्द्र मंडल के बाहर श्रीधर पाठक ही एक ऐसे उदार प्रगतिशील कवि थे जिन्होंने काव्य के क्षेत्र में सर्वत्र नवीन सम्भावनाओं की ओर सकेत किया। सन् १८८४ ई० में ही उन्होंने 'गडेरिया और 'दार्शनिक शास्त्री' नामक अनुवाद प्रकाशित कराया। जो भाषा, विषय और भाव की दृष्टि से हिन्दी काव्य क्षेत्र में एक नयी दिशा का सूचक था। उसके मंगलाचरण की दो पंक्तियां देखिये—

'किया चाहिये पहिले उसका स्मरन, कि जिसके चरण मे जगत का शरन।'

कथा का आरम्भ इस प्रकार होता है—

'अलग बस्तियों से बसे एक किसान। अबाधित धनार्जन की चिन्ता मे जान'[1]।'

इस प्रकार खड़ी बोली मे विस्तृत लोक साहित्य की रचना हो चुकी थी और इसी विशाल पृष्ठ भूमि पर खड़ी बोली के आन्दोलन की नींव रखी गई।

———

१—श्रीधर पाठक—'भारतजीवन' २६ मई १८८४ ई०।

चतुर्थ अध्याय

खड़ी बोली पद्य का आन्दोलन (प्रथम उत्थान)

उर्दू का विरोध होते हुए भी खड़ी बोली की अत्यधिक लोकप्रियता और उपयोगिता की कहानी पिछले अध्यायों में अंकित की जा चुकी है। सन् १८८५ तक इसके गद्य ने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली थी। सैकड़ों पत्र पत्रिकाओं द्वारा खड़ी बोली गद्य में बाजारों के भाव, विज्ञापन, लड़ाइयों के हाल, देश विदेश के समाचार, इतिहास भूगोल और अन्य ज्ञान-विज्ञान संबंधी विवरण तथा यात्राओं के वर्णन आदि विविध लोकोपयोगी विषय जनता तक पहुँचाये जा रहे थे। मुद्रण यंत्रों से जिस प्रकार पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन बढ रहा था उसी प्रकार रेल, तार डाक आदि साधनो से पाठकों की संख्या में भी अभूतपूर्व वृद्धि हो रही थी। पहले की भाँति केवल थोडे से साहित्यिक जन ही काव्य का रसास्वादन करनेवाले नहीं रह गये थे बल्कि अधिकाश साधारण जनता अब हिन्दी साहित्य के समीप आने लगी थी।

गद्य और पद्य की भाषा विषयक विषमताः—

लोक प्रचलित खड़ी बोली गद्य के माध्यम के कारण ठेठ व्रजभाषा क्षेत्र से प्रकाशित पत्रिका का उपयोग भोजपुरी क्षेत्र का पाठक भा सरलता पूर्वक कर सकता था। परन्तु एक क्षेत्रीय भाषा में रचित पत्र दूसरे क्षेत्र के पाठक के लिए काफी असुविधाजनक सिद्ध होते थे। इन पत्रों में प्रकाशित पद्य परम्परागत काव्य की ब्रज भाषा मे रहते थे। शिक्षा विभाग से सम्बद्ध पत्र-पत्रिकाओं में भी गद्य और पद्य की भाषा विषयक विषमता ज्यो की त्यों बनी हुई थी। काशी पत्रिका उन दिना शिक्षा विभाग की प्रमुख पत्रिका थी। इसमें हिन्दुस्तानी[१] भाषा के माध्यम से छात्रोपयोगी विषय नागरी और

१—"As this Journal is specially designed to benefit natives who are ignorant of English. For

फारसी लिपियों में छप कर पाठशालाओं मे वितरित होते थे। इसके गद्य और पद्य की भाषा में जमीन और आसमान का अन्तर था। इसके गद्य की भाषा का नमूना पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। निम्नलिखित पद्य की भाषा से उसका मिलान करने पर विषमता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

"नित सत्य कहो जु असत्य तजो।
मृदु बैनहु को सतसंग भजो॥
जग बीच न दूसर पाप रहा।
जु करै नहिं सो जिन झूट कहा[1]॥"

भाषा विषयक यह विषमता केवल पत्र-पत्रिकाओं में ही नहीं पाठ्य पुस्तकों मे और अधिक असुविधाजनक सिद्ध हो रही थी। नव-जाग्रति के कारण शिक्षा का प्रचार तेजी से बढ रहा था। गाँव गाँव में प्रारम्भिक पाठशालायें और तहसीलों तथा शहरों में मिडिल और हाइस्कूलों की स्थापना हो रही थी। इन विद्यालयों के लिये विविध विषयों पर पाठ्य पुस्तकें निकल रही थीं। पुराने जमाने मे गुरु के पास विद्यार्थी बैठकर जब मौखिक उपदेश सुना करते थे, पुस्तकों का अभाव था उस समय भाषा की एकरूपता का विशेष महत्व नहीं था। परन्तु जब एक ही गुरु अपनी पुस्तकों द्वारा संयुक्तप्रान्त ही नहीं, उसके बाहर बिहार, मध्यप्रान्त तक की पाठशालाओं में बैठे विद्यार्थियों को शिक्षा देने लगा तो इन पुस्तकों के लिये एक निश्चित प्रतिमित भाषा का होना आवश्यक हो गया। शिक्षा विभाग की नीति से बालकों को एक विदेशी भाषा अंग्रेजी के साथ ही कचहरी की जबान उर्दू के लिए तो कठिन श्रम करना ही पड़ता था साथ ही हिन्दी में भी गद्य और पद्य की भिन्न भिन्न भाषाओं के कारण विद्यार्थियों की कठिनाई और भी बढ गई

---

this reason the langusge of the magazine is simple Hindustani, so familiar to the inhabitants of a large portion of Nothern India, which can be *written in the Devnagari* as well as in the persian characters".

(काशी पत्रिका १४ जुलाई १८८२)

१—प० देवीप्रसाद—'झूठ बोलना' (काशी पत्रिका २४ मई १८८६)।

थी। हरिश्चन्द्र जैसे देशप्रेमियों और हिन्दी-हितैषियों ने पाठ्य पुस्तकों की गद्य भाषा को उर्दू के स्थान पर सरल खड़ी बोली करने का स्तुत्य प्रयास तो किया पर पद्य की भाषा इन लोगों ने भी प्राचीन व्रज ही रखी। 'हिन्दी भाषा की तीसरी पुस्तक' नामक एक पाठ्य पुस्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मिडिल स्कूलों के लिये स्वयं संग्रहीत की थी। इसमें लेखों की भाषा साधारणतया सरल खड़ी बोली है परन्तु पद्य व्रजभाषा या अवधी का ही है जैसे बाबू गिरिधरदास का 'काशी वर्णन' और तुलसीदास का 'प्रयाग वर्णन'। शिक्षा प्रचार के कारण पठन पाठन की ओर लोगों की रुचि बहुत बढ़ रही थी। उच्च शिक्षित वर्ग के लोग साहित्यिक नाटकों, उपन्यासों और लेखों-निबन्धों द्वारा अपना ज्ञान-वर्द्धन एवम् मनोरंजन करते थे। हरिश्चन्द्र कालमें नाटकों का अभिनय भी स्थान स्थान पर होने लगा था। इन नाटकों के गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की व्रजभाषा रहती थी। पाठक या दर्शक को एक ही रचना में भाषा विषयक यह विषमता बहुत खटकती थी।

निम्नस्तर के पाठक भी सिंहासन बत्तीसी, सारंगा सदाबृज, छबीली भटियारिन, किस्सा तोता मैना आदि कथा-कहानी की किताबों से अपना मनोरंजन करने लगे थे। इन पुस्तकों का व्रजभाषा पद्य काव्य परम्परा से अनभिज्ञ साधारण पाठकों के लिये सावर मन्त्र की तरह दुर्बोध जान पड़ता था।

व्रजभाषा की संकुचित अभिव्यक्ति :

व्रजभाषा मथुरा और उसके आसपास के एक सीमित क्षेत्र में ही बोली जाती थी। उसके बाहर बोलचाल की भाषा के रूप में उसका प्रचार नहीं के बराबर था। साहित्य में जो व्रजभाषा प्रयुक्त हो रही थी उसे भी तुक, श्लेष अनुप्रास, यमक आदि के मोह से कवियों ने ऐसा तोड़ मरोड़ दिया था कि साधारण पाठक के लिये उसका समझना बड़ा कठिन था। इसके अलावा सदियों से व्रजभाषा में शृंगार[1] की अतिशयता के कारण वह इतनी कोमल और मधुर हो गई थी कि मधुर भावों के अलावा उसमें विविध ज्ञान विज्ञान

१—"भाषा को सार बखान्यो शृंगार, शृंगार को सार किशोर किशोरी।"
(देव)

आन्दोलन एवम् सुधारा की अभिव्यक्ति असम्भव थी। यदि इन तमाम भावों के वहन की शक्ति ब्रजभाषा मे होती तो गद्य युग मे ब्रजभाषा गद्य मे भी नवीन विषयो पर मौलिक रचनायें होतीं। परन्तु देखा यह जाता है कि प्राचीन परम्परा पर चलने वाली थोड़ी सी टीकाओं को छोड़कर मुद्रण यन्त्रों के युग मे भी ब्रजभाषा का गद्य साहित्य नहीं विकसित हो सका। वस्तुत. उसके अवकाश का समय आ गया था और जनता मे उसका प्रचलन दिन-दिन कम होता जा रहा था। हिन्दी के सुदूर क्षेत्रों मे ब्रजभाषा समझी भी नहीं जाती थी। एसी स्थिति मे हिन्दी साहित्य के एक प्रमुख अग पद्य का प्राचीन ब्रजभाषा मे पड़ा रहना विचारवान् पुरुषो को खटकने लगा था[1]।

१—"हिन्दी पद्य की अवस्था शोचनीय है। हिन्दी के प्राचीन कवि अपने समय की भाषा में रचना करते थे, और केवल कविताई पर ध्यान देते थे। भाषा पर उनका कुछ भी ध्यान न था। उनकी रचना का क्योंकर अन्वय होगा, किसी पद का व्याकरण से कौन सा रूप बताया जायगा, इसका उनको भ्रान्त ही न था। जैसा वाक्य मुख से निकला वैसा ही लिख दिया, दीर्घ को ह्रस्व कर दिया, युक्ताक्षर को असयुक्त और असंयुक्त को युक्त बना दिया। जो किसी विभक्ति ने कुछ गडबड किया तो उसे भी उड़ा दिया। स्त्रीलिंग का पुलिंग और पुलिंग को स्त्रीलिंग, एकवचन को बहुवचन और बहुवचन को एकवचन जैसा जी में आता था करते थे। जिनको ये कवितायें सुनाई जाती थीं, वे भी आशय क चमत्कार में भूल जाते थे, भाषा की अशुद्धता पर ध्यान हा नहीं देते थे। आधुनिक कवि भी अन्ध परम्परा की लीक पर चले आते हैं। यहाँ तक कि इन्होंने प्राचीन कवियों की पुरानी भाषा का पिंड भी न छोड़ा। अब ये कवितायें लड़कों को पढ़ाना मानो साक्षात उनकी बोलचाल बिगाड़ना है। कवियों को बोलचाल की भाषा से कुछ थोड़ा बहुत बहकने की अनुमति (पोएटिकल लाइसेंस) हर भाषा में दी गयी है, परन्तु कुछ ऐसी अनुमति नहीं है कि कहने को तो अंग्रेजी कविता है पर भाषा बिलकुल फ्रांसीसी देख लो, कहने को तो आधुनिक अंग्रेजी की कविता है पर जहाँ देखो वहाँ वेल्स या केल्टिक मुहाविरे के गँवार पन भरे हुए हैं। यह विचित्रता हिन्दी को छोड़कर और कहीं भी नहीं देख पड़ती। हिन्दी के अग उर्दू के कवि भी ऐसे बेलगाम नहीं हैं।" (बिहारबन्धु १६ दिसम्बर सन् १८८६)।

वह इतनी विकृत हो गयी थी कि स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसके परिष्कार का प्रयत्न किया और खड़ी बोली के पद्य की आवश्यकता का अनुभव किया। १८८४ ई० में श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली पद्य में जो थोड़ा सा अनुवाद कार्य आरम्भ किया था उसका ठोस रूप १८८६ ई० में एकान्तवासी योगी के रूप में दिखलाई पड़ा।

उस समय हिन्दी भाषी प्रांत के सभी क्षेत्रों में बंगला और अंग्रेजी से प्रेरणा ग्रहण की जा रही थी। इन सभी साहित्यों में गद्य और पद्य की भाषा एक ही थी। लंदन से प्रकाशित खड़ीबोली पद्य की भूमिका में हिंदी के अनन्य हितैषी पिन्काट साहब ने लिखा था कि दूर देश में बैठे हुए लंदन के निवासी सम्भवतः गद्य और पद्य की भिन्न भिन्न भाषाओं के कारण हिंदी साहित्य की दुर्दशा और और उसके पाठकों की असुविधा का अनुभव न कर सकें लेकिन हमारे अंग्रेजी साहित्य में यदि गद्य को ज्यों का त्यों रहने दिया जाय परन्तु पद्य को डोरसेट की बोली में कर दिया जाय तो जो कल्पनातीत कठिनाई और असुविधा उपस्थित होगी वैसी ही स्थिति हिन्दी की भी हो रही है। जब इग्लैंड में बैठा हुआ एक हिन्दी प्रेमी इस विषम स्थिति का इतनी तीव्रता से अनुभव कर सकता था तो फिर यहाँ के देश प्रेमी और हिन्दी हितैषी इस स्थिति को कैसे चुपचाप चलने देते। किसी भी साहित्य में गद्य और पद्य की दो बिल्कुल भिन्न भिन्न भाषाओं का विधान नहीं देखा जाता। बंगाल में कुछ ही समय पूर्व भाषा का प्रतिमानीकरण हुआ था और बंगाली हिन्दू और मुसलमान एक ही भाषा और लिपि के माध्यम से बंगला गद्य पद्य का रसास्वादन कर रहे थे।

हिन्दी के क्षेत्र में विस्तार —

राजनैतिक परिस्थितियों, आन्दोलनों और पत्र-पत्रिकाओं के कारण हिन्दी का क्षेत्र भी पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया था। पहले हिन्दी के मुख्य केन्द्र दिल्ली, मथुरा आदि नगर थे। परन्तु अंग्रेजी शासन में कलकत्ता से लेकर काशी, प्रयाग तक हिन्दी का प्रचार हो चुका था। इस विस्तृत प्रदेश के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रीय विभाषायें और बोलियां प्रचलित थीं जिनका एक दूसरे से बहुत कम साम्य है, उदाहरणार्थ मागधी अपभ्रंश से विकसित भोजपुरी का स्वभाव शौरसेनी से विकसित ब्रज बोली से बहुत कम मिलता

है। युक्तप्रांत के निवासी तो व्रजभाषा काव्य को समझ भी लेते थे पर भोजपुरी प्रदेश के रहने वाले बिहार निवासियों को व्रजभाषा बहुत कठिन मालूम पड़ती थी। इन प्रदेशों को एक सूत्र मे बांधने के लिये एक प्रतिमित भाषा की नितान्त आवश्यकता थी। इन स्थानों में बोलचाल, कामकाज और पत्र व्यवहार आदि के लिए खड़ी बोली बहुत दिनों से प्रचलित थी। अतः उसमे ही पत्र रचना की मांग बढी।

बिहार में हिन्दी की स्थितिः—

खड़ी बोली के आधार पर विकसित उर्दू या हिन्दुस्तानी का प्रचार कचहरियों और पाठशालाओं में बिहार तक पहले से हो चुका था। बचपन से ही विभिन्न विषयों की शिक्षा विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी में दी जाती थी। कचहरियो में भी उसी भाषा का प्रयोग होता था। मुसलमानी केंद्र होने के कारण बिहार में अरबी फारसी का प्रचलन अधिक था। राजाराम मोहन राय फारसी पढने के लिये पटने भेजे गये थे। वहा के मुसलमान और कायस्थ तथा अन्य कर्मचारी और कचहरी के अमले अरबी फारसी पढते थे और फारसी लिपि मे लिखते थे। भूदेव मुखर्जी ने जो १८७६—७७ में बिहार के शिक्षा विभाग के प्रधान अधिकारी थे, अपनी रिपोर्ट में लिखा है—

'मुसलमानो को अरबी भाषा पर ममता है। कायस्थ लोग उसी से प्रेम रखते हैं क्योंकि अनेक पीढियों से वे इसके अध्ययन में परिश्रम करते चले आते हैं। कचहरी की भाषा अपने बल पराक्रम के लिये फारसी का ही मुंह जोहती है,'''''''बिहार मे संस्कृत तो अनेक दिन पूर्व ही ऐसी बहिष्कृत हो गई जैसी बंगाल से भी नहीं हुई, हिन्दी है जीवित क्योंकि इसकी मृत्यु *हो ही नहीं सकती*[1]।'

इस तरह अरबी फारसी के ज्ञान से उर्दू या हिन्दुस्तानी का बोध तो वहा के तमाम लोगो को हो ही जाता था। यही हिन्दुस्तानी १८८१ ई० के बाद कायस्थों, अमलों और हाकिमों के द्वारा बिहार में कैथी लिपि में प्रचलित हुई। *बिहार के शिक्षा विभाग मे पाठ्य पुस्तकों की भाषा के रूप में भी हिन्दु-*

१—बाबू शिवनन्दन सहाय—'गत पचास वर्षों में बिहार में हिन्दी की दशा' (*साहित्य पत्रिका वर्ष ८ अंक ९, जनवरी १९१४ ई० पृ० ७।*)

स्तानी को ही स्वीकार किया गया था। वहीं पर आगे भूदेव मुखर्जी ने लिखा है कि 'स्थानीय शिक्षा विभाग के अफसरों की सदा यही चेष्टा रहा करती थी कि जिस ग्रन्थ में अधिक संस्कृत या फारसी के शब्द हों उसे निकम्मा कह कर फेंक दें और जिस पुस्तक में गली बाजार में बोली जाने वाली भाषा हो उसी को स्वीकार करें और उसी को सच्ची हिन्दी भाषा मानें।' इससे सिद्ध होता है कि वहां पर दिन रात की बोलचाल की भाषा में बच्चों को आरम्भ से ही शिक्षा दी जाती थी। बिहार में पश्चिमोत्तर प्रदेश की बनी हुई पाठ्य पुस्तकें भाषा तत्व, इतिहास तिमिर नाशक और गुटका आदि चलती थीं। भूदेव मुखर्जी के प्रयत्न से यहां भी हिन्दुस्तानी भाषा में पाठ्य पुस्तकें रची गईं। इनमें मु० राधालाल डिप्टी इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स की 'भाषा बोधिनी' पटना नार्मल स्कूल के हेडमास्टर राय सोहनलाल की 'वायु विद्या' और केशवराम भट्ट की 'विद्या की नींव' आदि मुख्य पुस्तकें हैं। ये सब लेखक हिन्दुस्तानी के प्रसिद्ध लेखक हैं। इस प्रकार १८८५ ई० तक बिहार में हिन्दुस्तानी शैली में लिखी हुई अनेक पाठ्य पुस्तकें पाठशालाओं में पढ़ाई जा रही थीं। परन्तु इन सब पुस्तकों में पद्य अधिकतर व्रजभाषा या अवधी का रहता था। अतः यह स्वाभाविक था कि बिहार से ही हिन्दुस्तानी में पद्य की माग के लिये आन्दोलन हो। सारांश यह कि उत्तर प्रदेश और उसके बाहर बिहार तक खड़ी बोली तो हिन्दुस्तानी के रूप में प्रचलित थी क्योंकि वह शिक्षा विभाग की भाषा थी, कचहरियों और कार्यालयों की भाषा थी तथा शिष्ट बोल-चाल[1] की भाषा थी, परन्तु व्रजभाषा का प्रचलन उसके क्षेत्र के बाहर क्रमशः कम होता जा रहा था। हिन्दी भाषी वर्ग दो भाषा के आधार पर दो भागों में विभक्त होता जा रहा था। उत्तर भारत के करोड़ों हिन्दी भाषा-भाषी व्यक्तियों की भावाभिव्यक्ति में एकरूपता तथा उनमें संगठन बनाये रहने के लिए एक सर्व प्रचलित गद्य-पद्य की भाषा का होना नितान्त आवश्यक था। भारत तो एक विभिन्न भाषाओं का अजायबघर ही है, परन्तु हिंदी प्रदेश

१—सन् १८८५ ई० में आर्यसमाज के प्रसिद्ध उपदेशक स्वामी सहजानन्द अपना मत प्रचार करने बांकीपुर गए, तो सनातनियों ने अपनी ओर से काशी के प्रसिद्ध विद्वान और वक्ता प० अम्बिकादत्त व्यास को बुलाया। इस शास्त्रार्थ की बड़ा धूम थी और दूर दूर से श्रोता आते थे। इस प्रकार के प्रचार और शास्त्रार्थ से खड़ी बोली को दूर दूर तक फैलने का अच्छा अवसर मिला।

के अन्तर्गत भी इतनी भिन्न भिन्न बोलियों का नमूना मिलता है कि किसी एक राष्ट्रीय भाषा-शैली के अभाव में बृहत् हिन्दी भाषी जन-समूह में संगठन और एकता की भावना असम्भव ही समझिए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'मुशायरे'[1] में दिल्ली, लखनऊ, बनारस और पूर्वी स्थानों के विभिन्न शायरों की रंग-बिरंगी बोलियों को चिड़ीमार टोले में इकट्ठी भिन्न भिन्न चिड़ियों की भांति भांति की बोली कहा है जिनमें सब चूं चूं करती हैं पर कोई किसी की समझती नहीं।

आन्दोलन का सूत्रपात : 'खड़ीबोली पद्य' का प्रकाशन—

विभिन्न भाषा-भाषियों की सुविधा तथा एकता की भावना से प्रेरित होकर मुजफ्फरपुर निवासी अयोध्याप्रसाद खत्री ने पद्य की भाषा को खड़ी बोली करने का आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होंने खड़ी बोली की विभिन्न पद्य-रचनाओं का एक संग्रह 'खड़ी बोली का पद्य पहिला भाग' नाम से सन् १८८७ ई० में प्रकाशित कराया। इसका एक अन्य संस्करण १८८८ ई० में लन्दन से पिन्काट साहब के सम्पादकत्व में बड़ी सज धज के साथ प्रकाशित हुआ और खत्री जी ने खड़ी बोली के पद्य का प्रचार करने के लिये इसका चारों ओर निःशुल्क वितरण किया।

अयोध्याप्रसाद खत्री की भाषा-नीति—

खत्री जी मुजफ्फरपुर में कलक्टरी के पेशकार थे। बिहार में कचहरी की भाषा उर्दू थी और सन् १८८१ ई० के बाद कचहरियों में वही भाषा कैथी लिपि में चालू हुई। राष्ट्रीयता के प्रभाव के कारण कठिन अरबी-फारसी के

१—'चिड़ियामार का टोला, भांत भांत का जानवर वाला।

लखनऊ दिल्ली बनारस पूरब और दक्खिन के कई मुफ्तखोरे शायर एक जगह जमा हुए और लगे रंग बिरंग की बोलियां बोलने। मैंने भी वही मैका-फूल की कल लगा दी। जो कुछ उसमें आवाज बन्द हो गई आप लोग भी सुन लीजिये।'

(हरिश्चन्द्र चंद्रिका, अगस्त सन् १८८५)

शब्दों के स्थान पर कुछ सरल भाषा का प्रयोग होने लगा था और हिन्दुस्तानी के नाम से वही भाषा कचहरी, पाठशाला और कार्यालय आदि में प्रचलित हुई। खत्री जी इसी हिन्दुस्तानी को हिंदी की सबसे शिष्ट और प्रतिमित शैली मानते थे और उन्होंने इसी शैली में पद्य रचना के लिये आंदोलन किया। वे चाहते थे कि एक दल ब्रजभाषा छोड़ दे और दूसरा दल फारसी लिपि छोड़ दे। दोनों दल हिंदुस्तानी भाषा और नागरी लिपि के समान स्तर पर परस्पर मिल जायँ[1]। वे उर्दू और खड़ी बोली हिन्दी में केवल लिपि का ही मुख्य अंतर मानते थे।

चूंकि हिन्दुस्तानी ही शिक्षा विभाग की स्वीकृत भाषा थी और पद्य के ब्रजभाषा मे होने की कठिनाई का अनुभव शिक्षा विभाग के लोग ही अधिक तीव्रता से कर रहे थे इसलिए खत्री जी द्वारा प्रचारित हिन्दुस्तानी शैली में पद्य रचना को सबसे अधिक प्रोत्साहन शिक्षा विभाग और बिहार तथा बंगाल की पत्र-पत्रिकाओं ने दिया। लक्ष्मीशंकर मिश्र, इंसपेक्टर आव स्कूल बनारस, डिप्टी इंसपेक्टर आव स्कूल्स मुजफ्फरपुर, आरा और दरभंगा तथा जैनारायण मिश्र, हेडमास्टर नारमल स्कूल आदि की पुस्तिका के साथ संलग्न अनुकूल

1—His object is to induce his countrymen to abandon the use of the archaic Braj dialect in their poetic effusion, and to persuade those who favour Urdu to use Nagari instead of Arabic letters for their verses. In fact he proposes a compromise, one party is asked to abandon a cherished dialect of their language and the other party to give up a customary method of writing it. By conforming to the compiler's suggestion, all parties meet on the common ground of the Khari Boli, or correct speech, understood by all, and living, growing, and changing with the daily requirements of advancing civilization

(Preface) Pincott—Khari Boli ka Padya'
W. H. Allen & Co. London, 1888 Page—5

संमतियाँ इस कथन की साक्षी हैं। 'बिहार बंधु', 'पीयूष-प्रवाह' और 'भारत मित्र' आदि प्रगतिशील पत्रों ने भी खड़ी बोली पद्य का जोरदार समर्थन किया।

खड़ीबोली पद्य की विविध शैलियाँ (स्टाइल)—हरिश्चन्द्री हिंदी के प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने गद्य की प्रतिमित भाषा स्थिर करने के लिए गद्य की प्रचलित विविध १० भाषाओं का नमूना उपस्थित कर नं० २ और ३ की भाषा को प्रतिमित स्वीकार किया था। उसी के अनुकरण में खत्री जी ने भी खड़ीबोली में उपलब्ध विविध शैलियों के नमूने एकत्र कर खड़ी बोली पद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर किया। खत्री जी ने खड़ी बोली की पाँच स्टाइलें या शैलियां बताईं। १—ठेठ हिंदी २—पंडित हिंदी ३—मुंशी हिंदी, ४—मौलवी हिंदी और ५—यूरेशियन हिंदी[१]।

इन पाँच शैलियों में ठेठ हिंदी और यूरेशियन हिंदी में पद्य रचना का प्रश्न बिल्कुल गौण है। शेष तीन शैलियों में भी पंडित हिंदी और मौलवी हिंदी अतिवाद के दो भिन्न-भिन्न छोरों पर स्थित हैं। खत्रीजी का कथन था कि सर्वसामान्य एवं शिष्ट शैली केवल मुंशी लोग ही लिखते हैं। अतः उन्हीं की या कचहरी के मुंशी होने के नाते अपनी ही शैली को खत्री जी सर्वोत्कृष्ट, व्यावहारिक और पद्य के लिये उपयुक्त शैली मानते थे। पंडित हिंदी में संस्कृत के बड़े-बड़े क्लिष्ट शब्द प्रयुक्त रहते हैं और मौलवी हिंदी में अरबी-फारसी के शब्द अधिक संख्या में मिले रहते हैं जिसे कुछ लोग उर्दू भी कहते हैं। पंडित और मौलवी हिंदी के बीच की शिष्ट शैली को जिसे यूरोपियन हिंदुस्तानी कहते हैं, खत्रीजी मुंशी-हिंदी कहते थे[२]। वे राय-सोहनलाल की हिंदुस्तानी शैली का आदर्श लेखक मानते थे।

१—I divide Khariboli into five classes, namely Theth Hindi, Pandit's Hindi, Munshi's Hindi' Maulvi's Hindi and Eurasian Hindi. Ayodhya Pd. Khatri—'Khari- boli ka Padya' I Vol.

Introduction—

२—"Munshi Hindi is midway between the Pandit's and Maulvi's Hindi and is styled by European scholars as Hindustani......... Popular scientific terms indefferent of Arabic, Sanskrit or any

जिस शैली में न तो विदेशी मूल के शब्द हों और न तो क्लिष्ट संस्कृत के शब्द हों उसे खत्रीजी ठेठ हिंदी कहते थे। जिस हिंदी में यूरोपीय भाषाओं विशेषतया अंग्रेजी के कठिन शब्दों का प्रयोग किया गया हो उसे यूरोपियन हिंदी कहते थे। खड़ी बोली पद्य प्रथम भाग के प्रकाशन के समय तक यूरोपियन हिंदी में पद्य रचनाएँ नहीं हो सकी थी। अत. इस संग्रह में यूरोपियन हिंदी की पद्य रचना का नमूना नहीं दिया गया है। प्रथम भाग में केवल ठेठ हिंदी, मुंशी हिंदी और पंडित हिंदी के पद्यों का ही नमूना दिया गया है। ठेठ हिंदी का नमूना इशाअल्ला खाँ कृत 'रानी केतकी की कहानी' से दिया गया है। ये पद्य राजा शिवप्रसाद द्वारा संगृहीत 'गुटके' से उद्धृत किए गए थे इसीलिए पिन्काट साहब ने इन्हें शिवप्रसाद का ही मान लिया है[1]। ठेठ हिंदी का एक नमूना नीचे उद्धृत है।

> चौतुकहा—"अब उदयभान और रानी केतकी दोनों मिले।
> आस के जो फूल कुम्हलाये हुये थे फिर खिले॥
> चैन होता ही न था जिस एक आसन एक बिन।
> रहने सहने से लगे आपस में अपने रात दिन[2]॥

---

classic origin have also been coined in the Munshi style by Rai Sohan lal, the late very able Head Master of Patna Normal School and now translator to the Bengal Govt. who may without opposition be styled as the father of Munshi style. Thus the style is becoming complete language in itself." Ibid

१—The specimens consist of Poems by Raja Siva Prasad, C. S. I..... a writer of acknowledged excellence and purity."

Pincott (Kharibolî ka Pandya-1888 Preface P. VII)

२—वही पृ० ४।

मुंशी स्टाइल—

ठेठ हिंदी के बाद प्रथम भाग मे मुंशी स्टाइल और पंडित स्टाइल की पद्य रचनाओं के नमूने संग्रहीत हैं। खत्रीजी राय सोहनलाल को मुंशी स्टाइल का जनक ही मानते थे। अतः सर्वप्रथम उन्हीं की चार पद्य रचनाएँ दी गई हैं। पहिली रचना 'हिंद मे सतयुग का समा' एक राष्ट्रीय कविता है जिसमें भारत के प्राचीन गौरव को याद की गई है। आरंभिक पक्तियाँ ही पद्य का संपूर्ण भाव स्पष्ट कर देंगी।

"ऐ हिंद तेरा वह रंग कहां है।
पहला सा तेरा वह ढंग कहां है ॥"

'पतंग' तथा 'सोने और ढोल की दो दो बातें' उपदेशात्मक अन्योक्तियाँ हैं जिनमें साधारण विषयों के माध्यम से कवि ने पाठक को गंभीर उपदेश दिए हैं। 'पतंग' की अंतिम दो पंक्तियाँ हैं—

"हलके को हवा लगी उड़ेगा।
उड़ता है सो जानिये गिरेगा॥

'चादनी का समा और उसके नूर की झलक' शीर्षक से ही इस कविता के भाव और भाषा का आभास विज्ञ पाठक को मिल गया होगा। फिर भी रायसोहनलाल की हिंदुस्तानी शैली का नमूना प्रस्तुत करने के लिए निम्न-लिखित चार पक्तियाँ पर्याप्त होंगी

"जमीं नूर और आसमां नूर था। समा एक अनोखा बना नूर था।
हुनर का जिसे देख उड़ जाय रंग। समझ सामने जिसके हो जाय दंग[1]।।"

मुंशी स्टाइल के अंतर्गत हरिश्चन्द्र की "दशरथ विलाप", 'बसंत', और 'प्रभात' नामक तीन पद्य रचनाएँ हैं। परंपरावादी प्रकृति चित्रण के अभ्यस्त, व्रजभाषा के सिद्ध कवि हरिश्चन्द्र भी खड़ी बोली की इन प्रकृति विषयक कविताओं मे यथार्थवादी हो गए हैं। 'बसंत' मे उन्होंने सरसों के साथ तीसी और अरहर के पीले फूलों का भी रंग चित्रित किया है। आम, शिरीष और टेसू के साथ गेंदे को भी नहीं भूले हैं। "बसंत" से दो पंक्तियाँ इस कथन के संबंध में उद्धृत की जाती हैं :

१—संकलन कर्ता-अयोध्याप्रसाद खत्री-खड़ी बोली का पद्य (लदन संस्करण-१८८८)

"कहिं तीसी, कहिं रहर, कहीं जौ फूले मन भाये।
गेंदे बाँध कतार बाग में नया रंग लाये॥[1]"

'बसंत' नई और पुरानी कविता पद्धति के सम्मिश्रण का एक अच्छा नमूना है। इसमें मेढकों की टर्राहट, झींगुरों की झंकार, करारों का टूट कर गिरना, तथा साँपों का खंडहर पर टनकारना, वर्षा का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। विविध उपमाओं द्वारा वर्षा पर बाँधी गई अनेक उत्प्रेक्षाएँ प्राचीन कवियों का स्मरण दिलाती हैं। इसमें वर्षा की उपमा कहीं रेल से कहीं पातुर (वेश्या) से, कहीं फिरंगी की फौज तो कहीं पादरी से दी गई है। पादरी वाली उक्ति एक सुन्दर सामयिक चेतावनी है।

"धर्मों को छोड़ो गरज सुनाता सुनता, जो कि अधूरा है।
बपतिस्मा पानी दे क्रिस्तानी घन यह पादरी पूरा है[2]॥

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हरिश्चन्द्र की इन कविताओं में राय सोहनलाल की तरह उर्दूपन नहीं है। छंदों की नवीनता या उर्दू वहों के प्रभाव के कारण ही संभवतः खत्री जी ने हरिश्चन्द्र की इन कविताओं को मुंशी स्टाइल के अंतर्गत रखा है।

मुंशी स्टाइल के अंतर्गत 'स्वप्न' और 'एक वेवे की मुनाजात' नामक दो अन्य पद्य रचनायें दी गई हैं। दोनों ही विधवा विवाह - निषेध का दुष्परिणाम अत्यंत करुण शब्दों में पाठक के सामने प्रस्तुत करती हैं। 'स्वप्न' अपेक्षाकृत बड़ी रचना है जो ६४ पृष्ठ की इस पुस्तिका के प्राय: २५ पृष्ठों में फैली हुई है। इसके रचयिता पटना निवासी बाबू महेशनारायण हैं और और १३ अक्टूबर १८८१ के 'बिहार बंधु' में यह प्रकाशित हुई थी। इस पद्य रचना पर बंगला का प्रभाव अधिक है। छंद भी अमात्रिक तथा अतुकांत है। अंग्रेजों की देखा देखी प्रेम-विवाह (लव मैरेज) को जाति पाँति, कुलीनता, संपत्ति या कुंडली के आधार पर होने वाले अनमेल विवाहों— जैसे वृद्ध विवाह और बाल विवाह—से, अधिक अच्छा समझा जाने लगा था। ठाकुर जगमोहन सिंह ने इस भावना को 'श्यामा स्वप्न' में देवयानी और ययाति की कथा द्वारा प्रमाणित किया है। 'स्वप्न' में एक सोलह वर्षीय

१—वही।
२—वही।

युवती किसी युवक के स्वर्गीय प्रेम से अपने निर्दय माँ-बाप के द्वारा वंचित कर दी जाती है और उसकी शादी एक अस्सी वर्षीय वृद्ध से कर दी जाती है। लेखक का यह 'स्वप्न' हमारे जड़ समाज पर एक प्रभावशाली व्यंग्य है। युवती बिलखती हुई अपनी कहानी संक्षेप में इस प्रकार सुनाती है—

'हाय शादी हुई थी
बेहोश जब मैं थी
मैं सोलह बरस की
वह अस्सी बरस के
देख इनको मैं रोती
देख हमको वह हसते

क्या करो मुझे प्यार करो माता ने बताया है तुमको हमारी
मैं हूँ अमीर मर जाऊँगा, जब सब दौलत होगी हमारी तुम्हारी
मर ही गये वह बिचारे उसी दिन हो गई मैं विधवा कुमारी।
माता मेरी संतुष्ट हुई और घर लाई वह दौलत सारी[1]॥'

दिल्ली निवासी मौ० इलताफ हुसैन कृत 'बेवे की मुनाजात' में वैधव्य की दारुण-वेदना का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। बेवा कहती है कि उसने अपनी इंद्रियों पर जी-जान से नियंत्रण रखा पर दिल ने उसकी एक न सुनी। वह आजीवन प्यासी मछली की तरह पानी के लिये तड़पती रही और अंत में दुख की चरमावस्था पर संयम छोड़ कर कहती है—

'रख तकलीफ में या राहत में
डाल जहन्नुम या जिन्नत में।
अब न मुझे जिन्नत की तमन्ना,
और न खतरा कुछ दोजख का।
आयेगी जिन्नत रास कब उसको ?
जलने में जिसकी उम्र कटी हो।
डर दोजख का फिर उसे क्या है ?
जिसने रडांपा झेल लिया है[2]।'

१—वहीं पृ० सं० ३८
२—वहीं पृ० सं० ४१

मुसलमान होने के नाते मौलवी साहब की रचना में 'स्वप्न' की अपेक्षा उर्दूपन अधिक है फिर भी इतने क्लिष्ट अरबी फारसी के प्रयोग नहीं है कि उसे मौलवी हिंदी कहा जा सके। बाल विवाह एव विधवा विवाह निषेध के सबध मे भुक्तभोगी विधवा का निम्नलिखित उद्‌गार स्मरणीय है—

'हरासत चाल और चौथा को, खेल तमाशा जानती थी जो,
होश जिन्हें था रात न दिन का, गुडियों का सा व्याह था जिनका,
दो दो दिन रह रह के सुहागिन, जन्म जन्म को हुई बिरोगिन[1]।'

ऐसी शादी को वह मुफ्त की 'तोहमत[2]' कहती है।

इस प्रकार इन कविताओं में राष्ट्रीय चेतना, उपदेशात्मक प्रवृत्ति, सुधार वादी विषय, प्रकृति का यथार्थ चित्रण अर्थात् विविध प्रकार के नवीन विषयों का समावेश किया गया है। इन विविध विषयों की कविताओं द्वारा सग्रहकर्ता ने यह भलीभाति सिद्ध कर दिया है कि खड़ी बोली म हर प्रकार के भावों और विषयों के व्यजना की सामर्थ्य है।

पडित स्टाइल —

इसके अतर्गत मुजफ्फरपुर निवासी बाबू लक्ष्मीप्रसाद और सत्यानद अग्निहोत्री की रचनाएं उद्धृत की गई हैं। लक्ष्मी प्रसाद की प्रथम रचना ६: दिसम्बर १८७६ के बिहार बधु से उद्धृत की गई है। इसमें देश की तत्कालीन दुर्दशा पर शोक प्रकट किया गया है। प्रथम पद्य की भाषा बहुत ही अशक्त है और मात्रापूर्ति के लिये शब्दों की तोड़ मरोड़ और ह्रस्व दीर्घ का मनमाना प्रयोग खटकता है। भाषा मे दो एक चलते सस्कृत के प्रयोग हैं इसीलिए सभवत. इसे पडित स्टाइल की कविता माना है अन्यथा छद-विधान पूर्णतया उर्दू का है। भाषा और छद आदि की दृष्टि से इस कविता का परिचय निम्नलिखित पक्तियों से भलीभाँति मिल जायगा—

'दुर्दशा, तेरि है, जब ध्यान में आती इक बार,
आंसु, आखों में, उमण आता है, बंध जाता है तार।

१—वही पृ० स० ४३

२—'दिल न सबीयत शोक न चाहता, मुफ्त लगा क्यों व्याह की तोहमत' (वही, पृष्ठ—४३)

सोच यों व्यग्र, हुं करता, कि न रहता है विचार,
सर्वथा जी से, बिसर जाता है जग का व्यवहार।
सोना स्वप्न होता है, कुछ न अच्छा लगता है,
शोक की आग से, भस्म होने, बदन लगता है[1]।'

इनकी दूसरी रचना 'योगी' गाल्डस्मिथ के 'हरमिट' का सक्षिप्त हिंदी रूपांतर है। यह भाषान्तर सन् १८८६ ई० में ही हो चुका था। रीतिकालीन प्रेम की रूढ़िबद्ध परंपरा के विरुद्ध उन्मुक्त एवं प्रकृत प्रेम की कहानी इसमें अंकित है। राजकुमारी चन्द्रकला प्रेमी की खोज में भटकते भटकते मंत्री पुत्र के पास पहुँच कर उससे अपना विरह वर्णन करती है।

'यह गई किन्तु मन नहीं बहला,
प्रीत का बोझ कांध से न टला।
शोक की आग से हुई अंगार
मुंह देखाना बस हो गया दुस्तर।
बदले आंसू के लहू राने लगा,
बिरहानल से दग्ध होने लगी[2]।'

सत्यानंद अग्निहोत्री के 'संगीत पुष्पावली' से तीन भजन दिए गए हैं जिन पर बंगाल का स्पष्ट प्रभाव है। इनमें प्रयुक्त पयार छंद भी बंगला का है, *यथा*,

'आव, आव प्राण सखा, दीन जन शरन,
करें मन, प्राण हृदय, तुम्हारे समर्पन।
त्यज अनित्य कामना, छोड़ विषय वासना,
हाके अनुगत एक तेरे, प्रेम में नित नेत्र यह
भक्ति पुष्पांजलि दिये, पूजें तुम्हें निश दिन[3]।'

चंद कवि कृत 'रायसा' के पद्मावती खंड और आल्हखंड के वीररसात्मक दो छप्पयों के साथ खड़ी बोला पद्य का यह प्रथम भाग समाप्त होता है।

खत्री जी ने शेष दो स्टाइलों—मौलवी स्टाइल और यूरोपियन स्टाइल की पद्य रचना का एक अलग संग्रह 'खड़ी बोली का पद्य दूसरा भाग' नाम

१—वही पृ० ४६।
२—वही पृ० सं० ६०।
३—वही पृ० सं० ६।

से सन् १८८७ ई० में ही प्रकाशित कराया। इस संग्रह में उक्त दो शैलियों की रचनाओं के अलावा मुंशी स्टाइल और पंडित स्टाइल की कुछ अन्य नवीन रचनाएँ भी दी गई हैं। संग्रह के आरंभ में ३३ पृष्ठों की एक विस्तृत भूमिका है जो खड़ी बोली, हिंदुस्तानी (उर्दू) और ब्रजभाषा के संबंध में उनकी धारणा पर अच्छा प्रकाश डालती है। खत्रीजी की प्रथम स्थापना थी कि ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों छंद तथा व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतया पृथक्-पृथक् हैं। उनका कथन था कि 'खड़ी बोली के व्याकरण में ब्रजभाषा छंद को जगह देना और ब्रजभाषा शब्दों का हिंदी में पोयटीकल लाइसेंस समझना हिंदी व्याकरण की मेरी समझ में भूल है[1]।" अतः ब्रजभाषा की कविता हिंदी की (खड़ी बोली) कविता नहीं मानी जा सकती है। अब तक हिंदी में कविता बहुत कम हुई है 'हिंदी पद्य की अवस्था शोचनीय है' कवियों को बोलचाल की भाषा में अच्छी कविताएँ रचनी चाहियें।

आगे वे लिखते हैं कि उर्दू और खड़ी बोली में विशेष अंतर नहीं है, दोनों का व्याकरण एक है, दोनों में केवल लिपि का मुख्य अंतर है। वे उर्दू को हिंदी की एक स्टाइल समझते थे। अतः उर्दू पद्य को खड़ी बोली का पद्य मानते थे[2]। अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने बीम्स, हार्लिंग और राजा शिवप्रसाद आदि के मत उद्धृत किए हैं। बीम्स कहते हैं कि हिंदी और उर्दू को दो भिन्न भिन्न भाषाएँ बताना भाषाविज्ञान की बहुत बड़ी भूल होगी[3]।

'हिंदी प्रदीप' भी खत्री जी के ही भाव को उचित ढंग से व्यक्त करता हुआ लिखता है :

१—अयोध्याप्रसाद खत्री—"खड़ी बोली का पद्य, दूसरा भाग, भूमिका—पृष्ठ १।"

२—"उर्दू को मैं हिंदी की एक स्टाइल समझता हूँ उर्दू पद्य को खड़ी बोली का पद्य मानता हूँ।" वही भूमिका पृष्ठ ३।

३—जान बीम्स—कम्परेटिव ग्रामर आव माडर्न आर्यन लांगवेजेज पृष्ठ ३१।

"यह कौन कहता है कि उर्दू कोई दूसरी वस्तु है ? सच पूछो तो उर्दू भी हिंदी का एक रूपांतर है......जब हम हिंदुओं ने इसका अनादर कर इसे त्याग दिया तब मुसलमानों ने इसकी दीनता पर दया करके इसे अपने मुल्क के लिबास और जेवरों से आभूषित कर इसका दूसरा नाम उर्दू रखा। तात्पर्य यह कि इस नारी का कुल और गोत सदा एक ही रहा समय-समय पर इसका रंग रूप और भेष अलबत्ता पलटता गया'।"

उक्त अवतरण का यही सारांश है कि उर्दू खड़ी बोली का ही रूपांतर है। केवल इसने मुसलमानी लिपि और अलंकार धारण कर लिया है। यही भाव राजाशिवप्रसाद के अवतरण का भी है।[1] उनका कहना है कि हमारी मातृभाषा नागरी और फारसी दो बिलकुल भिन्न लिपियों में लिखी जाय, यह विचित्र बात है और लिपिभेद के कारण इसे दो भाषा मानकर दो अलग-अलग व्याकरण बनाना तो और भी अद्भुत बात है[2]।

यहाँ तक तो बात किसी तरह मान्य थी परंतु आगे चलकर अयोध्याप्रसादजी पंडित हिंदी या साहित्यिक हिंदी से मुंशी हिंदी या हिंदुस्तानी की महत्ता अधिक सिद्ध करने के फेर में पड़ कर हिंदी विकास के मूल पर ही भ्रामक मत देने लगते हैं। उनके कथन का निष्कर्ष यह निकलता है कि ब्रजभाषा में तमाम देशी-विदेशी शब्दों के मिलने से उर्दू का विकास हुआ और उर्दू में से अरबी-फारसी को जान-बूझकर छाँटने तथा उनके स्थान पर संस्कृत के क्लिष्ट शब्द रखने से वर्तमान कृत्रिम हिंदी का विकास हुआ है। अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने एशियाटिक सोसाइटी के भाषा वैज्ञानिक

१—वही। पृ० ४ पर अवतरित।

२—It is strange enough that our vernacular should be constantly expressed in two such diverse characters as the Persian and Nagari, one written from right to left and the other from left to right; but it is quite unique in having two grammar." .

(Shiv Prasad "Hindi Grammar" Preface.)

"खड़ी बोली का पद्य दूसरा भाग।" पृष्ठ ६ पर अवतरित।

सेक्रेटरी हार्लिव की साक्षी दी है[1]। उनका कथन था कि इस कृत्रिम शैली को चालू करने का काम पंडितों ने अपनी जीविका के लोभ से किया। 'पंडित जी (ब्राह्मण) बराबर संस्कृत पढ़ते-पढ़ाते आए। 'संस्कृत मृत भाषा (dead language) है। परंतु पंडितजी उसी में शास्त्रार्थ और पद्य रचना करेंगे। सर्व साधारण इनकी लिखी पुस्तकें न समझें, यह इनका उद्योग हमेशा रहा। यह समझते हैं कि हमारी जीविका की दृढ़ता इसी में है।' लल्लूजी लाल जो आधुनिक हिंदी की पहली पुस्तक के रचयिता हैं, ब्राह्मण थे। उन्होंने एक कृत्रिम शैली का निर्माण किया जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों के स्थान पर संस्कृत और ब्रजभाषा के शब्द सप्रयास रखे गये और इसी प्रेमसागर की स्टाइल का लोग अनुकरण करने लगे और इसी स्टाइल को आधुनिक हिंदी समझने लगे।" परंतु सर्मीजी को यह स्टाइल बिलकुल नहीं पसंद थी। वे हिंदुस्तानी या मुंशी स्टाइल के समर्थक थे। उनका मत है कि "खड़ी बोली के पहिले लिखैये (first writer) यदि रायमोहन-लाल अथवा राजा शिवप्रसाद होते तो इतना बखेड़ा न होता[2]।.........सन् १८६६ ई० में गवर्नमेंट ने पंडित स्टाइल और मौलवी स्टाइल के बीच में 'हिंदुस्तानी' (जिसको मैं मुंशी स्टाइल, कहता हूँ) में किताबें लिखने की आज्ञा दी परंतु बहुत कम आदमियों ने इस पर ख्याल किया। स्टाइल का ख्याल नहीं हुआ इसीलिए जबान समझ में नहीं आई। उर्दू को अन्य भाषा और ब्रजभाषा काव्य को हिंदी पद्य समझने लगे। ब्रजभाषा काव्य पढ़कर लोग हिंदी के पंडित और आचार्य समझे जाते हैं[3]।

1—Hindi or High Hindi is merely a modified *form* of the Braj dialect, which was first transmuted into the Urdu by curtailing the amptitude of its inflexible forms and admitting a few of those peculiar to Panjabi and Marwari, afterwards Urdu was changed into *High Hindi*. (*Rudolf Haerhve*) ibid. P. 4—5.

२—वही पृ० १०।

३—वहीं पृ० ३०-३१।

साराश यह कि वे हिंदुस्तानी या मुंशी स्टाइल के समर्थक थे और इसी को वे खड़ी बोली हिंदी का प्रकृत रूप मानते थे। हिंदी और उर्दू में केवल लिपि का भेद समझते थे परन्तु ब्रजभाषा और उसके पद्य को हिंदी और उसके पद्य से पूर्णतया पृथक् मानते थे।

मौलवी स्टाइल और यूरेशियन स्टाइल, जिनकी पद्यरचना के नमूने इस भाग में मुख्य रूप से संग्रहीत किए गए हैं, की उत्पत्ति के सबध में उनका विचार था कि ये क्रमशः मुसलमानों और अगरेजों के ससर्ग से सभव हुई हैं। मुसलमानो के आने से फारसी–अरबी और अगरेजो के आने से अगरेजी शब्द हिंदुस्तान की कुल भाषाओं में आए हैं। जिस प्रकार वे पडित स्टाइल को नापसद करते थे वैसे ही मौलवी और यूरेशियन स्टाइल को भी। मौलवी स्टाइल के जीवित रहने का मुख्य आधार वे मुसलमानी लिपि का मानते थे। उनका निश्चित विचार था कि यदि फारसी लिपि का व्यवहार कचहरी और कार्यालय आदि से हटा दिया जाय तो निश्चित ही यह स्टाइल भी समाप्त हो जायगी। वे लिखते हैं कि सन् १८८१ में बिहार की कचहरियों में कैथी अक्षर जारी हुए। परतु कचहरियों में अभी स्टाइल वही मौलवी साहब की है।··· पश्चिमोत्तर देश से जब फारसी अक्षरों का सत्यानाश होगा तब हमलोग (हिंदी रसिका) की मनोकामना सिद्ध होगी और मौलवी स्टाइल निर्मल हो जायगी।"[1] वे यह भी चाहते थे कि क्लिष्ट और अप्रचलित शब्दों के स्थान पर हिंदुस्तानी स्टाइल लिखनेवाला का ठेठ हिंदी के शब्दों पर ध्यान देना चाहिए।

इस प्रकार उन्होंने अपनी पाँच स्टाइलों में से ठेठ और यूरेशियन स्टाइल को, जिनकी काव्य साहित्य में विकसित होने की कभी सभावना नहीं है, छोड़ कर बाकी तीन स्टाइलों में मौलवी और पडित स्टाइल को भी कृत्रिम और अव्यावहारिक बताते हुए केवल मुंशी स्टाइल को ही सर्वोत्तम और स्वाभाविक शैली निर्धारित किया। यही कारण है कि दूसरे भाग के सग्रह में भी मौलवी या यूरेशियन स्टाइल को मुख्य स्थान देने के बजाय मुंशीस्टाइल को ही प्रथम रखा। इस सग्रह की कविताओं को शुद्ध स्टाइल की दृष्टि से ही सग्रहीत

१—"बिल्कुल लिखन का कुछ प्रयोजन नहीं, मुझे स्टाइल से मतलब है विषय से नहीं वही पृ० २।"

किया है, विषय या भाव की दृष्टि से नहीं।[१] मुंशी स्टाइल के उदाहरण स्वरूप एक बारहमासा दिया गया है और उसकी पादटिप्पणी में लिखा है।

"जैसी बहै बयार पीठ तैसे ही दीजै।"

अर्थात् खड़ी बोली की इसी शैली में पद्य रचना का युग आ गया है, लोगों को ऐसी ही पद्य रचना करनी चाहिए। बारहमासे की कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ उद्धृत की जा रही हैं :

"असाढ़ आया यह पहिला मास बर्सात,
कटेगी किस तरह मेरी भला रात ?
कड़क बिजुली मेरी छाती दुखावे,
सखी बिन श्याम को यह दुख मिटावे ?
यह बूँदा तन पै जो मेरे पड़ी है,
जखम दिल पर कटारी की करी है[२]।"

मौलवी स्टाइल—

इसके अंतर्गत खत्रीजी ने भारतेंदु हरिश्चंद्र की कविता का नमूना दिया है और ऐसा करने का एक विशेष उद्देश्य भी बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि "इस परिच्छेद में नासिख और आतिश आदि का काव्य लिखना चाहिये परन्तु मैं बाबू हरिश्चन्द्र का काव्य लिखता हूँ। इससे मुझे यह सिद्ध करना है कि वह खुद क्रियाओं में दीर्घ मात्रा रखते हुए मौलवी स्टाइल की खड़ी बोली में काव्य करते थे। मौलवी स्टाइल और पंडित स्टाइल में केवल संज्ञा में अंतर रहता है क्रिया में नहीं[३]। खत्रीजी बाबू हरिश्चन्द्र को खड़ी बोली पद्य का विरोधी मानते थे[४]। उनकी मौलवी स्टाइल की कविता का उदाहरण देकर उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि जिस भाषा की एक

१—वही पृष्ठ ३३।

२—वही वही।

३—वही पृ० ३।

४—बाबू हरिश्चन्द्र (जो खड़ी बोली पद्य के विरोधी हैं) ने १८५० के स० में जन्म ग्रहण किया। यह हिंदी के आचार्य समझे गए। इन्होंने लल्लूलाल कवि से हिंदी का चार्ज ले लिया। (वही पृ० ३१)

शैली में वे रचना करते थे उसी भाषा की दूसरी शैली का उन्होंने व्यर्थ विरोध किया। हरिश्चन्द्र 'रसा' कृत प्रेमतरंग से उद्धृत गजल की कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जा रही हैं।

> "दिल मेरा ले गया दगा करके,
> बेवफा हो गया वफा करके।
> हिज्र की शब घटा ही दी हमने,
> दास्तां जुल्फ का बढ़ा करके[1]।"

इस स्टाइल को भी वे विदेशी और अस्वाभाविक मानते थे जैसा इसकी पाद-टिप्पणी से प्रकट होता है।

> *"काबुल गै मोगल हो आए खटिया तर है पानी।*
> *'आब' 'आब' कह पूत मूए अपने सीर सिरानी॥"*

विदेशी भाषा-बोली का दुष्परिणाम बताने के लिये बहुधा लोग इस प्रसिद्ध कहावत को सुना देते हैं।

खड़ी बोली पद्य पहिला भाग के प्रकाशित होने के बाद श्रीधर पाठक और अम्बिकादत्त व्यास ने खड़ी बोली में कुछ उत्तम रचनाएँ कीं। खत्रीजी ने दूसरे संग्रह में उन्हें भी स्थान दिया। श्रीधर पाठक की 'जगत सचाई सार' बड़ी प्रसिद्ध रचना है। यहाँ व्यासजी का बनाया हुआ खड़ी बोली का एकतीस अक्षर वाला कवित छन्द अवतरित किया जा रहा है।

> "अमृत के रस की भरी सी उस मुरली को,
> कब प्यारे आके मेरे सामने बजावेगा।
> चढ़के कदंब पर चारों ओर देखभाल,
> हाथ को उठा के कब बछड़ों को बुलावेगा।
> अंबादत्त कवि की रसीली कविता को सुन,
> मुकुट झुका के कब फिर मुसकावेगा।
> मुझसे गँवार की पुकार बार बार सुन,
> सावले सलोने कब दरस दिखावेगा[2] ?"

१-२—वही पृ० ३-४, ५-६।

यूरेशियन स्टाइल—

इसकी भाषा दो प्रकार की देखी जाती है। एक वह जहाँ हिंदुस्तानी के शुद्ध शब्दों के बीच-बीच मे अंग्रेजी के भी शब्द मिले रहते हैं, दूसरी वह शैली जो विकृत उच्चारण वाले शब्दों के आधार पर निमित होती है। इसमें हिंदुस्तानी के शब्द अंग्रेजी उच्चारण की तरह विकृत करके बोले या लिखे जाते हैं। इसे अशुद्ध हिंदी मे यूरेशियन स्टाइल कहा जायगा। इन दोनों भाषा रूपों के नमूने दो भिन्न-भिन्न परिच्छेदों मे खत्रीजी ने संग्रहीत किये हैं। चौथे परिच्छेद की रचनाओं में पहला रूप और पाँचवें में दूसरा रूप दिखाई पड़ता है। यहाँ पर दोनों रूपों की कविता के उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :

शुद्ध हिंदी में यूरेशियन स्टाइल का नमूना—

"एक सिरे से काम की बातें इन्हें आती नहीं।
सिर्फ आता है इन्हें टु फ्लाइ काइट नाउ-ए-डेज ॥
डार्कनेस छाया हुआ है हिंद में चारो तरफ।
नाम को भी है कहीं बाकी न लाइट नाउ-ए डेज[1] ।।"

अशुद्ध हिंदी में यूरेशियन स्टाइल का नमूना—

"ध्यान में जिस दम नई तहजीब को लाटा है हम,
छोड़ कर काबे को लन्डन में चला जाटा है हम।
नाच घर में या कमीटी में अगर जाटा है हम,
बिउटिफुल लेडी का अपने साथ ले जाटा है हम।

× × ×

हाजत पेशाब या पायखाने की हुई तो वाँ,
मेकवाटर कह खड़े हो मेंह सा बरसाटा है हम।
नाम पर्दा का वह लें जोरू को रखें कैद में,
काले लोगों की यह बातें सुन के जल जाटा है हम[2] ।"

१—वही पृ० १४।
२—वही पृ० १५–१६।

उक्त कविता बाबू हिंदी में है और बाबू इंग्लिश के जबान में प्रस्तुत की गई है। यह कविता बाबू हिन्दी बोलने वाले बंगालियों और अंग्रेजों पर एक व्यंग्य है। खत्रीजी केवल हिन्दी क्षेत्र में ही एक स्थिर और सर्व प्रचलित हिन्दुस्तानी शैली का प्रचार नहीं चाहते थे बल्कि वे इसे अन्तर्प्रान्तीय भाषा शैली के रूप में व्यवहृत देखना चाहते थे। किसी एक निश्चित अन्तर्प्रान्तीय भाषा के अभाव में न तो भावानुरूपता संभव है और न इतने विशाल राष्ट्र भारत की एकता। कल्पना कीजिये कि कोई परदेशी भारत में पंजाब से बंगाल तक की यात्रा करे तो उसे कितनी भाषा बोलियों के चक्रव्यूह पर से गुजरना पड़ेगा। यह कितनी हास्यास्पद स्थिति है इसे स्पष्ट करने के लिये खत्रीजी ने अख्तर हुसेन की एक विस्तृत कविता उद्धृत की है जिसमें कवि ने अपने 'स्वप्न' का वर्णन किया है स्वप्न में वह देशाटन को निकला। रास्ते में उसे भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी लोग अपनी विचित्र भाषा बोलियों में जो विविध प्रश्न करते हैं उन्हीं को इस कविता में छंद-बद्ध कर दिया गया है और पढ़ने पर यह कविता पाठक को कैसी लगेगी उसके संबंध में लेखक ने स्वयं लिखा है कि 'मैंने जो स्वाब देखा है उसको सुनकर हँस लो'। इस व्यंग्य द्वारा उसका स्पष्ट संकेत है कि इन विविध भाषा-बोलियों के बीच एक राष्ट्रीय शैली का सूत्र होना चाहिये ताकि तमाम भाषा-भाषी एक भाषा-स्तर पर परस्पर मिल जुल सकें। ऐसी भाषा शैली हिन्दुस्तानी या खत्रीजी के शब्दों में 'खड़ी बोली की मुंशी स्टाइल' ही हो सकती है। इसी उद्देश्य के समर्थन में उन्होंने भारतेन्दु का 'मुशायरा' भी परिशिष्ट में जोड़ दिया है।

यह तो स्पष्ट है कि खड़ी बोली का पद्य भाग १ और* २ मुख्यत भाषा की दृष्टि से प्रकाशित हुआ और इसके द्वारा खड़ी बोली की विविध शैलियों में की गई पद्य रचनाओं के नमूने प्रस्तुत कर हिन्दुस्तानी शैली का समर्थन किया गया। प्रथम भाग की कविताओं के चुनने में विषय की उपादेयता

---

*—खड़ी बोली पद्य २ रा भाग के आरंभिक और अन्तिम पृष्ठ के फट जाने से प्रकाशन संबंधी विवरण नहीं प्राप्त हो सका। इसकी कोई अन्य प्रति देखने में नहीं आई। यह प्रति मुझे श्री उदयशंकरशास्त्री के सौजन्य से मिली।

और छंदों के नवीन प्रयोगों पर भी कुछ ध्यान दिया गया था परन्तु वह भी भाषा की व्यंजकता सिद्ध करने के लिए ही। वहाँ यह दिखलाना ही संग्रहकर्ता का मुख्य उद्देश्य था कि खड़ी बोली में उपदेशात्मक सुधारवादी, राष्ट्रवादी, प्रेम, वीर, करुण आदि विविध भावों एवं विषयों की अभिव्यक्ति सफलता और सरलतापूर्वक सम्भव है।

खत्रीजी के छंद संबंधी विचारः—

इन संग्रहों में छंदों का प्रयोग भी खत्रीजी के भाषा-सिद्धान्त से ही अनुशासित है। वे जिस प्रकार उर्दू और खड़ी बोली (हिन्दुस्तानी) को एक भाषा मानते थे पर ब्रजभाषा को पूर्णतया भिन्न समझते थे उसी प्रकार ब्रजभाषा के छंदों को भी खड़ी बोली का छंद नहीं मानते थे परन्तु उर्दू के छंदों को हिंदी का छंद मानते थे। उन्होंने खड़ी बोली पद्य की भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि "मैं भाषा छंद को हिंदी छंद नहीं मानता हूँ और इसीलिए छंदोविचार लिखने के पहले हिन्दी छंद, जिसको मैं मानता हूँ इस पुस्तक में दिखलाता हूँ।" अतः इस संग्रह में अधिकतर वे ही छंद प्रयुक्त हुए हैं जिन्हें खत्रीजी हिन्दी छंद मानते थे। छंद की दृष्टि से इन संग्रहों को देखने पर ज्ञात पड़ता है कि इनमें अधिकतर उर्दू के छंदों का प्रयोग हुआ है। यहाँ तक कि जिन पद्यों को खत्रीजी ने पंडित स्टाइल के अन्तर्गत रखा है उनमें भी उर्दू छंदों का ही विधान है। केवल अग्निहोत्री की पद्य रचनाओं में बंगला के पयार छंद और महेशनारायण की 'स्वप्न' नामक कविता में माइकेल द्वारा प्रयुक्त अमात्रिक छंदों का प्रयोग इस संग्रह में नवीनता की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

ब्रजभाषा के समर्थकों द्वारा विरोधः—

इन संग्रहों के प्रकाशन से ब्रजभाषा के क्षेत्र में बड़ी हलचल मची। विरोध उत्तेजना फैलाने की जिम्मेदारी खत्री के उस सिद्धान्त को है जिसके अनुसार वे ब्रजभाषा काव्य को हिन्दी काव्य ही नहीं मानते थे। उन्होंने ब्रजभाषा को हिंदी से अलग घोषित कर दिया और उर्दू को हिन्दी की एक शैली बताकर उसे हिंदी के अन्तर्गत मान लिया। उर्दू के विरुद्ध हिन्दीके

साहित्यिकों में भारतेन्दु जी की भाषा के प्रश्न को लेकर सामूहिक विरोध की भावना फैली हुई थी। 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का नारा उठाया जा रहा था और उर्दू को हिन्दी का घोर विरोधी समझा जाने लगा था। ऐसी स्थिति में उर्दू का रंच मात्र भी समर्थन हिन्दी प्रेमियों को खटकने वाला था तिसपर ब्रजभाषा साहित्य को जो हिन्दी कविता की अमूल्य निधि है, हिंदी से अलग कर देने का प्रयत्न वस्तुतः बहुत ही उत्तेजना फैलाने का कारण हुआ।

राधाचरण गोस्वामी द्वारा खड़ी बोली पद्य का विरोधः—

ब्रज के प्रमुख साहित्यिक राधाचरण गोस्वामी के लिये यह उचित ही था कि वे ब्रजस्थ होती हुई ब्रजभाषा के समर्थन में अपनी लेखनी उठाते। खत्री की पुस्तक 'खड़ी बोली का पद्य' पर अपनी राय देते हुये उन्होंने सर्व प्रथम ११ नवम्बर १८८७ ई० के 'हिन्दुस्तान' में लिखा कि मैं खड़ी बोली पद्य का विरोधी हूँ। अपने उक्त पत्र में उन्होंने न केवल खड़ी बोली का विरोध बल्कि ब्रजभाषा का समर्थन भी किया। जब कोई विवाद उठता है तो विरोधी पक्ष के सम्बध में कुछ वास्तविक दोष दिखाये जाते हैं साथ ही बहुत से झूठे आरोप भी कर दिये जाते हैं। इस विवाद में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। ब्रजभाषा के समर्थन में जहाँ उसकी प्रशंसा में अतिशयोक्ति से काम लिया गया वहाँ खड़ी बोली की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में निश्चित तथ्यों को भी दबकर शकास्पद कर दिया गया।

गोस्वामीजी के पत्र के मुख्य तर्क इस प्रकार थे—

१—खड़ी बोली हिन्दी ब्रजभाषा से भिन्न कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है बल्कि ब्रजभाषा कान्यकुब्जी और शौरसेनी आदि कई भाषाओं के मिश्रण से बनी है। खड़ी बोली और ब्रजभाषा में केवल क्रिया का अन्तर है।

२—खड़ी बोली में कवित्त, सवैया आदि हिन्दी के उत्तम छंदों का निर्वाह नहीं हो सकता। इसमें उर्दू के बैत, शेर, गजल आदि का ही प्रयोग सभव है।

३—खड़ी बोली में उत्तम कविता नहीं है। दयानन्दी, ईसाई और मिशनरी आदि ने जिस पद्य का प्रारंभ इस भाषा में किया है वह पूर्णतया काव्य गुण से वंचित है और रसिक समाज उसे 'डाकिनी' समझता है।

इसके विपरीत ब्रजभाषा के पक्ष में उनका कथन था कि—

१—चन्द से लेकर हरिश्चन्द्र तक सूर, तुलसी, बिहारी, देव घनानंद, पद्माकर आदि कवियों ने ब्रजभाषा में उत्कृष्ट काव्य रचना की है। इस अमृतमयी कविता का निकाल देने पर हिन्दी में कुछ नहीं बचेगा।

२—ब्रजभाषा में अत्यंत लालित्य एवं सरसता है। वह सैकड़ों वर्षों से मजते मजते कविता के लिये सिद्ध भाषा हो चुकी है।

३—ब्रजभाषा अभी मरी नहीं है। उससे ही कविता होनी चाहिये। गद्य पद्य की दो भाषा होना गौरव की बात है। जैसे संस्कृत नाटकों में प्राकृत भी चलती थी वैसे ही हिन्दी साहित्य में चाहे खड़ी बोली भी चले पर काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा ही रह सकती है।

अंत में उन्होंने हिन्दी कवियों को एक सुझाव दिया कि लोगों को भाषा का विवाद छोड़कर अपनी प्राचीन काव्य भाषा में पाश्चात्य साहित्य के आधार पर नवीन भावों और विषयों की अवतारणा करनी चाहिये।[1] गोस्वामीजी ने खड़ी बोली के कई दोष दिखाकर उसे काव्य रचना के लिये पूर्णतया अनुपयुक्त बताया। गोस्वामीजी का यह कथन भी सर्वदा मान्य नहीं था और उचित प्रतिवाद की अपेक्षा रखता था।

श्रीधर पाठक द्वारा खड़ी बोली पद्य का अनुरोध

श्रीधर पाठक ने २० दिसंबर १८८७ के 'हिन्दुस्तान' में गोस्वामीजी के उक्त पत्र का प्रतिवाद किया। उनके आरोपों का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि चन्द से लेकर हरिश्चन्द्र तक संपूर्ण हिन्दी काव्य साहित्य ब्रजभाषा में नहा है। स्वयं हरिश्चन्द्र ने लिखा है कि हिन्दी पद्य में ब्रजभाषा की शरण लेने का नियम अकबर के पूर्व नहीं था। जायसी और चन्द की कविता ब्रजभाषा से भिन्न है और यह भी मान लिया जाय कि अबतक की संपूर्ण कविता ब्रजभाषा में है तो भी यह कहाँ आवश्यक हुआ कि भविष्य में भी कविता ब्रजभाषा में ही रची जाय। ब्रजभाषा के समझने वाले कम हो गये हैं। यह भारत के केवल उन्हीं प्रान्तों में समझी जाती है जहाँ कि कुछ-कुछ शब्द प्रचलित पद्य भाषा के व्यवहार में आते हैं।' ब्रजभाषा पानीपत से पटने तक और हिमालय की तराई से विन्ध्याचल की तलहटी तक सीमित है।

१—देखिये परिशिष्ट (क)।

इसी क्षेत्र में ब्रजभाषा पद्य लिखा पढ़ा जाता है। परन्तु बंगाली, गुजराती, मराठी और मद्रासियों के लिये ब्रजभाषा की कविता ऐसी ही है जैसी उन लोगों की कविता हमलोगों के लिए है। इसका कारण यह है कि ब्रजभाषा, विशेषतया पद्य की ब्रजभाषा बोलचाल में कभी प्रचलित नहीं रही। यहाँ तक कि अपने मूल प्रदेश वालों के समक्ष में भी कभी-कभी नहीं आती। गद्य में इसका प्रयोग नहीं के बराबर मिलता है।

दूसरी ओर खड़ी बोली अत्यन्त प्रचलित है। यह अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा है। संपूर्ण गद्य खड़ी बोली में ही लिखा जाता है। 'इस हिन्दुस्तानी या हिन्दी का प्रचार भारतवर्ष में इतना विस्तृत है कि योरोपियन इसे यहाँ की फ्रेंच्च जबान (लिगुआ फ्रैन्का) करके समझते हैं और ठीक है जब अंग्रेजी बिना पढ़े बंगाली और मरहठे अथवा मद्रासी और गुजराती आपस में बात करते हैं तो इसी (हिन्दी) भाषा का आश्रय लेते हैं। हिन्दी और उर्दू में तभी अन्तर होता है जब उर्दू में अधिकतर फारसी के और हिन्दी में अधिकाश संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का बर्ताव किया जाता है।'[1]

छन्द सम्बन्धी आरोप का खंडन करते हुये पाठकजी ने कहा कि यह आवश्यक नहीं कि जिन छदों का ब्रजभाषा पद्य में व्यवहार किया जाता था केवल उन्हीं का हिन्दी में व्यवहार किया जाय। घनाक्षरी सवैया आदि के अलावा अनेक ऐसे छन्द हैं जिनका प्रयोग खड़ी बोली की कविता में बड़ी सुन्दरता से हो सकता है और यदि आवश्यकता पड़ी तो वे छन्द खड़ी बोली में प्रस्तुत भी किये जायँगे। श्रीधर पाठक उस समय खड़ी बोली में उत्तम काव्य रचना करने वाले मान्य कवि थे। उनकी 'एकांतवासी योगी और जगत सचाई सार जैसी विस्तृत और उच्चकोटि की रचनायें प्रकाशित हो चुकी थीं। खड़ी बोली पद्य के समर्थन का उन्हें सबसे अधिक नैतिक अधिकार था। ब्रजभाषा की मधुरता का प्रतिवाद करते हुए संपादक 'हिन्दोस्तान' ने अपनी टिप्पणी में लिखा कि ब्रजभाषा में जो कोमलता और मधुरता मालूम पड़ती है वह हमारे चिरकाल के परिचय और अभ्यास के कारण। कालान्तर में खड़ी बोली की कविता भी वैसी ही मधुर और मनोहर लगेगी। संपादक

१—*'खड़ी बोली का आन्दोलन' संपादक भुवनेश्वर मिश्र पृ० ९।*

'हिन्दुस्तान' श्रीधर पाठक के मत के समर्थक थे और उनका यह कथन सर्वांश सत्य था कि जब संसार की सब भाषाओं में कविता हुई तो खड़ी बोली में ही क्यों नहीं हो सकेगी ?[1]

इन्हीं दो पत्रों से खड़ी बोली और ब्रजभाषा के विस्तृत विवाद का सूत्रपात हुआ। इन पत्रों द्वारा जिस विवाद का आरम्भ किया गया उसकी सफल समाप्ति सुमित्रानंदन पंत की सबल खड़ी बोली की कविताओं के प्रकाशन के पश्चात् ही सम्भव हो सकी। इस सम्पूर्ण विवाद काल को दो भागों में बाँट दिया जा सकता है। प्रथम काल में खड़ी बोली के मुख्य समर्थक श्रीधर पाठक दिखलाई पड़ते हैं और दूसरे काल में महावीर प्रसाद द्विवेदी। दोनों ही कालों की विवाद विषयक मुख्य समस्या, क्षेत्र और प्रवृत्ति में भी स्पष्ट अन्तर है। यहाँ पर प्रथम काल (१८८७ से १९०३) तक के विवाद और खड़ी बोली के लिये किये गये प्रयत्नों तथा उसकी प्रगति का विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

विवाद के आरम्भिक काल में खड़ी बोली पद्य का विरोध करने वालों में गोस्वामीजी के अलावा प्रतापनारायण मिश्र, शिवनाथ शर्मा, ग्रियर्सन आदि प्रमुख व्यक्ति थे। दूसरी ओर श्रीधर पाठक के साथ अयोध्या प्रसाद खत्री, केशवराम भट्ट तथा सम्पादक-हिन्दुस्तान आदि साहित्यिक थे। इनलोगों के पारस्परिक वाद विवाद मुख्यतया 'हिन्दुस्तान', 'बिहार बन्धु', 'सारसुधानिधि' 'चम्पारन चन्द्रिका' और 'पीयूष प्रवाह' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे। अयोध्या प्रसाद खत्री ने इनमें से चुने हुये लेखों का एक संग्रह किया था और भुवनेश्वर मिश्र के संपादन में वह 'खड़ी बोली का आन्दोलन' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

पाठकजी के दिसम्बर वाले पत्र का प्रतिवाद करते हुये १५ जनवरी सन् १८८८ ई० के 'हिन्दुस्तान' में गोस्वामीजी ने पुनः लिखा कि पाठकजी का यह कहना निराधार है कि ब्रजभाषा का पद्य सब जगह नहीं समझा जाता और यह सीमित क्षेत्र में ही लिखी पढी जाती है। साथ ही यह कहना कि *खड़ी बोली का व्यवहार बोलचाल, पत्र-पत्रिका और कारबार में प्रतिदिन बढ* रहा है, सर्वथा मान्य नहीं है क्योंकि ब्रजभाषा और खड़ी बोली में कुछ

१—देखिये परिशिष्ट (क)।

थोड़े से शब्दों के अलावा कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्या ऐसे भी कुछ शब्द हैं जो ब्रजभाषा में दुर्बोध और क्लिष्ट हों परन्तु खड़ी बोली में सरल और सुबोध हैं। फिर कविता समझना सरल बात नहीं है। इसके लिये कुछ काव्य परम्परा और भाषा ज्ञान की अपेक्षा होती है। गद्य तथा पद्य की भाषा कभी एक नहीं हो सकती और न बोलचाल की भाषा में काव्यगत सरलता आ सकती है। इसीलिए मैंने खड़ी बोली की कविता का 'डाकिनी' कहा है। खड़ी बोली का पद्य मेरे कथन का स्वयं प्रमाण है। यों तो 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' के अनुसार समर्थकों को अपनी कविता और अपनी बात अच्छी ही लगेगी पर सच बात तो यह मालूम पड़ती है कि ब्रजभाषा में जो लोग नियमित काव्य रचना नहीं कर पाते वे ही खड़ी बोली कविता के समर्थक हैं और ब्रजभाषा को दूध की मक्खी की तरह पद्य से निकाल बाहर करना चाहते हैं।

गोस्वामीजी की एक यह भी आशंका थी कि यदि 'खड़ी बोली की कविता की चेष्टा की जायगी तो फिर खड़ी बोली के स्थान में थोड़े दिनों में खाली उर्दू की कविता का प्रचार हो जायगा। इधर गद्य में सरकारी पुस्तकों में फारसी शब्द बुस ही पड़े, उधर पद्य में भी फारसी भरी गई तो सहज ही झगड़ा निबटा।'

गोस्वामीजी ने खड़ी बोली में पद्य लिखने वालों, विशेषतया खत्रीजी और श्रीधर पाठक पर व्यक्तिगत आक्षेप किया था। 'खड़ी बोली पद्य' में अयोध्या प्रसाद खत्री का एक भी पद्य नहीं है। उन्होंने केवल खड़ी बोली पद्य का प्रचार करने के लिये यह निःस्वार्थ प्रयत्न किया था। भुवनेश्वर मिश्र ने उनके इस त्यागमय प्रयास के संबंध में लिखा है विशुद्ध हिन्दी साहित्य के पद्य विभाग का सत्कार आवश्यक समझ कर बाबू अयोध्या प्रसादजी ने कई सौ रुपये खर्च करके इस अभिप्राय से इस पुस्तक को छपवाया था और बिना मूल्य तथा बिना डाक महसूल हिन्दी रसिकों के बीच वितरित किया था, (और अभी तक वितरित कर रहे हैं) कि लोगों का ध्यान खड़ी बोली पद्य की ओर झुके और इस विषय में आन्दोलन होवे।'[1] खत्रीजी की ओर से

१—सं० भुवनेश्वर मिश्र 'खड़ी बोली का आन्दोलन' पृ० १२।

भुवनेश्वरमिश्र ने राधाचरण गोस्वामी के आक्षेप का निराकरण करते हुए लिखा कि 'गोस्वामीजी को यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि इस पुस्तक के द्वारा लोगों का ध्यान खड़ी बोली पद्य की ओर निश्चय हुआ और जैसा आन्दोलन इस पुस्तक के द्वारा हुआ वैसा हिन्दी साहित्य के इतिहास में और किसी पुस्तक के द्वारा नहीं हुआ।'[1]

श्रीधर पाठक ने व्यक्तिगत आक्षेप के सबंध में तो कुछ नहीं कहा परन्तु गोस्वामीजी के अन्य तर्कों का विस्तारपूर्वक उत्तर तीन फरवरी सन् १८८८ ई० के 'हिन्दुस्तान' में दिया। पत्र काफी बड़ा था और इसका कुछ अंश ४ फरवरी के अंक में छपा। इस पत्र में पाठकजी ने राधाचरण गोस्वामी के तीन मुख्य तर्कों का सप्रमाण प्रतिवाद किया। उन्होंने व्रजभाषा और खड़ी बोली के अन्तर को स्पष्ट किया और व्रजभाषा की दुर्बोधता के कारणों पर विशेष प्रकाश डालते हुये लिखा कि 'संज्ञावाचक और गुणवाचक शब्दों को छोड़ जिसमें अधिकांश दोनों ही भाषाओं में सादृश्य पाया जाता है, शेष शब्द समाज व्रजभाषा और खड़ीबोली का नितान्त न्यारा-न्यारा है। बहुवचन में संज्ञाओं के भी रूप दोनों में एक से नहीं होते, क्रिया और अव्यय दोनों के अत्यन्त भिन्न हैं। क्या हुआ जो कोई-कोई क्रिया का रूप या कोई-कोई अव्यय एक सा पाया गया ? इससे सादृश्य नहीं कहा सकता। फिर व्रजभाषा में एक शब्द के रूप अनेकों (प्रान्तिक) रीतियों पर किये जा सकते हैं और प्रत्येक प्रान्तिक रूप में बरते जा सकते हैं उनके लिये कोई निर्दिष्ट नियम नहीं, कवियों की इच्छानुसार उन्हें आकार मिलता है और यही मुख्य कारण है कि व्रजभाषा में पद-लालित्य को अधिकतर अवसर प्राप्त है जिसके बल से केवल उसी को प० राधाचरण की श्रेणी के विद्वान काव्योपयोगी भाषा का (खड़ी बोली की अपेक्षा) अधिकार देते हैं, यहाँ पर उदाहरण के लिये कुछ शब्दों के रूप दिखाये जाते हैं : जो या उसके रूपांतर 'जिहि' की षष्ठी में जाका, जाको, जाके, जासु, जिहिकर, जिहिकेरि, जिहिकेरौ, जिहि आदि अनेक रूप, इसी प्रकार 'करिबो' 'करन' या 'करै' धातु

१—वही।

का भविष्यत में 'करैगो' करैगी, करिहै, करहीं, करवै आदि और उसी का भूत काल में कर्यो, करी, करे, कियौ, किये, कीनो, कीना, कीन्ह, करेउ इत्यादि विविध रूप हो जाते हैं परन्तु खड़ी बोली में ऐसा नहीं हो सकता। उसकी सब बातें नियमबद्ध हैं। साराश यह कि व्रजभाषा और खड़ी हिन्दी का पद्य या गद्य लिखने अथवा समझने के लिये व्याकरण सम्बन्धी भिन्न भिन्न नियमों का ज्ञान अपेक्षित है और जिन्हें व्रजभाषा के प्रान्तिक अंगों से सम्यक् अभिज्ञता प्राप्त नहीं है वे उसके वाक्य को शीघ्रता या सुगमता से नहीं समझ सकते, परन्तु खड़ी बोली की कविता इस कारण से कि उस बोली का प्रचार और विस्तार व्रजभाषा की अपेक्षा अधिक है और यहाँ की शिक्षित समाज की यह मातृभाषा है बिना बड़े आयास के समझ में आ सकती और विशेष समझी जाने के कारण विशेष लाभ पहुँचा सकती है।'[१]

यह तो थी भाषा सम्बन्धी बात। छन्द सम्बन्धी आरोप का कोई मौखिक उत्तर नहीं हो सकता था अतः पाठकजी ने भिन्न-भिन्न छन्दों को खड़ी बोली में प्रयुक्त करके उनका उदाहरण भी इसी पत्र के साथ प्रस्तुत किया। परन्तु हिन्दुस्तान का यह अंक दुर्लभ होने के कारण उन छन्दों का उदाहरण यहाँ नहीं दिया जा सका। उनके कथन[२] से स्पष्ट है कि उन्होंने छन्द सम्बन्धी आरोप का भी प्रयोग द्वारा निराकरण कर दिया।

व्रजभाषा के समर्थकों का सबसे बड़ा तर्क यह था है कि वह खड़ी बोली की अपेक्षा बहुत ही मधुर है, अतः काव्योपयोगी भी है। इसका उत्तर देते हुए पाठकजी ने लिखा कि खड़ी बोली पद्य का यह आरम्भिक काल है। 'अभी कवियों ने अपनी शक्ति को भलीभाँति इस पर परीक्षित नहीं किया तो फिर क्यों कर कहा जा सकता है कि इसकी कविता में कविता के गुण नहीं आ सकते या इसकी भाषा काव्योपयोगी नहीं है? इक साथ ही कोई कार्य

१—वही पृ० १७–१८।

२—'मुझे इस बात का संतोष है कि खड़ी हिन्दी कविता के उदाहरण मुझे अपने ही बनाये देने पड़े कारण यह कि इस प्रकार की कविता के लेखक बहुत थोड़े हैं।' वही पृ० १८।

उत्कृष्टता की परमावधि को नहीं पहुँच सकता। दूसरी ओर 'ब्रजभाषा की कविता कई बातों में उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुँच चुकी है, अत. अब उसके विश्राम का समय आ गया है।''[1]

अपने इस कथन की पुष्टि के लिये उन्होंने हिन्दी कविता को कालानुक्रम से तीन भागों में बाँट दिया और दिखाया कि खड़ी हिन्दी पद्य का आरम्भ अभी अभी तृतीय काल में हुआ है। पाठकजी के अनुसार हिन्दी कविता के काल इस प्रकार हैं—

प्रथम—प्राचीनकाल चन्द के समय से मलिक मुहम्मद जायसी तक अथवा पृथ्वीराज से हुमायूँ तक।

द्वितीय—*मध्यकाल-वा ब्रजभाषा, इसका सूरदास अर्थात्* अकबर के समय से आरम्भ है और अभी तक चल रही है यद्यपि हरिश्चन्द्र के साथ इसकी भी समाप्ति कही जा सकती है।

तृतीय—नवीन वा खड़ी बोली-यह हिन्दी यद्यपि बोलचाल में न्यूनाधिक तब से व्यवहृत समझनी चाहिये जब से दिल्ली आगरे में उर्दू बोली जाने लगी परन्तु लेख के रूप में यह लल्लूजी के 'प्रेमसागर' ही में पहले देखने में आती है। इसलिये तभी से इसका जन्म समझना चाहिये। परन्तु तब से अब इसका कुछ रूप रग बदल गया है और बगाली का अनुकरण करके वह उस दशा को पहुँचती है जो आजकल के गद्य ग्रन्थ और समाचार पत्रों में दर्शित है।

पिछले तीस-चालीस वर्षों के खड़ी बोली के साहित्य के आधार पर उन्होंने उसी समय भविष्य-वाणी की थी कि "इसके गद्य में वह गुण आवेंगे जो ब्रजभाषा के उत्तमोत्तम पद्य में नहीं हैं। और इसके काव्य में वह मनोहारित्व होगा जिसका हमें अनुभव भी नहीं है।" आज की खड़ी बोली के साहित्य को देखते हुए उनका यह कथन अक्षरश: सत्य प्रतीत होता है।

इस पत्र के साथ ही गोस्वामी जी के साथ वाद विवाद का एक प्रकार से अन्त हो गया। गोस्वामी जी प्रगतिशील विचारों के साहित्यिक थे। वैष्णव धर्म के अधिकारी होते हुये भी अपने को ब्रह्मसमाजी कहते और दयानन्द के वाक्यों को वेद वाक्य से कम नहीं मानते थे। अपने प्रथम पत्र के अन्त में

१—वही पृ० १९।

उन्होंने कहा था कि हिन्दी पद्य में अंग्रेजी के विशद साहित्य से नवीन भाव और विषय लेकर काव्य रचना की जाय। यदि हिन्दी काव्य से ब्रजभाषा काव्य को अलग कर देने की बात खत्री जी ने 'खड़ी बोली पद्य' में न कही होती तो सम्भवतः उन्होंने उसका विरोध भी न किया होता।

उधर गोस्वामी जी के विरोध का स्वर मंद पड़ रहा था। इधर प्रतापनारायण मिश्र नये उत्साह के साथ वाद-विवाद के मैदान में उतरे। खड़ी बोली पद्य के दोनों भागों के सम्बन्ध में अपनी राय देते हुए उन्होंने 'ब्राह्मण' में लिखा कि 'लेखक महाशय की मनोगति तो सराहना के योग्य है पर साथ ही असम्भव भी है क्योंकि यह कार्य जब भारतेन्दु से नहीं हो सका तो दूसरों का यत्न निष्फल होगा। मिश्र जी के लिए भारतेन्दु सबसे बड़े आप्त प्रमाण[1] थे। खत्री जी ने भारतेन्दु को खड़ी बोली पद्य का निरोधी घोषित कर दिया था। खड़ी बोली पद्य के प्रति मिश्र जी के निरोध का यही मुख्य कारण था।

खड़ी बोली पद्य के विरुद्ध प्रतापनारायण मिश्र के तर्क

उन्होंने खड़ी बोली की तुलना बास से दी और ब्रजभाषा को ईख की तरह सरल और मीठी बताई। उन्हें छन्द सम्बन्धी असुविधा ही अधिक खटकती थी और अन्त में उन्होंने कहा कि 'कवियों को क्या पड़ी है कि किसी को समझाने को अपनी बोली बिगाड़े।[2] इस प्रकार मिश्र जी ने अपनी स्वाभाविक छेड़ छाड़ वाली शैली में कुछ व्यंग्य बौछार छोड़ी और खड़ी बोली पद्य के विरोध का एक नया क्रम आरम्भ किया।

१—'पुरपति सम प्रेमिक परम, रसिक वृन्द सुख कन्द।
कालिदास इव कुशल कवि, जयतु देव हरिचन्द।
(प्रतापनारायण मिश्र, 'सांगीत शाकुंतल' खड्ग विलास प्रेस, द्वि० सं० १६०८)

उन्होंने 'तृप्यन्ताम' में भी हरिश्चन्द्र को बाल्मीकि और कालिदास जैसे महाकवियों के साथ स्मरण किया है—अब तो हा के लोग हाय भूले हरिचन्दहु के गुन ग्राम—।

२—प्रतापनारायण मिश्र—'निबन्ध नवनीत' प्रथम संस्करण १६१६ पृ० ५०-५१।

पुनः श्रीधर पाठक ने मिश्र जी के पत्र का ८ मार्च १८८८ ई० के 'हिन्दोस्तान' में प्रतिवाद करते हुए कहा कि भारतेन्दु ने व्रजभाषा की तरह खड़ी बोली कविता बनाने पर श्रम नहीं किया अन्यथा वे इसमें भी अच्छी कविता बना लेते। पाठक जी ने व्रजभाषा की उपमा 'बुड्ढी नायिका' से देते हुए खड़ी बोली के लिए लिखा कि 'अभी यह वयः सन्धि ही में है'। भारतेन्दु ने कविता को भोंडी कहा था न कि भाषा को। कविता का दोष कवि की असमर्थता प्रकट करता है भाषा की नहीं।

प्रतापनारायण मिश्र ने खड़ी बोली के सबंध में ब्राह्मण मे तो लिखा ही परन्तु उनका अधिक प्रभावशाली पत्र हिन्दोस्तान में छपा। 'हिन्दोस्तान' उस समय का सबसे प्रसिद्ध और नियमित रूप से प्रकाशित होने वाला अकेला दैनिक पत्र था। अतः किसी विषय पर अधिकाधिक लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए यह पत्र ही अधिक उपयुक्त था। २१ मार्च १८८८ ई० के 'हिन्दोस्तानी' मे श्रीधर पाठक को छद सम्बन्धी चुनौती देते हुए मिश्र जी ने लिखा कि उर्दू के बीस बाइस छंदों को छोड़कर खड़ी बोली अन्य छंदो के लिए पूर्णतया अनुपयुक्त है। आप छन्दार्णव जैसी कोई भी पिंगल शास्त्र की पुस्तक लेकर बैठ जाइये और उसी 'हिन्दोस्तान' मे प्रत्येक छद का उदाहरण खड़ी बोली मे दीजिए और मैं व्रजभाषा मे देता हूँ। देखिये कि काव्योचित सरसता किसमें अधिक मिलती है।

उनका दूसरा आरोप खड़ी बोली की नीरसता के सम्बन्ध में था। आरोप तो पुराना था पर कहने का ढग इसबार मिश्र जी ने नया निकाला। उन्होंने कहा कि 'खड़ी बोली[1] व्रजभाषा की बहिन' है। वह भी

१—खड़ी बोली और उर्दू के सम्बन्ध में प्रतापनारायण मिश्र की धारणा अन्य व्रजभाषा समर्थकों से अधिक स्पष्ट तथा वैज्ञानिक थी, उनकी राय है—'उर्दू का जन्म दिहली की खड़ी बोली ही से हुआ है, आया, गया, हुआ, किया आदि किया अरबी के नहीं हैं, उर्दू के पहिले अवश्य संस्कृत या सस्कृत के अपभ्रंश शब्दों के साथ बोले जाते थे और यही हमारी नागरी या आप की

उतनी ही प्राचीन है जितनी व्रजभाषा। परन्तु व्रजभाषा में कविता की गई और खड़ी बोली मे नहीं। इसका एक मात्र यही कारण है कि खड़ी बोली में काव्योचित सरसता और माधुर्य आदि गुण व्रजभाषा की अपेक्षा बहुत कम है। खड़ी बोली में कविता 'शुष्कोवृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' हो जायगी।

उनकी तीसरी शिकायत यह थी कि खड़ी बोली मे कवियो की निरकुशता बिल्कुल पगु हो जाती है और उन्हे 'अचरज' को आवश्यकतानुसार 'अचरज्ज' या 'प्रकृति' के लिये 'परकीति' लिखने की छूट नहीं मिलती। (व्रजभाषा मे कवियो को जो अतिशय निरकुशता मिल गई थी उससे भाषा की दुर्गति हो गई और उसी का विरोध किया जा रहा था। फिर निरकुशता के लिए छूट मागना हास्यास्पद ही था)। इस पत्र के अन्त में प्रतापनारायण मिश्र के विरोध का स्वर काफी नम्र हो गया है और उन्होंने लिखा कि 'क्षमा करें हम खड़ी हिन्दी के विरोधी होते तो हानि पर हानि सहके ब्राह्मण का सपादन क्यों करते इसके कविता के भाग की ..... दागबेल आप डालिये, यथा सामर्थ्य हम भी कक्कर पत्थर डालते रहेगे। परन्तु कविता इस भाषा की व्रजभाषा के देखे रूखी होती है और होगी।'

इस प्रकार इस पत्र मे मुख्य विरोध छन्द और काव्यात्मकता को लेकर ही किया गया। मिश्र जी की छद सबंधी चुनौती स्वीकार करते हुए श्रीधर पाठक ने तीन अप्रैल १८८८ के 'हिन्दोस्तान' में लिखा कि 'हम आप की छन्द रचना सम्बन्धी माग को हर्षपूर्वक स्वीकार करते हैं और इस 'हिन्दोस्तान, के रणखेत में सग्राम के हेतु उद्यत हैं पर याद रहे कि आपको भी व्रजभाषा में जो छन्द हम कहेंगे, बनाने पडेगें, यद्यपि हमारा मत यह है कि जो छन्द जिस भाषा में अच्छा बैठे उसी को उस भाषा के लिये उपयुक्त समझना

खड़ी बोली का रूप है। मुसल्मान लोगों ने अपने समझने को केवल सज्ञा-वाचक शब्द मिला के हमारी ही खड़ी बोली का नाम उर्दू रख लिया है। अतः यह स्वयं सिद्ध है कि 'नागरी भाषा' नवीन नहीं है पर कविता के उपयुक्त हो न होने से आर्यों ने नहीं रक्खी, यवनों ने अपने पिंगल (उरूज) के अनुकूल देख क स्वीकृत कर ली।'

सं० भुवनेश्वर मिश्र— खड़ी बोली का आन्दोलन' पृ० ३५।

चाहिये। आप की समझ में खड़ी हिन्दी में २१ या २२ से अधिक छन्द नहीं आ सकते, और हम बीड़ा उठाकर अधिक नहीं तो २१ के ऊपर एक बिन्दी लगाकर इस भाषा में छन्द दिखला सकते हैं।'

पाठक जी ने वस्तुतः जो कुछ कहा उसे करके भी दिखलाया। ३ फरवरी के 'हिन्दोस्तान' में 'एक अनोखे शैलानी की अनोखी कहानी' पूर्णतया नये छन्द में छपी। ४ अप्रैल १८८८ के 'हिन्दोस्तान' में उन्होंने ऋतु संहार का ग्रीष्म वर्णन संस्कृत से खड़ी बोली हिन्दी में वंशस्थ और मालिनी वृत्त में अनूदित किया। दोनों छन्दों की पंक्तियां निम्नलिखित हैं:—

वंशस्थ—'उखड़ गये जिनके मृणाल जाल हैं, तड़प रहीं मीन उड़े मराल हैं।
भिड़े परस्पर गज जो विशाल हैं, इसी से कीचड़ से मलीन ताल हैं।'

मालिनी— 'गज, मृगपति, नोलो गाय, अग्नि के तपकर।
सुहृद सम इकट्ठे छोड़ के वैर सारा।
अधिक तप गई जो उन गुफों से निकलकर।
सुविपुल तटवाली शीघ्र नदियों को आते¹।'

श्रीधर पाठक ने इस प्रकार के अनुवादों और प्रयोगों द्वारा न केवल छंद सम्बन्धी आरोपों का ही निराकरण किया बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि *क्रमशः अभ्यास द्वारा खड़ी बोली में भी काव्योचित सरसता आवेगी।* अपने पत्र के अन्त में उन्होंने कहा 'मिश्र जी! एक बात तुम्हारे मुखारविन्द से ठीक उच्चरित हुई है। हम उसे मानते हैं और उसके कारण आप को भी मानते हैं। अर्थात् यह कि अच्छे कवि जिस भाषा का चाहें गौरव बढ़ा सकते हैं। बस इस पर हम भी 'आमी' कह के झगड़ा समाप्त करते हैं।'

राधाचरण गोस्वामी ने २३ मार्च १८८८ के 'हिन्दोस्तान' में ही अपील की थी कि 'यह विषय सर्व साधारण है, इसके निर्णय के लिये सब विद्वानों का मत लेना चाहिए। अतएव एक सभा 'कविता विचारिणी'[२] नाम से

१—संपादक—भुनेश्वर मिश्र—'खड़ी बोली का आन्दोलन' पृ० ५७-५८।

२—इस सभा के सम्बन्ध में अयोध्या प्रसाद खत्री ने कहा था कि 'सभा अभी नहीं हो सकती, मैं अपनी हजार पांच सौ पुस्तकें पहिले पश्चिमोत्तर देश में विद्वानों को बांट दूँ तब सभा हो।'

नियत हो।' इस सम्बन्ध में पाठक जी ने अपने ४ अप्रैल वाले पत्र में लिखा 'सभा इतना ही कह सकेगी कि अमुक भाषा अमुक भाषा से अधिक मीठी है पर यह सहस्र सभाओं की सामर्थ्य नहीं कि किसी भाषा में कविता बनने का निषेध कर सके और लोगों की प्रकृति प्रेरित प्रवृत्ति रोक सके। सभा की क्या आवश्यकता है। हम खड़ी हिन्दी की कविता की तारीफ करना लीजिये आप ही के कहने से बन्द किये देते हैं।'[१]

इन प्रमुख विद्वानों के अलावा खड़ी बोली के विवाद में भाग लेने वालों में लखनऊ के शिवनाथ शर्मा भी उल्लेखनीय हैं। आप अधिकतर 'सार सुधानिधि' में इस विषय पर अपनी राय प्रकाशित कराते थे। श्रीधर पाठक ने उक्त पत्र को इस बात की सूचना दी कि ब्रजभाषा और खड़ी बोली—पद्य संबंधी लेख 'हिन्दोस्तान' में ही छपें। अतः ३० मार्च १८८८ के 'हिन्दोस्तान' में शर्मा जी का एक लेख 'ब्रजभाषा और नया पद्य' नाम से छपा जिसकी आरम्भिक पंक्तियों—'यह तो हम बारम्बार लिख चुके हैं कि ब्रजभाषा के सम्मुख खड़ी बोली का पद्य बिल्कुल फीका मालूम होता है'—से प्रगट होता है कि शर्मा जी भी ब्रजभाषा की सरसता के ही प्रशंसक थे। उनके पत्र का उनके ही शब्दों में साराश इस प्रकार है:—

'खड़ी हिन्दी हमारी भाषा है और उसकी उन्नति में हमारा गौरव है किन्तु इस विषय में वह ब्रजभाषाकी बराबरी नहीं कर सकती और इसलिये उस रूपसे कोई आवश्यकता नहीं है। हरिश्चन्द्र के साथ ब्रजभाषा की समाप्ति बताना सर्वथा भ्रम है। अब भी उत्तम समस्या पूर्तियाँ ब्रजभाषामें हो रही हैं।' इसके अलावा इस लेख में न कोई नया तर्क है न कोई उपयोगी युक्ति।

विदेशी विद्वानों में भारतीय भाषाओं के प्रकांड पंडित के रूप में ग्रियर्सन की बड़ी प्रसिद्धि हो चुकी थी और उनके मत का विशेष मूल्य था। अतः अयोध्याप्रसाद खत्रीने उत्साह पूर्वक अपनी पुस्तिका भेजकर उस पर उनकी सम्मति माँगी। उत्तर में उन्होंने लिखा कि दुःख है मेरी सम्मति आपके लाभ की न होगी। खड़ी बोली में पद्य रचना का प्रत्येक प्रयत्न असफल

१—'खड़ी बोली का आन्दोलन' पृ० ५५।

होगा। इस विषय पर कुछ वर्ष पूर्व हरिश्चन्द्र ने भलीभाँति विचार किया था। मैं उनके तर्कों को ही सर्वथा उचित मानता हूँ[1]। बाद में अधिक लिखापढ़ी करनेपर उन्होंने लिखा कि मुझे दुःख है कि इतना पैसा और श्रम एक असम्भव कार्य के लिए नष्ट किया गया। मैं खड़ी बोली पद्य के संबंधमें अपने अन्तिम निश्चय पर पहुँच चुका हूँ अब इस विषय पर कोई पत्र व्यवहार मुझसे न किया जाय।

अयोध्याप्रसाद खत्री का पत्र[2]:—

ग्रियर्सन, प्रतापनारायण मिश्र और शिवनाथ शर्मा आदि ब्रजभाषा के समर्थकों द्वारा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कथन के आधार पर खड़ी बोली पद्य का

१—ग्रियर्सन के दो पत्र यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

(a) 'I have received Khariboli Ka Padya and your letter asking for an opinion of it. I regret no criticism of mine can be of use to you, as I am strongly of opinion that all attempts at writing poetry in Khariboli must be unsuccessful. The matter was fully discussed some year ago by Babu Harischandra of Benares and I consider his arguments convincing.'

G. A. Crierson.

(b) Dear Sir,

I have received a copy of your Khariboli Ka Padya. It is very nicely printed. but I regret that I cannot agree with your conclusions. I think it is a great pity that so much labour and money has been spent upon an impossible task.'
'Khariboli ka Andolan' Ibid; p. 45.

२—देखिये परिशिष्ट (क)।

विरोध होता देख अयोध्या प्रसाद खत्री ने भारतेन्दु के उस कथन का भी निराकरण आवश्यक समझा और ८ अप्रैल १८८८ के हिन्दोस्तान' में उन्होंने एक अगरवाले के मत पर एक खत्री की समालोचना नामक लेख का आरम्भ करते हुए लिखा कि 'ब्रजभाषा कविता के पक्षपाती बाबू हरिश्चन्द्र की दुहाई देते हैं इसलिये बाबू हरिश्चन्द्र के वचन का खंडन होना आवश्यक है। बाबू हरिश्चन्द्र ईश्वर नहीं थे। उनको शब्दशास्त्र (फीलालोजी) का कुछ भी बोध नहीं था। यदि फीलालोजी का ज्ञान होता तो खड़ी बोली में पद्य रचना नहीं हो सकती है ऐसा नहीं कहते।'

खत्रीजी ने अपने पत्र में कहा कि हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली पद्य का इसलिये विरोध किया कि इसकी क्रियाएँ दीर्घ होती हैं तो दीर्घ को ह्रस्व करने की छूट तो वैसे ही कवियों को प्राप्त है। दूसरे वे स्वयं 'रसा' उपनाम से खड़ी बोली में कवितायें करते थे और खड़ी बोली की मौलवी स्टाइल के कवि 'अनीस' को उत्तम कवि मानते थे। उनका सम्पूर्ण गद्य साहित्य खड़ी बोली के मुंशी स्टाइल में है और उनके हिन्दी व्याकरण से भी सिद्ध होता है कि वह ब्रजभाषा का नहीं बल्कि खड़ी बोली का व्याकरण है। उनकी भाषा में भी अरबी फारसी के पर्याप्त प्रयोग मिलते हैं। ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि वे स्वयं मुंशी स्टाइल के लेखक थे फिर भी न जाने क्यों उन्होंने खड़ी बोली पद्य का विरोध किया। रही छंद की बात, सो स्टाइल और पिंगल दो भिन्न भिन्न वस्तु हैं। माइकेल ने अंग्रेजी छंद (ब्लैंक वर्स) का बंगला भाषा में प्रयोग किया। इससे भाषा की कोई क्षति नहीं हुई फिर यह आवश्यक भी नहीं कि खड़ी बोली की हर शैली में संस्कृत के पिंगल का ही व्यवहार किया जाय।

शिवनाथ शर्मा का उल्लेख करते हुए खत्री ने आगे लिखा कि उनका यह कहना गलत है कि अभी भी ब्रजभाषा में उत्तम काव्यरचना हो रही है बल्कि पाठक जी का यह मत ही सत्य है कि हरिश्चन्द्र के साथ ब्रजभाषा पद्य का अन्त समझना चाहिये। जैन मतावलम्बी अभी तक हिन्दुस्तान और एशिया के अन्य देशों में मौजूद हैं इससे क्या। हिन्दूधर्म के इतिहास में जैन धर्म के बाद शंकराचार्य का रिफार्मेशन हिन्दू धर्म का नवीन काल नहीं माना जायगा। उन्होंने पाठक जी के काल विभाजन के सम्बन्ध में भी अपने

उसी पत्र में विचार करते हुए लिखा कि 'मेरी समझ में हिन्दी के कई काल माने जा सकते हैं। परन्तु गवर्नमेन्ट भेद से तीन काल माने जायेंगे और प्रत्येक गवर्नमेन्ट में फिर कई काल माने जा सकते हैं। हिन्दू पीरियड, मोहम्मडन पीरियड और इंग्लिश पीरियड, ये काल राज्य और जाति के कारण हैं। पाठक जी को खड़ी बोली का तीन काल इंग्लिश पीरियड में मानना चाहिये—१—लल्लूलाल की हिन्दी २—राजा शिव प्रसाद की हिन्दी और बाबू हरिश्चन्द्र की हिन्दी और ३—पंडित श्रीधर पाठक की हिन्दी। १ ले काल की हिन्दी जो उर्दू का ब्राह्मण कृत संस्कार है अर्थात् तुलसी सोना मुंह मे लेकर लल्लू जी ने झूठी जबान में प्रेमसागर लिखा है और पद्य ब्रजभाषा का है। २ रे काल की हिन्दी मे फारसी अरबी के शब्द आये हैं और पद्य ब्रजभाषा के ही रहे। ३ रे काल की हिन्दी मे पद्य की भाषा पाठक जी ने खड़ी बोली कर देने की चेष्टा की है और यह आशा है कि हो जायगी। अयोध्या प्रसाद का (मेरा) खड़ी बोली का पद्य इसका कारण है[1]।'

काल विभाजन के विषय को लेकर श्रीधर पाठक और खत्री जी में बहुत समय तक मतभेद चलता रहा। खत्री जी ने इस सम्बन्ध में अनेक पत्र और लेख छपवाकर बांटे और कहा कि पाठक जी का काल विभाजन अपूर्ण है। पाठक जी ने विशेष विवाद होने पर एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा 'हमारे निकट काल निर्णय गौण विषय है[2]।'

भारतेंदु हरिश्चन्द्र का विरोध करते हुए खत्रीजी ने लेख का जो शीर्षक दिया—'एक अगरवाले के मत पर एक खत्री की समालोचना' वह शीर्षक भी कम सार्थक नहीं है। अगरवाले प्रायः सभी ब्रजभाषा के समर्थक थे। कारण यह है कि अधिकांश अगरवाले वल्लभ संप्रदाय (गोपाल मंदिर) के अनुयायी थे। और ब्रजभाषा उनकी धार्मिक एवं साम्प्रदायिक भाषा थी। इस धार्मिकता और साम्प्रदायिकता के कारण भी अगरवालों का ब्रजभाषा के प्रति विशेष पक्षपात था और उस पक्षपात के कारण ये खड़ी बोली की उपयोगिता और

१—'खड़ी बोली का आन्दोलन' पृ० २१-२२।

२—देखिये ना० प्रचारिणी काशी के हस्तलिखित पत्रों का बंडल नं० ३ पत्र संख्या ९७३।

उसके महत्व को नहीं समझते थे। दूसरी ओर खत्री पंजाब के रहने वाले थे और सरकारी नौकरियों में थे जिनका उर्दू से विशेष संबंध था। अस्तु वे ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ी हिन्दी को विशेष महत्व देते थे। ब्रजभाषा और खड़ीबोली के आन्दोलन के पीछे ये धार्मिक और सामाजिक कारण भी हो सकते हैं।

खड़ी बोली हिन्दी के प्रति खत्री जी की सेवायें—

अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ी बोली के प्रचार के लिए अपूर्व त्याग और परिश्रम किया। उनके जीवनी लेखक पुरुषोत्तमप्रसाद शर्मा ने लिखा है कि खड़ी बोली के प्रचार के लिए आपने इतना द्रव्य खर्च किया कि राजा महा-राजा भी कम करते हैं। 'चम्पारन चन्द्रिका' में बाबू साहब ने सूचना दी थी कि जो श्रीरामचन्द्र का यश वर्णन खड़ी बोली पद्य में करेगा उसे प्रति पद्य १०) पुरस्कार दिया जायेगा[१]।

खड़ी बोली की मुंशीस्टाइल (हिन्दुस्तानी) का एक व्याकरण उन्होंने 'हिन्दी व्याकरण' नाम से लिखा और यह सिद्ध करने के लिए कि हिन्दुस्तानी में जो यावनी शब्द हैं वे भी अधिकतर संस्कृत मूल से विकसित हैं और उन्हें विदेशी नहीं समझना चाहिये उन्होंने 'संस्कृत जनित जावनी शब्द संग्रह' नामक एक कोश ग्रन्थ सन् १८७७ में प्रकाशित कराया। खड़ी बोली के लिए उपयुक्त छन्दों का अभाव देखकर सन् १८८७ में उन्होंने उर्दू छंदों का संकेत देने के लिए 'मौलवीस्टाइल की हिंदी का छन्द भेद' प्रकाशित कराया। इन सभी पुस्तकों द्वारा उन्होंने अपने उन्हीं दो मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है कि खड़ी बोली और ब्रजभाषा दो भिन्न भिन्न भाषायें हैं तथा उर्दू और खड़ी बोली में कोई अंतर नहीं है।

खड़ी बोली का प्रचार करने के लिए उन्होंने 'खड़ी बोली' नाम से एक पत्र भी निकालने का प्रयत्न किया था[२]। खड़ी बोली पत्र के सम्बन्ध में

१—पुरुषोत्तम—'अयोध्याप्रसाद खत्री' सरस्वती मार्च १६०५।

२—२६ फरवरी १९०१ के अपने पत्र में खत्री जी ने बाबू श्यामसुन्दर दास को लिखा था 'मेरा इरादा एक नहीं, तीन पत्र निकालने का है (१) खड़ी बोली (२) अदालती हिन्दी (३) तिर्हुता .....।

(नागरीप्रचारिणी सभा, पत्र संग्रह, बंडल नं० ३ पत्र संख्या ९४७)।

विविध पत्र-पत्रिकाओं में जो आन्दोलन हुआ उसका एक चुना हुआ संग्रह भी उन्होंने प्रकाशित कराना चाहा था जिसे 'खड़ी बोली आन्दोलन' नाम से भुवनेश्वर मिश्र ने संपादित करके छपवाया। इन पत्रों के संकलन का सुझाव श्रीधर पाठक ने दिया था[1] और कहा कि सब पत्र एक साथ ही खड़ी बोली पत्रिका के प्रथम अंक में निकलें। पत्रिका तो नहीं प्रकाशित हो सकी परन्तु वे पत्र पुस्तकाकार छपे[2]।

खड़ी बोली (हिन्दुस्तानी) का प्रचार करना ही खत्री ने अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था। इसके विरुद्ध जहाँ कुछ भी किसी ने छापा या भाषण दिया आप तुरन्त अपने आन्दोलन का पूरी फाइल भेजकर शास्त्रार्थ करने को तैयार हो जाते थे। वे हिन्दी भाषा का एक क्रमबद्ध इतिहास भी छपवाना चाहते थे और पर्याप्त मसाला भी इकट्ठा कर चुके थे परन्तु कई कारणों से उसे पूरा न कर सके। खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवि और समर्थक श्रीधर पाठक को, जब वे आवपाशी कमीशन के साथ मुजफ्फरपुर गये थे, खत्री जी ने 'एड्रेस' दिया। इसके अलावा अनेक पत्र, पुस्तक, प्रकीर्णक और मेमो आदि उन्होंने खड़ी बोली और नागरी लिपि के प्रचारार्थ प्रकाशित कराये। अपने सम्पूर्ण जीवन की कमाई उन्होंने अपने इस मिशन के लिए उत्सर्ग कर दिया। फिर भी उन्हें आशानुरूप सफलता नहीं मिली। आन्दोलन में उनके एक प्रमुख सहायक चन्द्रशेखरधर मिश्र ने लिखा है कि उनके अपूर्व त्याग और परिश्रम के बाद भी न तो उनके अधिक समर्थक हुए और न काम लायक अधिक रचनायें ही मिल सकीं। बिहार के बाहर श्रीधर पाठक और

१—(आगरा २८ फरवरी १९०१ को) श्रीधर पाठक ने अपने निजी पत्र में खत्री जी को लिखा' ... ...'यदि आप खड़ी हिन्दी नाम का पत्र निकालें तो पहली संख्या में वह लेख ज्यों के त्यों छपने चाहिये जो सन् १८८८ से १८९० वा ९१ तक 'हिन्दोस्तान' आदि पत्रों में छपे थे।' वही, पत्र संख्या ९४७।

२—भारत मित्र में 'सान्त्वना' शीर्षक से निम्नलिखित विज्ञापन निकला—'*हिन्दोस्तान आदि पत्र में खड़ी बोली पद्य के विषय में सन् १८८७, १८८८* वा ८९ में जो आन्दोलन और विवाद के सब पत्र छपे थे, पुस्तकाकार में सब छप रहे हैं।'

वही पत्र संख्या ९५०।

एकाध ऐसे ही विचारवान व्यक्तियों को छोड़कर अधिकतर उनका विरोध ही हुआ। इस आर्थिक क्षति और अल्प सफलता से हतोत्साहित होकर सन् १८६० तक आते आते उन्होंने एक तरह से अपनी साहित्यिक कार्यवाही स्थगित कर दी[१]। करीब दस वर्ष बाद सन् १९०१ के आसपास उन्होंने पुनः अपनी भाषा विषयक कार्यवाही आरम्भ की। श्यामसुदर दास के 'हिंदी भाषा का संक्षिप्त इतिहास' मे खत्री जी ने अपने सुधार का उल्लेख चाहा, इस पर श्यामसुदर दास ने उन्हें लिखा 'यह जानकर विशेष आनन्द हुआ कि खड़ी बोली अथवा हिन्दी कविता पर आपका ध्यान पुनः गया[२]।' स्पष्ट है कि असफलताओं से निराश होकर खत्री जी ने १८६० के बाद १६०० तक के लिए साहित्यिक कार्यों से सन्यास सा ले लिया था। साहित्यिकों की भाषा सबधी आलोचना और उनसे पत्र व्यवहार आदि उन्होंने १६०१ से पुनः आरम्भ किया परन्तु जनवरी १९०५ मे उनका देहान्त हो गया और कई योजनायें अधूरी ही रह गईं।

खड़ी बोली पद्य के अन्य समर्थक

खड़ी बोली आन्दोलन में अयोध्या प्रसाद खत्री को बिहार के बाहर बहुत थोड़ी सफलता मिली और बहुत कम सहायक मिले। उनके मुख्य सहायक

१—'यह पढ़कर दुख हुआ कि आप को खड़ी हिन्दी के सम्बन्ध में द्रव्य हानि उठानी पड़ी। हानि मैंने भी उठाई है। इसी से सम्बन्ध तोड़ दिया था। हिन्दी के जानने मानने वाले बहुत नहीं हैं यही इसका कारण है।' वही पत्र संख्या ९४७।

उक्त पत्र श्रीधर पाठक ने २८ फरवरी १९०१ में अयोध्या प्रसाद खत्रीको लिखा था। पाठक जी ने १५ फरवरी १९०१ को पन्नी गली आगरा से एक अन्य पत्र में खत्री जी को लिखा था—

'आप को कोई नहीं भूला, पर आप इतने दिनों तक हिन्दी को कैसे भूले रहे? हर्ष है कि हिन्दी के प्रेम ने आप के चित्त में पुनः स्थान पाया।'

वही पत्र सख्या ९४७।

२—वही पत्र सख्या ९४७।

चन्द्रशेखरधर मिश्र, भुवनेश्वर मिश्र, बलराम मिश्र सम्पादक 'चम्पारन चन्द्रिका' केशव राम भट्ट सम्पादक विहारबन्धु सभी विहार के थे। उनके आन्दोलन के फलस्वरूप खड़ी बोली में कविता करने वाले मुजफ्फरपुर निवासी लक्ष्मी प्रसाद, पटना निवासी महेशनारायण और रायसोहन लाल आदि को छोड़कर जिनकी पद्य रचनायें 'खड़ी बोली का पद्य' में संग्रहीत हैं, हरसहाय लाल, चन्द्रशेखरधर मिश्र आदि भी विहार के ही थे। हरसहाय लाल बिहारी ग्रेजुएट और दरभंगा में सेटिलमेन्ट आफिसर थे। आप खड़ी बोली के कवि और खड़ी बोली पद्य के समर्थक थे आपने 'शकुंतला' का खड़ी बोली में 'हिंदी शकुंतला' नाम से अनुवाद किया था। 'अबला पराक्रम' नामक एक नाटक भी आपने खड़ी बोली में लिखा था[१]।

चन्द्रशेखरधर मिश्र ने चतुर्थ साहित्य सम्मेलन भागलपुर में एक निबन्ध 'हिंदी में पद्य साहित्य' शीर्षक से पढ़ा था। उसमें आपने कहा है कि ३० वर्ष पूर्व जब अयोध्या प्रसाद खत्री ने खड़ी बोली पद्य के लिये आन्दोलन किया था तब वे स्वयं, भुवनेश्वर मिश्र दरभंगा और श्रीधर पाठक उनके प्रमुख सहायक थे। मिश्र जी खड़ी बोली के कवि भी थे। 'वर्षा वर्णन' तथा 'वासंती' नामक दो खड़ी बोली के काव्य आप के प्रकाशित भी हुए। इनका जिक्र आपने अपने उक्त लेख में भी किया है[२]। विहारबन्धु के सम्पादक केशवराम

१—हरसहाय लाल ने ९-३-१९०१ को एक पत्र खत्री के नाम लिखा था जिससे उक्त कथन का समर्थन होता है—

"........I shall send you presently copies of my 'Abala Parakram' and 'Hindi Sakuntala'. The first is drama based nominally on the outline story of Bankim Babu's Durgesh Nandini. The second is a literal translation of the Sanskrit Sakuntala, verse for verse and prose for prose........"

वही, पत्र संख्या ९४७।

२—डा० सुधीन्द्र ने अपनी पुस्तक 'हिंदी कविता में युगांतर' में तत्कालीन कवियों के साथ चन्द्रशेखरधर मिश्र का केवल नामोल्लेख किया है वह भी आचार्य शुक्ल जी के आप्त प्रमाण पर। परन्तु नागरी प्रचारिणी सभा के

भट्ट की भाषा नीति पर पहिले लिखा जा चुका है। वे हिन्दुस्तानी के प्रबल समर्थक थे। उनके पत्र की भाषा को लेकर 'सारसुधानिधि' से काफी विवाद चला था। उन्होंने कुछ फुटकल खड़ी बोली की पद्य रचनायें भी कीं। इनमें अधिकतर उर्दू के छंदों का प्रयोग हुआ है। अतुकांत छंद में भी आपने कुछ पद्य लिखे[१]।

बिहार के बाहर रहने वाले कवियों में श्रीधर पाठक को छोड़कर इंशाअल्ला खां, हरिश्चंद्र, इल्ताफ हुसेन, अंबिका दत्त व्यास की रचनायें 'खड़ी बोली का पद्य' में संग्रहीत हैं। इनमें से इंशा और हरिश्चंद्र का खत्री के आन्दोलन से कोई संबंध नहीं है। उन लोगों ने इनसे पूर्व ही अपनी पद्य रचनायें की थीं। इल्ताफ हुसेन दिल्ली निवासी थे। उनके लिए खड़ी बोली में पद्य रचना करना बिल्कुल स्वाभाविक था। अंबिका दत्त व्यास स्वयं भी बहुत स्वतंत्र एवं प्रगतिशील विचारों वाले प्रतिभाशाली

हस्तलिखित पत्र संग्रह में खत्री के नाम लिखा गया उनका एक पत्र ६-३-१९०१ का सुरक्षित है जिससे स्पष्ट होता है कि वे खड़ी बोली पद्य के प्रेमी और खत्री जी के समर्थक थे। पत्र की कुछ पंक्तियां निम्नलिखित हैं—

'.........पत्र खड़ी बोली की पद्योन्नति के अर्थ निकालें बड़ी प्रसन्नता की बात है। मैं अवश्य सहाय्य लेख द्वारा दूंगा।......'

वही पत्र संख्या ६४७।

१—भट्ट जी के दो प्रकार के छंदों के नमूने नीचे दिये जा रहे हैं—

१— 'भेड़ और बकरी शेर और चीते,
तेरे जिलाये हैं सब जीते।
नयन दिये और कुछ न दिखाया,
दांत दिये और कुछ न चखाया।'

केशवराम भट्ट 'हिंदी व्याकरण' प्र० सं० बिहारबन्धु प्रेस पृ० ६२।

२—अतुकांत छन्द—'भूले से जो हम नाम लें तो रुक वे कहें यों-
'इस नाम को कम लो।'
फिर उसमें जो रुक जाइये तो झट से कहना
'बस देख लियी चाहत।'

वही पृ० ६२।

विद्वान थे। उन्होंने खड़ी बोली में एक अपूर्व प्रबंध काव्य 'कंस वध' अतुकांत छंदों में लिखा। इसके अलावा उन्होंने कुछ स्फुट रचनायें भी की जिनका नमूना पहले दिया जा चुका है।

बिहार के बाहर रहने वाले खड़ी बोली के एक अन्य कवि गोविन्द प्रसाद की सूचना मिली है। आप गढ़वाल के ग्रेजुएट थे और जाति के गौड़ ब्राह्मण। आपने 'पारनेल' कवि के हरमिट का खड़ी बोली में पद्यानुवाद किया था। आप खड़ी बोली पद्य के प्रशंसक और कवि थे। आपकी खड़ी बोली की कुछ पद्य रचनायें 'चम्पारन चन्द्रिका' में प्रकाशित हुई थीं।[१] इनके अलावा तत्कालीन किसी उल्लेखनीय कवि का पता नहीं चलता। सारांश यह कि खड़ी बोली आन्दोलन के प्रथम उत्थान में उसके प्रति जो भी उत्साह देखा जाता है वह अधिकतर पश्चिमोत्तर प्रदेश के बाहर केवल बिहार प्रांत में।

बिहार में खड़ी बोली या खड़ी बोली की मुंशी स्टाइल (हिंदुस्तानी) के प्रति उत्साह का सबसे बड़ा कारण यह था कि वह प्रांत ब्रजभाषा के क्षेत्र से काफी दूर है और वहां वालों के लिये ब्रजभाषा की कविता क्रमशः दुर्बोध होती जा रही थी। परंतु खड़ी बोली का प्रचार बिहार में विभिन्न कारणों से दिन दिन बढ़ रहा था। बिहार के कायस्थ और मुसलमान मुसलमानी काल से ही फारसी और उर्दू से अभ्यस्त थे। कम्पनी सरकार के शासन काल में उर्दू हिंदुस्तानी के नाम से बिहार की कचहरियों और पाठशालाओं में प्रचलित हो गई थी। खड़ी बोली आंदोलन के चार पांच वर्ष पूर्व ही (१८८१) बिहार में कायस्थों की नागरी (कैथी) का प्रचार हुआ और उर्दू कैथी लिपि में हिन्दुस्तानी के नाम से सर्वत्र व्यवहृत होने लगी। अतः बिहार के अधिकतर शिक्षितों, साहित्यिकों, पत्रकारों और कर्मचारियों में हिन्दुस्तानी ही शिष्ट भाषा के रूप में प्रचलित थी। अतः बिहार में हिन्दुस्तानी के लिये आग्रह स्वाभाविक था परंतु पश्चिमोत्तर प्रदेश में उसका विरोध हुआ।

पश्चिमोत्तर प्रदेश में खत्री के प्रयत्नों के विरोध का कारण

जिस समय बिहार में कैथी लिपी में उर्दू का हिंदुस्तानी के नाम से

१—देखिये श्रीधर पाठक का पत्र—दिनांक २८—२—१९०१ वही पत्र संख्या ९४७।

प्रचार बढ़ रहा था उस समय पश्चिमोत्तर प्रदेश की स्थिति पूर्णतया भिन्न थी। यहाँ पर नागरी लिपि के लिये ज़ोरदार आन्दोलन चल रहा था। मुसलमानों की ओर से हिंदी भाषा और नागरी लिपि का विरोध हिंदी प्रेमियों को असह्य हो रहा था। जातीयता की भावना उग्र रूप धारण कर रही थी। उर्दू हिन्दी मिश्रित भाषा या हिंदुस्तानी का समर्थन करने के कारण राजा शिव प्रसाद भी अपनी लोकप्रियता खोते जा रहे थे। नवोदित राष्ट्रीयता में जातीयता की प्रवृत्ति प्रबल थी। हिंदू, हिंदी, हिंदुस्तान की माग बढ़ रही थी। मुसलमानी सभ्यता साहित्य और भाषा का विरोध हो रहा था। हरिश्चंद्र का 'उर्दू का स्यापा' निकल चुका था। फतहगढ पंच ने हिंदी के विरुद्ध एक लेख लिखा, बस प्रतापनारायण मिश्र उसके खंडन में जुट गये और अपने पत्र 'ब्राह्मण' में हिंदी के समर्थन मे अनेक लेखों की झड़ी लगा दी। ऐसी स्थिति मे पश्चिमोत्तर प्रदेश उर्दू या उससे रंचमात्र भी संबंध रखने वाली हिंदुस्तानी शैली को कदापि नहीं पसन्द कर सकता था। यहाँ तो *मुसलमानी संसर्ग के कारण बहुत पहले से खड़ी बोली काव्य भाषा के लिए* परित्याज्य मानी जा चुकी थी। फिर खड़ी बोली की मुंशी स्टाइल का *समर्थन किस प्रकार किया जा सकता था। खत्री ने स्वयं लिखा था कि* "मैं उर्दू पद्य को खड़ी बोली का पद्य मानता हूँ। (परंतु) यह लोक विरुद्ध है। बहुत कम विद्वानों से इस विषय में मेरी राय मिलती है।' वस्तुतः राजा शिवप्रसाद को छोड़कर पश्चिमोत्तर प्रदेश का कोई भी मान्य विद्वान खत्री जी की भाषा नीति से सहमत नहीं था। हरिश्चंद्र तथा उनके मंडल के लोगों का सिद्धान्त ही था 'यवन संसरग जात दोष गन हमसे छूटे।' उर्दू और उसका आश्रित साहित्य उसी यवन संसर्ग-जात-दोष के अंतर्गत माना गया था।

खत्री जी के सिद्धान्त और उसके प्रचार मे ही विरोध का कारण उपस्थित *था यदि उन्होंने कहा होता कि ब्रजभाषा समझ में नहीं आती अतः बोलचाल* की खड़ी बोली या उसकी मुशी स्टाइल मे ही पद्य रचना उचित है तो सम्भवतः इतना विरोध न होता। परन्तु ब्रजभाषा को पद्य क्षेत्र से अलग करने की बात ने ब्रजभाषा प्रेमियों को क्षुब्ध कर दिया। उन लोगों ने न केवल सतर्कतापूर्वक ब्रजभाषा पद्य का समर्थन ही शुरू किया बल्कि खड़ी-बोली पद्य का अनावश्यक विरोध भी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वल्लभ

सम्प्रदाय से सम्बद्ध राधा-कृष्ण के रसिक प्रेमी और सामतवादी पीढ़ी से सम्बद्ध कवि थे अतः ब्रजभाषा के प्रति उनका झुकाव स्वाभाविक था। फिर भी उन्होंने खड़ी बोली को पद्य में स्थान देने के लिये यथासम्भव प्रयत्न प्रारम्भ किया था और जातीय सगीतों, नाटकों और अन्य स्फुट रचनाओं में खड़ी बोली पद्य का प्रयोग भी किया था। इतना सब होते हुए भी खत्री जी ने 'खड़ी बोली पद्य' की भूमिका में उसका स्पष्ट विरोध घोषित कर दिया और उनके मत की आलोचना भी अग्रवाले और खत्री के आधार पर की। यह बात हिन्दी के तत्कालीन साहित्यिकों को बहुत खली। भारतेन्दु पश्चिमोत्तर प्रदेश के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण हिन्दी भाषा क्षेत्र के अत्यन्त लोकप्रिय कवि और साहित्यिक थे। खड़ीबोली पद्य के प्रकाशन से कुछ ही वर्ष पूर्व उनकी असामयिक मृत्यु हुई था और उस समय उनके प्रति करुणामिश्रित श्रद्धा का भाव प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के हृदय में छाया हुआ था। प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी तो उनके व्यक्तित्व से अतिशय प्रभावित तथा घनिष्ट मित्रों में थे। उन लोगों को हरिश्चन्द्र और ब्रजभाषा का विरोध किस प्रकार सह्य हो सकता था? अग्रवाले और खत्री का जो विवाद हरिश्चन्द्र युग में चला था उसकी कटुता को उनके मरने के बाद पुन: प्रकट करना अवाछित था। यही कारण है कि खत्री ने जब ब्रजभाषा और हरिश्चन्द्र का विरोध किया तो उनके भक्त प्रतापनारायण मिश्र और ब्रजभूमि के प्रमुख साहित्यकार तथा वैष्णव सम्प्रदाय के महन्त गोस्वामी राधाचरण ने डट कर खड़ीबोली का विरोध किया। फिर प्राचीनता का मोह तो होता ही है। एकाएक किसी चिर परिचित वस्तु को छोड़ कर पूर्णतया नयी चीज को ग्रहण करने की मनोवैज्ञानिक हिचक यहा भी दिखाई देती है। पश्चिमोत्तर प्रदेश तो वैसे भी बहुत सोच समझकर ही नवीनता का स्वागत करता है।

इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायण मिश्र जैसे लोग रूढिवादी थे। इन लोगों ने हर प्रकार की प्रगति और आवश्यक नवीनता का जी खोल कर स्वागत किया, रूढियों का विरोध किया और स्वयम् खड़ीबोली में कवितायें भी कीं। प्रतापनारायण ने मौलवी स्टाइल मे 'ब्रहमन' नाम से तमाम रचनायें कीं। उनका 'संगीत शाकुतल' खड़ी बोली का गीतिरूपक है। राधाचरण गोस्वामी ने अपने

प्रहसनों द्वारा पंडों और महंतों के कुकृत्यों और अन्य सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग किया तथा अपने नाटकों और अनूदित उपन्यासों द्वारा नवीनता का हिन्दी साहित्य में संचार किया। साथ ही व्रजभाषा मिश्रित खड़ीबोली में स्फुट पद्य भी लिखा। भारत सगीत से उनकी खड़ीबोली कविता का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

> भरत भरत की साख सभी जन भरत खंड के वासी हैं।
> कीने यज्ञ अनेक अलौकिक दई दक्षिणा खासी हैं।
> पालो प्रजा पुत्र पुत्री सब प्रघटी गुन गण रासी हैं।
> राधाचरण नाम जिन कैसे विदित खड अधनासी हैं[१]।'

हरिश्चन्द्र मडल के अन्य कवियों में चौधरी प्रेमघन और राधाकृष्ण दास आदि ने भी थोड़ी बहुत खड़ीबोली मे कवितायें की। खड़ीबोली गद्य की दिनदूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही थी, यह किसी प्रकार संभव नहीं था कि पद्य की भाषा पर गद्य भाषा का प्रभाव न पड़ता। जहा किसी भी नवीन भाव को पद्यबद्ध करने का अवसर आता था वहां अधिकतर खड़ी बोली का ही प्रयोग किया जाने लगा था। फिर भी हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों द्वारा साहित्य के एक अंग-गद्य मे ही खड़ी बोली की स्थापना हो सकी थी। पद्य में उसका विरल प्रयोग हुआ बल्कि विवाद काल मे उसका काफी विरोध किया गया। उस समय पश्चिमोत्तर प्रदेश में खड़ी बोली पद्य के एक मात्र समर्थक श्रीधर पाठ दिखाई पड़ते हैं।

खड़ीबोली पद्य के लिए श्रीधर पाठक की सेवायें

जिस समय बिहार के बाहर खड़ी बोली के बहुत थोडे से समर्थक थे उस समय श्रीधर पाठक की सबल लेखनी ने खड़ी बोली पद्य को सबसे बड़ा संबल दिया। उन्होंने न केवल सिद्धात रूप से खड़ी बोली पद्य का समर्थन किया बल्कि खड़ी बोली की मनोहर रचनाओं द्वारा विरोधियों को निरुत्तर कर दिया। खड़ी बोली आन्दोलन को 'एकातवासी योगी' से बड़ा बल मिला[२]।

१—हरिश्चन्द्र चन्द्रिका अधिक शुक्ल सं० १९३६ कला ६ किरण १०।

२—'अयोध्याप्रसाद खत्री ने जो 'खड़ी बोली का आन्दोलन' का झंडा

इसके बाद ही उन्होंने 'जगतसचाई सार' नाम की एक अन्य मौलिक पद्य रचना बड़ी प्रवाहपूर्ण एव सरस खड़ी बोली मे प्रस्तुत की। इसके सम्बन्ध म मिश्रबन्धुओं ने लिखा था कि 'खड़ी बोली मे तो ऐसे विलक्षण वर्णन अबतक बने ही न होंगे, पर ब्रजभाषा मे भी इसके जोड़ बहुत न मिलेंगे'[१]।

खड़ी बोली पद्य के प्रति श्रीधर पाठक का प्रेम अयोध्या प्रसाद खत्री क आन्दोलन का फल नहीं था और न वे खत्री क भाषा सम्बन्धी सिद्धात से ही सहमत थे। उन्होंने खत्री की प्रिय भाषा शैली-हिंदुस्तानी मे एक भी पद्य नही रचा और न वे खत्री के काल विभाजन सम्बन्धी सिद्धात से ही सहमत हुए। खत्री जी की तरह वे ब्रजभाषा क भी विरोधी नहीं थे बल्कि स्वय ब्रजभाषा के उच्चकोटि के सिद्ध कवि थे। आन्दोलन के बाद करीब दस बारह वर्ष तक उन्होंने खड़ी बोली मे कोई विशिष्ट पद्य रचना नहीं की जबकि इस बीच उन्होंने ब्रजभाषा मे कई उच्चकोटि की कवितायें कीं। उनकी खड़ी बोली की कविताओं मे ब्रजभाषा के उपयुक्त शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का यह कथन—'यह कविता इतनी मधुर इसी से हुई कि इसमे ब्रजभाषा की पुट है' बहुत अशों में सत्य है। कहीं कहीं खड़ी बोली के बीच ब्रजभाषा के प्रयोग इस प्रकार जड़ दिये गये हैं कि उनके रूपों का अलग अलग निर्णय भी कठिन है। 'कहा जलै है वह आगी' वाला पर्यालोचक और विचारक का प्रसिद्ध विवाद इसका ज्वलन्त उदाहरण ह जिसका विवरण आगे यथा स्थान दिया गया है। ब्रजभाषा के प्रति उनका अत्यधिक झुकाव कभी कभी खड़ी बोली की कविताओं में खटक जाता है। जैसे—'झूठ मूठ बहकाय करेगा तेरा निश्चय नाश' आदि।

पाठक जी इस तरह के प्रयोग समन्वयात्मक भावना से प्रेरित होकर खड़ी बोली में सरसता लाने के लिए किया करते थे। वस्तुत पाठक जी हिन्दी भाषा के प्रेमी

उठाया था उसमें 'एकांतवासी योगी का वहीं स्थान था जो आज राष्ट्रीय झडे में चक्र का है।'

डा० सुधीन्द्र 'हिंदी कविता में युगातर' प्रथम सस्करण पृ० ७९।

१—'मिश्रबन्धु' श्रीधर पाठक की कविता (सरस्वती १९०० भाग १ पृ० ३५६-३५६)।

ये उसके किसी रूप विशेष या शैली-विशेष (स्टाइल) के पक्षपाती नहीं थे[१]। पाठक जी अंग्रेजी साहित्य के विद्वान और सुरुचि सम्पन्न साहित्यिक थे। अंग्रेजी के स्वतंत्र विचारों वाले कवि गोल्डस्मिथ से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने उसकी तरह लोकनिंदा की चिंता छोड़कर साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में रूढ़ियों का विरोध किया। प्रकृति को रीतिकालीन चित्रण शैली से मुक्त किया। काव्य में शृंगार की बँधी परिपाटी के विरुद्ध शुद्ध प्रेम का स्वरूप सामने रखा। नये छंद और नयी अभिव्यंजना शैली में लोक प्रवृत्ति का परिचय दिया। ऐसे प्रतिभाशाली भविष्य द्रष्टा कवि के लिए यह नितान्त स्वाभाविक था कि वह काव्य में खड़ी बोली का उचित स्थान स्वीकार करता। भले परम्परावादी उसका विरोध करें। ऐसा सदैव से होता रहा है। हिंदी भाषा के पूर्व अपभ्रंश कालमें ऐसी ही भाषालीला देवसेन के समय में हुई थी।

श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री और उनके अन्य समर्थकों ने आन्दोलन में खड़ी बोली का समर्थन किया। दूसरी ओर राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायण मिश्र ने उसका विरोध किया। इन दोनों विरोधी मतों के बीच समन्वय का कार्य, जिसे श्रीधर पाठक ने अप्रत्यक्ष रूप से आरम्भ कर दिया था राधाकृष्ण दास ने स्पष्ट रूप से किया।

राधाकृष्णदास का समन्वयवादी सिद्धांत

श्रीधर पाठक के उदार भाषा सिद्धांत का अधिक समन्वयात्मक दृष्टिकोण से राधाकृष्ण दास ने प्रतिपादन किया। वे खड़ी बोली और व्रजभाषा का विवाद हिन्दी के लिए हितकर नहीं समझते थे। वे दोनों में समझौता चाहते थे और मध्यममार्ग के अनुयायी थे। उनकी दृष्टि में 'दोनों दल वाले कुछ न कुछ भ्रम में' थे। वे भिखारीदास के भाषा सम्बन्धी निम्नलिखित निर्णय को अधिक उपयुक्त और व्यावहारिक मानते थे—

१—उन्होंने पूरबी भाषा में 'देहरादून' की रचना की। उसकी भूमिका में उनके सुपुत्र श्री गिरिधर पाठक ने ठीक ही लिखा है—

'पिता जी हिंदी भाषा के प्रेमी थे परन्तु उसके किसी रूप विशेष के पक्षपाती नहीं थे, सब रूपों पर उन्हें समान स्नेह और एकसी ममता' .... (थी)।'

"तुलसी गंग दोउ भये सुकविन के सरदार।
इनकी काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार।"

उन्होंने खुसरो, चन्द, कबीर, सूर, तुलसी से लेकर बिहारी और पद्माकर तक की भाषा के नमूने प्रस्तुत करके अपने उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। तत्कालीन कवियों में श्रीधर पाठक और महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि की काव्यभाषा में भी दोनों रूपों के मिश्र प्रयोगों को उन्होंने इसी बात का प्रमाण माना। उनका कथन था कि ब्रजभाषा सैकड़ा वर्षों के प्रयोग से द्वारा कविता के लिये मँज चुकी है। इसलिये आवश्यकतानुसार इसके शब्दों का प्रयोग होना चाहिये। जो कवि केवल ब्रजभाषा में कविता करना चाहें उनको छेड़ना भी उचित नहीं है। साथ ही यह भी सिद्ध हो चुका है कि खड़ी बोली में भी उत्तम पद्य रचना हो सकती है अतः जो लोग चाहें उन्हें खड़ीबोली में भी कविता करने दिया जाय। कवियों को उनकी इच्छा से रोकना तथा छेड़छाड़ करना उचित नहीं। भारतेन्दु के निम्नांकित मत के साथ उन्होंने अपनी पूर्ण सहमति प्रकट की है।

"जामें रस कछु होत है पढ़त ताहि सब लोग,
बात अनूठी चाहिये भाषा कोऊ होय।"

राधाकृष्णदास ने स्वयं इस सिद्धान्त का पालन भी किया। उन्होंने केवल ब्रजभाषा में ही पद्य नहीं लिखा बल्कि खड़ी बोली में भी कई कवितायें कीं। सुविधानुसार खड़ी बोली में भी ब्रजभाषा का प्रयोग वे किया करते थे। यथा—

"फूले कास आस वर्षा की टूटी, पछवा बाय बही।
स्वच्छ हुआ आकाश खिलकती धूप चार दिस छाय रही।
पहली वर्षा पाय खेत में पौधे जो थे हरखाये।
हाय धूप की तेजी से सो जाते हैं अब मुरझाये[1]।"

व्यावहारिक रूप में राधाकृष्णदास के इस सिद्धान्त की ही मान्यता अधिक थी। तत्कालीन अधिकांश खड़ी बोली की कविताओं में ब्रजभाषा का पुट मिलता है। ब्रजभाषा का पुराना अभ्यास और खड़ी बोली में लालित्य लाने का प्रयास इस प्रवृत्ति का कारण है। महावीर प्रसाद द्विवेदी और नाथूराम शंकर तक की आरम्भिक कविताओं में भाषा की यह खिचड़ी स्थिति दिखाई

१—राधाकृष्णदास ग्रन्थावली—पहला खंड।

देती है। क्रमशः यह स्थिति बिगड़ती ही गई और भाषा के सामान्य रूप को भी बाधा पहुँचने लगी। अन्त में १९०५ के बाद भाषा परिष्कार का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिसके लिए महावीर प्रसाद द्विवेदी और कामताप्रसाद गुरु की स्मरणीय सेवाओं का मूल्यांकन यथा-स्थान किया गया है। श्रीधर पाठक को छोड़कर उस काल में खड़ी बोली का कोई समर्थ कवि नहीं दिखाई देता। एक भी कवि ऐसा नहीं जिसने केवल खड़ी बोली में ही रचना की हो। परन्तु दूसरी ओर ऐसे कई प्रसिद्ध कवि हुए जिन्होंने खड़ी बोली में एक भी पद्य नहीं बनाया और ब्रजभाषा के उत्तम कवि हुए। ऐसे कवियों में जगन्नाथदास रत्नाकर, रामकृष्ण वर्मा, लाला सीताराम और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' उल्लेखनीय हैं। ये लोग समय के प्रवाह में न बहकर अपने गौरवशाली अतीत की ओर दृष्टि लगाये रहे और ब्रजभाषा में पौराणिक विषयों की अवतारणा करते रहे। रत्नाकर जी ने ब्रजभाषा की उत्कृष्ट काव्यकला को पुनर्जीवन प्रदान किया। ये खत्री के नवीन भाषा आन्दोलन तथा अंबिकादत्त व्यास के नवीन छन्द विधान को हास्यास्पद समझते थे। उन्होंने पोप के आलोचना ग्रन्थ का समालोचनादर्श नाम से ब्रजभाषा पद्य में अनुवाद किया और लिखा—

"ब्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखैं फीके,
माँगहि विधना सौं ते श्रवन मानुषी नीके।
हम इन लोगनि हित सारदमों चहत विनय करि।
काहू विधि इनके हियकी दुर्मति दीजै दरि"[1]।

रायदेवीप्रसाद की ब्रजभाषा में पूर्ण आस्था विदित ही है। वे बड़े भक्त और ब्रजभाषा के रसिक कवि थे। जिस प्रकार 'पूर्ण' जी कृष्ण भक्त थे उसी प्रकार लाला सीताराम 'भूप' अवधेश के भक्त और अवधी के समर्थक थे। ये पहले उर्दू के समाचार पत्र 'अवध अखबार' के संपादक थे। परन्तु भारतेन्दु के संसर्ग से हिन्दी की ओर झुके। रामकृष्ण वर्मा ब्रजभाषा साहित्य के प्रमुख प्रकाशक थे। ब्रजभाषा की बहुत सी सरस समस्यापूर्तियाँ उनके प्रेस से प्रकाशित हुई। इन समर्थ साहित्यिकों ने काव्य क्षेत्र में खड़ी बोली का बहिष्कार किया और अपनी सृजनात्मक शक्ति से ब्रजभाषा काव्य का भंडार

१—जगन्नाथ दास रत्नाकर—समालोचनादर्श १८९८ ई०, पृ० ५१-५२।

भरा। इनकी रचनाओं को देखते हुए उस काल के साहित्य में ब्रजभाषा पद्य की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। अकेला श्रीधर पाठक का 'निराला व्यक्तित्व ही एक ऐसा सुदृढ़ पोत था जिसपर खड़ी बोली का पद्य आन्दोलन की तूफानों को झेलता रहा। सन् १८९० से लेकर १९०३ तक हिन्दी में बड़ी अव्यवस्था रही। सबकी अलग अलग डफली और अलग अलग राग था। कोई हिन्दी में संस्कृत का पुट आवश्यक समझता था तो कोई ब्रजभाषा का। छोटी-छोटी बातों पर विवाद उठ खड़े होते थे, उदाहरणार्थ विभक्तियों वाले विवाद में ही तत्कालीन सभी विद्वान् और सम्पादक उलझ गये थे। कुछ लोग इन्हें शब्दों के साथ मिलाकर लिखना उचित समझते थे और कुछ लोग अलग। नागरी लिपि के लिए अलग ही आन्दोलन चल रहा था। किसी समर्थ नेता के अभाव में हिन्दी साहित्यिकों को निश्चित मार्ग की उपलब्धि सम्भव नहीं हो रही थी। भाषा का कोई स्थिर रूप नहीं था। खड़ी बोली के प्रमुख समर्थक श्रीधर पाठक और महावीर प्रसाद द्विवेदी तक की पद्य रचनाओं में ब्रजभाषा के बहुत अधिक प्रयोग मिले रहते थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'नागरी तेरी यह दुर्दशा' से कुछ पंक्तियाँ उस कथन को प्रमाणित करती हैं :

> "कल्याणि नागरी इती विनती सुनीजै,
> माता, दयावति, दया न कमी करीजै।
> हूजै अधीर जनि, यद्यपि होति देरी,
> सेवा अवश्य करिहैं, अब सर्व तेरी[1]।"

इनके अलावा 'हरिऔध', 'शंकर' आदि सभी बाद के खड़ी बोली के प्रमुख कवि उस समय खिचड़ी भाषा में पद्य रचनायें कर रहे थे। ऐसी अनिश्चित स्थिति में खड़ी बोली आन्दोलन के प्रथम उत्थान काल में किसी निश्चित मार्ग को नहीं अपनाया जा सका।

१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका १८९९।

पंचम अध्याय

खड़ी बोली का आन्दोलन (द्वितीय उत्थान)

खड़ी बोली आन्दोलन के प्रथम और द्वितीय उत्थान मे अन्तर

आन्दोलन के दोनों उत्थानों मे मौलिक अन्तर था। प्रथम उत्थान बिहार से आरम्भ हुआ था और शुद्ध रूप से भाषा का आन्दोलन था। बिहार की जनता ब्रज भाषा नहीं समझती थी। अतः वह खड़ी बोली के पक्ष मे थी। साथ ही बिहार में फारसी उर्दू के जोर और कैथी के प्रचार के कारण खड़ी बोली की मुंशी स्टाइल के लिये वहा मॉग बढी। परंतु खड़ी बोली आन्दोलन का द्वितीत उत्थान पश्चिमोत्तर प्रदेश से आरम्भ हुआ था। यहा का प्रत्येक साहित्यिक ब्रजभाषा मे पूर्णतया परिचित था। खड़ी बोली पत्र के अधिकाश समर्थक ठेठ ब्रजभाषा क्षेत्र के निवासी थे। बद्रीनाथ भट्ट आगरे के और नाथूराम 'शकर' अलीगढ के निवासी थे। ये दोनों ही स्थान ब्रज भाषा के गढ माने जाते हैं। इसके अलावा खड़ी बोली पत्र के अधिकाश समर्थक स्वयं ब्रज भाषा के उत्तम कवि थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी सन् १६०० के पूर्व ब्रज भाषा में कुछ कवितायें लिखी। खड़ी बोली के प्रमुख कवि, मैथिली शरण गुप्त ने भी सर्व प्रथम ब्रज भाषा म ही कविता लिखकर सरस्वती मे प्रकाशनार्थ भेजा था। द्विवेदी जी द्वारा उसके अस्वीकृत होने पर गुप्त जी ने उनको एक पत्र[1] मे लिखा था कि

१–कार्तिक शुक्ल ३ संवत् १९६१–'श्रीमान् पंडित जी महाराज। चरणारविन्दों में बहुशः प्रणाम। भवदीय करुण मत् पत्र प्रसादार्थं कुशल तत्राध्यस्तु, अग्रेवृत्तामिदं ज्ञेयम्। कृपासिंधु। कर कमलांकित शिक्षापत्र २८–१०–१९०४ का प्राप्त हुआ। पत्र देने में कई कारणों से विलम्ब हुआ, क्षमा कीजियेगा। भगवन्! इतना खेद मुझे अपनी कविता सरस्वती में न

'मुझे खड़ी बोली से कुछ अरुचि सी है।' परंतु वे ही खड़ी बोली पद्य के कट्टर समर्थक और ब्रज भाषा काव्य के ऐसे विरोधी हो गये कि पंचम साहित्य सम्मेलन में उन्होंने ब्रज भाषा में कविता करने का आग्रह करने वालों को राष्ट्र भाषा का जानी दुश्मन घोषित कर दिया।

विभिन्न आंदोलनों के फलस्वरुप जनता के हृदय में नवीन भाव जाग्रत हो चुके थे। मानवता के प्रति प्रेम, राष्ट्रीयता, समाज सेवा और सदाचार की लहर उठ रही थी परन्तु ब्रज भाषा काव्य इस नवोदित चेतना से दूर किसी कल्पित ब्रज की कुंजगलियों में रास-विलास के स्वप्न देख रहा था। उस में युग सूचकता का अभाव था। जो साहित्य युग के साथ नहीं चल पाता उसे जाग्रत समाज बहिष्कृत कर देता है। यही दशा ब्रजभाषा और उसके साहित्य की थी। सन् १९०० तक आते आते सभी हिन्दी भाषी विचारवान पुरुष यह अनुभव करने लगे थे कि ब्रजभाषा साहित्य में युग की क्रांतिकारी चेतना अभिव्यक्त नहीं हो रही है। वह स्वयं सुषुप्त है। समाज को वह कैसे जगा सकेगा। उसका परित्याग करना ही होगा। बालकृष्ण भट्ट ने १९०० ई० के 'हिंदी प्रदीप' में सरस्वती के प्रथम अंक की आलोचना करते हुए

प्रकाशित होने का नहीं हुआ, 'जितना कि सरस्वती के पाठकों को ब्रज भाषा पर तुच्छता का।' जो हो अपनी २ रुचि होती है, मुण्डे मुण्डे रुचिर्भिन्ना इसी प्रकार शेख सादी साहब को भी इस ब्रजभाषा पर एक बार तुच्छता प्रगट हुई थी। परन्तु इन व्यर्थ के पचड़ों से क्या लाभ। *महात्मन्! निस्सदेह* श्री मान् के चरणाम्बुजों में मेरी हार्दिक भक्ति है। सरस्वती से पूर्ण प्रेम है और खड़ी बोली में यथाशक्य कविता भी रच सकता हूँ। परंतु क्या किया जाय? खेद का विषय है कि इस दास को स्वभाव से ही खड़ी बोली से कुछ अरुचि सी है। अरुचि है सही किन्तु 'यद्यदा चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः सयत् प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते' इस न्याय से जब श्रीमान् जैसे विद्वद्वर पुरुषों को ही खड़ी बोली रुचिकर है तब मुझ जैसे अशिक्षित, अल्पज्ञ, अविवेकी, अनभिज्ञ एवं अबोध बालक की गणना ही क्या? अस्तु, अवकाश पाने पर खड़ी बोली में कविता रचकर श्रीमान् की सेवा में अर्पण करूँगा।...

हस्त लिखित पत्र, प्रतिलिपि का प्राप्ति स्थान—श्री डा० श्री कृष्ण लाल, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

लिखा था कि यह 'असत् नष्ट नायक-नायिका वाला ब्रजभाषा काव्य छोड़ देना चाहिये।' बालकृष्ण भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त, और अन्य कवियों में यह परिवर्तन अकारण ही नहीं हो रहा था। इसका मूल कारण युग की माग थी।

हरिश्चन्द्र ने भाव क्रांति का और अयोध्याप्रसाद खत्री ने भाषा क्रांति का जो सूत्रपात किया उसका चरम् उत्कर्ष आचार्य द्विवेदी के नेतृत्व में खड़ी बोली की उत्कृष्ट काव्य रचना के रूप में दिखाई पड़ा। इसे ही खड़ी बोली आन्दोलन का द्वितीय उत्थान कहा गया है। यह उत्थान केवल भाषा ही नहीं बल्कि साहित्य के सम्पूर्ण अंगों में युगानुरूप परिवर्तन की प्रेरणा से आन्दोलित हुआ था। भाषा के साथ ही भाव, विषय, छन्द, शैली सब को एक साथ लेकर यह आन्दोलन आरम्भ हुआ था। साहित्यिक क्षेत्र में यह आन्दोलन भारतीय समाज में चल रहे विराट् आन्दोलन का प्रतिनिधित्व कर रहा था। इसके किसी एक अंग को पूर्णतया अलग रखकर इसका अध्ययन करने में इसके साथ पूर्ण न्याय नहीं हो सकेगा। फिर भी यथा सम्भव इस अध्याय में भाषा विषयक आन्दोलन पर ही अधिक विचार किया गया है।

राष्ट्रीयता के युग में सामान्य जनता की आवाज और उसकी प्रेरणाओं को बहुत समय तक उपेक्षित नहीं रखा जा सकता। जनसाधारण की भाषा के रूप में खड़ी बोली का प्रचार दिन दिन बढ़ता जा रहा था। शिक्षा, बोलचाल और कामकाज की भाषा खड़ी बोली होती जा रही थी। अतः कवि को भी जनता को इसी भाषा में जनता की रुचि के अनुकूल ही साहित्य सृजन करना पड़ा। कविता के रसिक अब केवल सामन्त नहीं रह गये थे जिनकी विलासी मनोवृत्ति को संतुष्ट करने के लिये दरबारी भाषा में शृंगारी कविता की जाती। क्रमशः साहित्य साधारण जनता के समीप आता गया और सामान्य वर्ग के लोग कवि तथा साहित्यकार होने लगे। साहित्य में सामान्य जनता, उसकी भाषा और भावना को स्थान मिला।

खड़ी बोली पद्य के लिये युग की मांग

खड़ी बोली में पद्य-रचना युग की माँग थी। खत्री जी के आन्दोलन ने उस माँग को तीव्र किया। पश्चिमोत्तर प्रदेश के सभी विचारवान् साहित्यिक

खड़ी बोली की आवश्यकता का धीरे धीरे अनुभव करने लगे। सन् १८९७ ई० में नागरीप्रचारिणी पत्रिका के प्रथम भाग की प्रस्तावना में इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा गया कि 'हिन्दी भाषा में एक और कठिनाई आ पड़ी जिसने बहुत कुछ रुकावट इसकी उन्नति में की, अर्थात् इस देश की प्रचलित भाषा और कविता में ऐसा भेद है कि जिसके लिये दो सृष्टि करने की आवश्यकता हुई। कविता व्रज और बैसवाड़ी आदि भाषाओं में होती है और बोल-चाल की भाषा अथवा गद्य का भाषा खड़ी बोली है।'

सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' का प्रकाशन हिंदी साहित्य में एक स्मरणीय घटना है। यहीं से हिन्दी भाषा और साहित्य ने एक नवीन मोड़ लिया। उसी वर्ष की सरस्वती में 'हिन्दी काव्य' की आलोचना करते हुए मिश्रबन्धु ने लिखा कि 'व्रजभाषा ललित अवश्य है पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि उसके अतिरिक्त खड़ी या अन्य बोली में उतना लालित्य आ ही नहीं सकता। हमारा तो मत है कि जैसी भाषा पठित समाज में बोली जाती है उसी का व्यवहार काव्य में भी होना चाहिये और ऐसी भाषा विशेष रूप से खड़ी बोली ही कही जा सकती है। अतः किसी भाषा को अपेक्षा खड़ी बोली में कविता करना हम विशेष अच्छा समझते हैं।' सन् १९०१ में सरस्वती के सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास ने प्रथम संख्या की 'भूमिका' में भी इसी अभाव की ओर इंगित करते हुए लिखा कि 'अभी तक हिन्दी पद्य की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम हुआ है। हिन्दी पद्य से हमारा आशय उस पद्य से है जो आज कल की हिन्दी में लिखा हो और न कि प्राचीन व्रजभाषा में। व्रजभाषा की कविता चाहे मधुर हो पर यह बात हिन्दी भाषा के लिए बड़ी निन्दा की है और उसके एक बड़े भारी अभाव को दिखाती है कि गद्य तो एक प्रकार का भाषा में जो उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न हो उत्पन्न हुई, लिखा जाय और पद्य पुरानी भाषा में।' सारांश यह कि गद्य और पद्य की दो भाषाओं के कारण हिन्दी की उन्नति में जो बड़ी बाधा पड़ रही थी उधर हिंदी के सभी प्रेमियों का ध्यान जाने लगा था।

पाठशालाओं में हिंदी शिक्षा की दृष्टि से भी पद्य का व्रजभाषा में पड़ा रहना बहुत खटकने लगा था। विद्यार्थी बातचीत और लिखा पढ़ी तो गद्य की भाषा (खड़ी बोली) में करते थे। परन्तु पद्य के लिये उन्हें व्रजभाषा का अभ्यास करना पड़ता था। एक तो व्रजभाषा से अधिकतर विद्यार्थियों का परिचय नहीं रहता था। दूसरे भाषा सम्बन्धी नियमों की शिथिलता के कारण

उसका समझना सीखना और कठिन था। अतः विद्यार्थियों को हिंदी के लिये दोहरा श्रम करना पड़ता था। यह स्थिति हिंदी की उन्नति के लिये अनुकूल नहीं थी। हिंदी की उन्नति न होने के तीन कारणों मे एक यह मुख्य कारण था। सन् १६०१ की 'सरस्वती' में संपादक ने लिखा था कि 'हिंदी के अवरोध का दूसरा एक कारण यह है कि इसकी दो प्रकार की भाषायें हैं एक गद्य की दूसरी पद्य की। पद्य की भाषा स्वतन्त्र है। उसका व्याकरण भिन्न है और यह एक प्रादेशिक भाषा है। यदि गद्य और पद्य की भाषा एक नहीं हुई तो हमारी भाषा सदा अपाहिज बनी रहेगी'[1]।

संयुक्त प्रदेश का शिक्षा विभाग जब हिंदी पुस्तकों की भाषा पर विचार कर रहा था उस समय बाबू श्यामसुदर दास ने लिखा कि 'हमारी सम्मति मे छोटे छोटे बालकों को इस कविता (व्रज भाषा) के पढाने की कोई आवश्यकता नहीं है।······ हम हिंदी के प्रसिद्ध कवियों से प्रार्थना करते हैं कि वे बालकों के लिये खड़ी बोली मे पद्य रचकर इस अभाव का कुछ अंश में पूर्ति कर दें। पंडित श्रीधर पाठक खड़ी बोली के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं इसलिए उन्हीं की कविता से सत्रह प्रकार के छन्दों का उद्धृत करके हम आशा करते हैं कि हिन्दी के कवि गण व्रजभाषा के छंदों ही म खड़ी बोली की रोचक कविता बनाने का उद्योग छोड़ द। उन्हें बिना किसी सकोच के अन्य भाषाओं के छंदों का प्रयोग करना चाहिये'[2]।

इस प्रकार साहित्य, शिक्षा आदि क्षेत्रों म खड़ी बोली पद्य की माग बढने लगी। इसका कारण यह था कि गद्य की भाषा में ही पद्य की भी रचना सर्वत्र होती है। इसलिये हिंदी पद्य को भी खड़ी बोली में होना ही चाहिये था।

खड़ी बोली पद्य के लिये केवल मौखिक प्रयत्न ही नहीं हो रहा था बल्कि पद्य रचनायें भी होने लगीं। सन् १६०० की सरस्वती में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी की 'मलयानिल', 'प्रेमोपहार', और 'प्रेमप्रतिमा' नामक कविताओं ने खड़ी बोली की भावी सामर्थ्य का आभास दिया। उदाहरण स्वरूप 'मलयानिल' से चार पक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

---

१ – 'सरस्वती' १९०१ भाग २ सख्या ६।

२—'सरस्वती' १९०२ (विविध वार्ता)।

'मधुर मनोहर हास्यराशि को लूट किधर से लाये हो ?
जो आये तो बैठो प्यारे, कहो किधर से आये हो ?
कुशल कहो, किन किन फूलों से इस सुगन्धि को पाया है ?
तरंगिणी के प्राणों को जिससे उल्लसित कराया है ।'

बालोपयोगी पद्य का नमूना महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'बालक-विनोद' और 'कोकिल' जैसी कविताओं में मिलता है। इनकी भाषा अत्यन्त सरल खड़ी बोली है। यथा—

'कोकिल अति सुन्दर चिड़िया है, सच कहते हैं अति बढ़िया है।
जिस रंगत के कुंवर कन्हाइ, इसने भी वह रंगत पाई[१]।'

इस प्रकार युग की माग तो खड़ी बोली पद्य में पक्ष के थी ही, उसका विरोध करने वाले ब्रजभाषा प्रेमी भी कम हो गये थे। हिन्दी के दुर्भाग्य से भारतेन्दु मडल के अधिकाश साहित्यिक अल्पायु में ही परलोक चले गये। आन्दोलन के प्रथम उत्थान में खड़ी बोली पद्य का विरोध करने वाले पंडित प्रतापनारायण मिश्र का असमय में तब देहान्त हुआ जब वे स्वय खड़ी बोली में पद्य रचना आरंभ कर चुके थे। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' अयोध्या राज्य की सेवा में जाने के बाद हिन्दी के सक्रिय आन्दोलनों से विरत हो गये। राधाचरण गोस्वामी पहले से ही समझौता चाहते थे और वादविवाद में हिन्दी की हानि समझते थे। अतः द्वितीय उत्थान में ब्रजभाषा की ओर से विवाद का झडा नहीं उठाया गया। खड़ी बोली पद्य को चुपचाप समृद्ध होने का अवसर मिला। सयोग से इसी समय उसे महावीरप्रसाद द्विवेदी एसा कर्मठ सेनानी भी मिल गया। आचार्य द्विवेदी ने मौखिक विवाद से अधिक रचनात्मक कार्य किया और खड़ी बोली को सफलतापूर्वक पद्य साहित्य में प्रतिष्ठित किया।

हिन्दुत्व के साथ हिन्दी के प्रति प्रेम में वृद्धि

ईसाई धर्म और अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से जनजीवन में व्यापक क्रान्ति हुई। हिन्दुत्व उस क्रान्ति की प्रमुख प्रवृत्ति थी। धर्म, संस्कृति, भाषा और और साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में हिन्दुत्व की पुनः प्रतिष्ठा की गई। आरम्भ

१—'सरस्वती' सितम्बर १९०१।

में कुछ शिक्षितों का झुकाव अंग्रेजियत की ओर अवश्य दिखाई पड़ता है परन्तु बंगभंग के बाद वह भी लुप्त हो गया। स्वदेशी आन्दोलन के अन्तर्गत सभी स्वदेशी वस्तुओं का स्वागत किया किया। भाषा के क्षेत्र में भी इस प्रवृत्ति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हिन्दी भाषा में अरबी फारसी के स्थान पर संस्कृत शब्दों का प्रचुर प्रयोग इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। आर्य समाज और अन्य उपदेशात्मक आन्दोलनों के फलस्वरूप ब्रह्मचर्य, आचरण शुद्धि आदि को विशेष महत्व मिला। शुद्धता की भावना हरक्षेत्र में बढ़ी। इसके कारण भी शुद्ध हिंदी की ओर लोगों का झुकाव हुआ। संस्कृत शिक्षा का प्रचार जिसका माध्यम खड़ी बोली ही थी, हिन्दी के विकास में सहायक हुई। इसके विरुद्ध उर्दू की अतिशय शृङ्गारिकता का विरोध हुआ। सुधार के लिये उपदेशात्मकता के साथ भाषा की सरलता और सुबोधता आवश्यक थी। *अतः जनभाषा के रूप में खड़ी बोली का महत्व स्वीकार किया गया।*

आचार्य द्विवेदी और अयोध्याप्रसाद खत्री की भाषा-नीति में अंतर

युग की ये सभी भावनायें आचार्य द्विवेदी के समर्थ व्यक्तित्व में साकार हुईं। उनके हृदय में हिन्दुत्व के प्रति गर्व था। वे स्वभाव से सुधारक और नेता थे और स्वयं संस्कृत के विद्वान थे। उनके नेतृत्व से हिन्दी भाषा और साहित्य पर इन सभी विशेषताओं का प्रभाव पड़ा। उर्दू विरोध की भावना उस समय भी कम नहीं हुई थी। 'सरस्वती' सन् १६०२ का 'हिन्दी उर्दू' व्यंग्य चित्र इस कथन को प्रमाणित करता है। द्विवेदी जी ने भी उर्दू शब्दों के प्रयोग, उर्दू साहित्य की आशिकाना शायरी और उसकी अतिशयोक्ति का विरोध किया[१]। उनके स्थान पर भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों को प्राथमिकता दी गई। संस्कृत के छंद हिन्दी पद्य में प्रयुक्त हुए। द्विवेदीजी के आन्दोलन को लोक समर्थन मिलने का यही रहस्य था, और अयोध्याप्रसाद खत्री को इसके विरुद्ध सिद्धान्त रखने के कारण असफल होना पड़ा। ब्रजभाषा का विरोध खत्री ने भी किया और आचार्य द्विवेदी ने भी। परन्तु दोनों

१—'यदि यह कहें कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी।'

आचार्य म०प्र०द्विवेदी—'कवि और कविता' (रसज्ञरंजन प्र० सं० पृ० ३७)

व्यक्तियों के विरोध में स्पष्ट अन्तर था। खत्री जी व्रजभाषा को हिन्दी ही नहीं मानते थे, परन्तु महावीरप्रसाद द्विवेदी का विरोध इसलिये था कि व्रजभाषा अत्यन्त संकुचित हो गई थी। शृंगारिकता के अलावा नवीन लोक हितैषी भावा के लिये उसमें स्थान नहीं रह गया था। खत्री जी की पाँच स्टाइलों में आचार्य द्विवेदी का विश्वास नहीं था। हिन्दी भाषा को इस तरह स्टाइलों में बाटना वे हास्यास्पद समझते थे। सितम्बर १९०२ की सरस्वती में उन्होंने खत्री की स्टाइलों पर एक व्यंग्य चित्र निकाला जिसमें एक व्यक्ति के पाँच मुख बनाये गये थे। चित्र को स्पष्ट करने के लिए उसके नीचे निम्नलिखित दोहा दिया गया था—

'दो पैरों पर एक धड़, फिर सिर पांच अनूप।
मुख पचरंगे पद्य का, देखो सुघर स्वरूप।'

खत्री जी इससे बड़े नाराज हुए और द्विवेदी जी की भाषा में भूलें निकालना तथा उनकी आलोचना करना शुरू किया। उन्होंने प्रतिपादित करना चाहा कि मेरी स्टाइलों का वर्गीकरण वैज्ञानिक और व्यावहारिक रूप में द्विवेदी जी भी मानते हैं। 'महावीरप्रसाद द्विवेदी की फिलालोजी' शीर्षक से उन्होंने कई प्रकीर्णक प्रकाशित कराये उनमें से ४-१-१९०३ के प्रकीर्णक में लिखा है कि '४ अप्रैल १९०३ के प्रयाग समाचार' में मेरी चिट्ठी छपी है। उसमें प० द्विवेदी के कार्ड को मैंने उद्धृत किया है। मैं पूछना चाहता हूँ। वह कार्ड किस भाषा का वा किस स्टाइल में है। उसमें संस्कृत, अरबी दोनों के शब्द हैं। मैं कहता हूँ वह मुंशी स्टाइल में है'।'[1]

खत्री जी की मुंशी स्टाइल में पद्य रचना करनेवाले द्वितीय उत्थान के प्रमुख कवि हरिऔध जी माने जा सकते हैं। आप सन् १९०० के पूर्व ही उर्दू छंदों में मुंशी स्टाइल का प्रयोग कर चुके थे। सन् १९०० में नागरी प्रचारिणी सभा के गृह प्रवेशोत्सव के अवसर पर 'प्रेमपुष्पोहार' नामक कविता ठेठ खड़ी बोली और उर्दू के छंद में आपने पढ़ी थी। खत्रीजी इस कविता से बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि खड़ी बोली की कविता ऐसी ही

१—अयोध्याप्रसाद खत्री—ना० प्र० सभा पत्र संग्रह, बंडल न० ३ पत्र संख्या ९४७।

भाषा में होनी चाहिये। परन्तु वहीं पर 'प्रेमघन' जी ने कहा कि यह तो उर्दू की कविता है आप इसे हिन्दी क्यों कहते हैं। हरिऔधजी इसी शैली को उत्तम और उपकारक मानते थे और इसी शैली में उन्हें अधिक सफलता भी मिली।

द्विवेदी जी का नेतृत्व

श्रीधर पाठक की भाँति महावीरप्रसाद द्विवेदी भी स्वच्छन्द विचारोंवाले अंग्रेजी के साहित्यिक गोल्डस्मिथ से बहुत विचार-साम्य रखते थे। वे हिन्दी काव्य में प्रगति और उदारता के समर्थक थे। उन्हें मालूम था कि रूढ़िवादी अवश्य नवीनता का विरोध करेंगे और उसमें नाना तरह के दोष निकालेंगे। बात यह है कि जिसे वे अबतक कविता कहते आये हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काव कांव। इसी तरह की नुक्ताचीनी से तंग आकर गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधित करके उसकी सान्त्वना की है। वह लिखता है कविते! यह बेकदरी का जमाना है। लोगों के चित्त को तेरी तरफ खींचना तो दूर रहा उल्टे सब कहीं तेरी निन्दा होती है[1]। द्विवेदीजी रूढ़िवादियों के विरोध और नुक्ता-चीनी से डरनेवाले नहीं थे। वे लोक-कल्याण की उदात्त भावना से प्रेरित होकर क्रान्ति पथ पर अग्रसर हुए। नवीन काव्य भाषा खड़ी-बोली का प्रबल समर्थन किया। व्रजभाषा के सीमित विषयों और उपादानों को छोड़कर साहित्य के लिए नये विषयों का निर्देश किया। संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला साहित्य के ग्रन्थों द्वारा भाव विस्तार के साथ हिन्दी का शब्द भंडार भरने के लिये भी उन्होंने साहित्यिकों को प्रेरित किया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये परिपाटीविहित प्राचीन काव्य साहित्य का परित्याग आवश्यक समझकर उन्होंने काव्य में व्रजभाषा का प्रयोग तथा व्रजभाषा की शृंगारिक कविता

१—महावीरप्रसाद द्विवेदी—'रसज्ञरंजन' पृ० ३८-३९।

'द्विवेदी जी भी' 'हे कविते, शीर्षक से कविता को संबोधित करके गोल्ड स्मिथ की भाँति कहते है—

विडम्बना जो यह हो रही तव, समूल ही भूल उसे दयामयी,
पधारने की अभिलाष होय जो, न आव तो भी कुछ काल लौं यहाँ।

का विरोध किया। उनका विश्वास था कि जब तक ब्रजभाषा से कविता को मुक्त नहीं किया जाता तब तक लोक-कल्याणकारी नवीन काव्य का सृजन नहीं हो सकेगा। 'हे कविते' में उन्होंने लिखा है—

'अभी मिलेगा ब्रज मण्डलान्त का सुभुक्तभाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर संगी करके उसे सदा, विराग होगा तुझको अवश्य ही।
इसीलिये हे भवभूति भाविते, अभी यहां है कविते न आ न आ[1]।

द्विवेदीजी का उद्देश्य—गद्य और पद्य की भाषा एक करके हिन्दी साहित्य को समाजव्यापी बनाना उनका प्रथम उद्देश्य था। साहित्यिकों से उनका कथन था कि कवि को सहज और व्याकरण सम्मत भाषा लिखनी चाहिये। 'गद्य और पद्य की भाषा पृथक् पृथक् न होनी चाहिये। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार का और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी में गद्य पद्यात्मक साहित्य होना चाहिये[2]।'

द्विवेदी जी साहित्य को लोकरंजन का साधन मानते थे। जबतक साहित्य की भाषा लोकभाषा नहीं होती तबतक न जनता उसे ठीक से हृदयंगम कर पाती है और न साहित्य अपने उच्च उद्देश्यतक पहुँच पाता है। अतः वे चाहते थे कि काव्य की भाषा बोलचाल की भाषा ही हो। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं। विद्वान और अविद्वान दोनों जिसे काम में लाते हैं।[3] ब्रजभाषा केवल काव्यशास्त्र से विज्ञ थोड़े से पंडितों की सामग्री रह गई थी जब कि खड़ीबोली का 'खास और आम में' दिन दिन प्रचार बढ़ रहा था। इसलिये उन्होंने ब्रजभाषा में कविता करने की परम्परा का विरोध किया। ब्रजभाषा जरा जीर्ण हो गई थी और उसमें ह्रास के बीज इतने अधिक आ गये थे कि साहित्य भाषा के रूप में अधिक दिन तक वह चल नहीं सकती थी। इसका आभास कि 'किसी समय बोलचाल की हिन्दी भाषा ब्रजभाषा की

१—सरस्वती जून १६०१।
२—आ० द्विवेदी—'कवि कर्तव्य' सरस्वती १९०१।
३—'कवि और कविता' रसज्ञरंजन प्र० सं० पृ० ४८।

कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी'—आचार्य द्विवेदी को मिल चुका था। और उन्होंने कवियों को संकेत किया कि 'क्रम क्रम से वे गद्य की भाषा में ही कविता करना आरम्भ करें। क्योंकि बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है[1]।'

ब्रजभाषा इतनी संकुचित और रीति-ग्रस्त हो गई थी कि नवीन भावा और काव्य प्रयोगों के लिये उसमें स्थान नहीं रह गया था। एक ही विषयपर सैकड़ों वर्षों से सैकड़ों कवियों ने इतना लिख लिया था कि कोई नया कवि उसमें मौलिकता या नवीनता नहीं ला सकता था। अतः द्विवेदीजीने आदेश दिया कि पुरानी लकीर का पीटना बन्द कर देना चाहिये और नख शिख नायिकाभेद, अलंकार शास्त्र की व्यर्थ और बनावटी बातों से साहित्य को दूषित नहीं करना चाहिए। उनका विश्वास था कि ब्रजभाषा के शृंगारी साहित्य ने कामुकता और विलासिता को प्रोत्साहन दिया। सदाचार, ब्रह्मचर्य और आदर्श जीवन के लिए इस प्रकार का साहित्य सर्वथा अवांछित है और युवक समाज के लिये इसका न होना ही हितकर है[2]।

खड़ी बोली में आचार्य द्विवेदी के पद्य-प्रयोग

ब्रजभाषा के संकीर्ण भाव क्षेत्र के विरुद्ध उन्होंने कवियों का ध्यान संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य की विपुल भाव सामग्री की ओर आकृष्ट किया। और

१—कवि कर्तव्य सरस्वती १९०१।

२—'दस वर्ष की अज्ञात यौवना से लेकर पचास वर्ष की प्रौढ़ा तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बतला कर उनके हाव, भाव, विलासादि की सारी दिनचर्या वर्णन करके ही कविजन सतोष नहीं करते थे। दुराचार में सुकरता होने के लिये दूती कैसी होना चाहिये, मालिन, नाइन, धोबिन इत्यादि में से इस काम के लिये कौन सबसे प्रवीण होती है इन सब बातों का भी वे निर्णय करते थे। लेख के अन्त में द्विवेदी जी ने लिखा कि 'इस प्रकार की पुस्तकों का बनना शीघ्र बन्द हो जाना चाहिये. और यही नहीं किन्तु आज तक ऐसी-ऐसी जितनी इस विषय की दूषित पुस्तकें बनी हैं उनका वितरण होना भी बन्द हो जाना चाहिये। इनके न होने ही में नव वयस्क मुग्धमति युवाजनों का कल्याण है।'' (नायिका भेद, सरस्वती १९०१)

सुझाव दिया कि 'इन दोनों में से अर्थ रत्न' लेकर हिन्दी को अर्पण किया जाय। उन्होंने केवल मौखिक उपदेश ही नहीं दिये बल्कि दूसरों के लिये जिन सिद्धान्तों और आदर्शों का निर्देश किया स्वयं उनका पद्य में प्रयोग करके दिखला भी दिया। नेता के रूप में उनकी दृष्टि सर्व प्रथम संस्कृत और मराठी प्रभाव के कारण संस्कृत के वर्ण वृत्तों और तत्सम् प्रयोगों की ओर गई। उन्होंने संस्कृत साहित्य का अध्ययन और अनुवाद प्रस्तुत करके हिन्दी भाषी जनता को संस्कृत के अनुपम साहित्य भंडार का रसास्वादन कराया। उन्होंने 'ऋतु तरंगिणी', 'देवीस्तुति शतक' और गंगालहरी' का संस्कृत गर्भित भाषा में पद्यानुवाद किया। देवीस्तुति शतक में द्विवेदीजी की यह प्रवृत्ति बहुत स्पष्ट है। वसन्ततिलका वृत्त में उनकी संस्कृत गर्भित भाषा शैली का नमूना निम्नलिखित पद्य में देखिये—

> "स्नेहाम्बुयुक्त मम हृत्पद अल्पताला,
> सत्पद्मरूप शतपद्मप्रसून माला।
> अंगीकृत त्रिपुरसुन्दरि ताहि कीजै,
> मेरी विनीत विनती पर ध्यान दीजै।"

सन् १६०० ई० के पूर्व द्विवेदीजी की काव्य भाषा में संस्कृत प्रयोगों के साथ ब्रजभाषा की खिचड़ी भी बहुत अधिक है। १९ अक्टूबर '६०० के 'वेंकटेश्वर समाचार' में उनकी शुद्ध खड़ी बोली में 'बलीवर्द' शीर्षक प्रथम पद्य रचना प्रकाशित हुई। नवम्बर में उन्होंने 'मांसाहारी को हंटर' ब्रजभाषा में लिखकर हिन्दी बंगवासी में छपवाया। परन्तु उसी महीने की सरस्वती में उनकी 'द्रौपदीवचन बाणावली' खड़ी बोली में निकली और इसके बाद इनकी सभी रचनायें खड़ीबोली में ही प्रकाशित हुई। इसके पूर्व जो पद्य रचना उन्होंने खड़ी बोली में की भी उसमें ब्रजभाषा का अव्यवस्थित स्वरूप इतना अधिक मिलाजुला है कि उन्हें किसी निश्चित भाषा की रचना कहना सम्भव नहीं। वस्तुतः खड़ी बोली का नेतृत्व करने के पूर्व द्विवेदीजी ने भाषा की शुद्धि या उसके मार्जन पर स्वयं ध्यान नहीं दिया था। परन्तु खड़ी बोली पद्य के लिये एक बार निश्चय कर चुकने के बाद उन्होंने उसका हर प्रकार से समर्थन और संवर्द्धन किया। आरंभिक खड़ी बोली की पद्य रचनाओं में द्विवेदीजी के संस्कृत प्रयोग की प्रवृत्ति मिलती है। वर्ण वृत्तों का प्रयोग भी

ऐसी भाषा शैली के लिये उत्तरदायी माना जा सकता है। जून सन् १६०१ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'हे कविते' शीर्षक पद्य का प्रारंभिक छंद ही इस कथन को स्पष्ट कर देगा।

"सुरम्यरूपे! रसराशि रञ्जिते! विचित्रवर्णाभरणे कहा गई?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा कवीन्द्रकान्ते! कविते! अहो कहा?"

द्विवेदीजी ने अपनी भाषा संबंधी कमियों का बड़ी शीघ्रता और सतर्कता के साथ सुधार किया और सन् १६०२ ई० में कुमार सम्भव के आरंभिक पाँच सर्गों का अनुवाद करके उन्होंने खड़ी बोली के कवियों के लिये टकसाली पद्य भाषा का आदर्श तो उपस्थित किया ही व्रजभाषा वालों का यह आरोप भी सदैव के लिये व्यर्थ सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली मे सुन्दर पद्य रचना सम्भव नहीं है और न उसमें उर्दू के छंदों के अलावा किसी छद का अच्छा प्रयोग ही हो सकता है। 'कुमारसंभव' के तृतीय सर्ग का अनुवाद और भी उत्तम बन पड़ा है। उसका प्रथम छंद उदाहरण स्वरूप नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

'सारे देववृन्द से खिंचकर देवराज के नयन हजार,
कामदेव पर बड़े चाव से आकर पडे एक ही बार।
अपने सब सेवक समूह पर स्वामी का आदर सत्कार,
प्रायः घटा बढ़ा करता है सदा प्रयोजन के अनुसार।'[1]

भाषा परिष्कार और खड़ी बोली की विशुद्धता की दृष्टि से श्रीधर पाठक का 'ऋतुसंहार' भी इतना उत्तम नहीं बन पड़ा जैसा 'कुमारसंभव सार'। इसके पीछे भी गिरिधर शर्मा कृत 'महाकवि भारवि का शरद् वर्णन' इतना सशक्त नहीं है। द्विवेदी जी की इस शैली का खड़ी बोली के अनेक कवियों ने अनुकरण किया। उनके आदेशानुसार सरल एवं शुद्ध खड़ी बोली में संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य की उत्तमोत्तम काव्य रचनाओं का तेजी से अनुवाद प्रस्तुत किया गया। अंग्रेजी कविता का भाव लेकर जून सन् १६०३ की सरस्वती में सर्वप्रथम 'स्वर्ग' कविता प्रकाशित हुई। इसके बाद 'बायरन, स्काट, लागफेलो, शेली और शेक्सपीयर आदि सभी प्रसिद्ध कवियों की सुन्दर

१—द्विवेदी काव्यमाला प्रथम खंड पृ० ३१९।

कविताओं का खड़ी बोली में पद्यानुवाद प्रकाशित हुआ। इसमें भाषा में व्यञ्जकता आई तथा विषय का विस्तार हुआ। तुच्छ से तुच्छ घटना प्रसंग, भाव या वस्तु को लेकर पद्य रचना होने लगी। इस प्रकार का आदर्श स्वीकार करके एक विशेष पुस्तक 'खड़ी बोली का पद्यादर्श' रची गयी।

'खड़ी बोली का पद्यादर्श (रचना काल १६०५) के लेखक श्याम जी शर्मा ने पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि नवम्बर १६०१ को मेरे मुंह से 'श्रीगुरु चरण सरोरुह का नित ध्यान जोड़ कर करता हूँ' अनायास निकल पड़ा और 'श्यामहर्षनर्द्धन नामक खड़ी बोली में २२ सर्ग का एक काव्य श्रीरामचन्द्र के यश में बनाया पर द्रव्याभाव से छपा नहीं। तब से मैं खड़ी बोली का पक्षपाती हो गया हूँ। श्याम जी शर्मा ने भाषा को दृष्टि से नवीन प्रयास तो किया ही छंद और विषय में भी नवीनता का सफल प्रयोग किया। इन्होंने 'दर्प' कविता पयार छन्द में लिखी जिसकी चार पंक्तियां निम्नांकित हैं—

> जगत में वस्तु है न दर्प के समान।
> चाहते जिसे हैं धनी निधन सुजान।
> मूरख गुणी निगुणा फिर विद्यावान।
> दिनरात जो सदा विचारते हैं ज्ञान॥ (पृ० ५)

विषय की दृष्टि से 'ताड़ का पेड़', 'मछली', 'प्यारी दाल' 'प्यारा टेबुल', 'चमगुदड़ी', और 'घण्टहर' आदि कविताएं उल्लेखनीय हैं। अतिसाधारण एवं तुच्छ विषयों पर पद्य रचना उस युग की एक प्रवृत्ति बन रही थी। 'चमगुदड़ी' के प्रति शर्मा जी लिखते हैं—

> छप्पर में तू छिपकी प्यारी, नित नित चें चें करती है।
> अपनी मधुर सुना कर वाणी, बहुत चार खुश करती है।
> ज्यों भारत की बधू लजीली, मीठी बात सुनाती है।
> पै न किसी को किसी काल में अपनी झलक दिखाती है।' (पृ० ४१)

ऊँचनीच की भावना से परे समानता की प्रवृत्ति अन्यायी के लिये दैवीदंड में विश्वास तथा उपदेश, जो द्विवेदी युग की प्रवृत्ति थी, इन कविताओं में सर्वत्र दिखलाई पड़ती है।

गद्य की भाषा में ही पद्य भी रचा जाय और कविता में बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग हो यह द्विवेदीकाल की भाषा-विषयक मान्यता थी। इसका यह परिणाम हुआ कि आरम्भिक पद्य रचनायें गद्यात्मक हो गयीं। बीसवीं सदी के प्रथम दशक में ऐसी सैकड़ों पद्य रचनाएं हुईं। स्वयं द्विवेदी जी 'ग्रन्थकारों से विनय' करते हुए मातृभाषा के सम्बन्ध में कितनी गद्यात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं—

'माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई।
भाषा है उसी प्रकार महा सुददायी।
माता से पूज्य विशेष देशभाषा है।
मिथ्या यह हमने वचन नहीं भाखा है[१]।'

गिरिधर शर्मा, कन्हैयालाल पोद्दार, महेन्दुलाल गर्ग, जनार्दन झा, सत्यशरण रतूड़ी आदि की ऐसी बहुत सी रचनायें सरस्वती के आरम्भिक अंकों से उद्धृत की जा सकती हैं। यह तो कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी ने शृंगारात्मक काव्य को अवाछित तथा देश की तत्कालीन स्थिति के विरुद्ध बताया था और समय समय पर नायिका भेद और नख-शिख वाले कवियों पर व्यंग्य भी किया था यथा:—

'जरा देर क लिये समझिये आप षोडशी क्वारी हैं,
(क्षमा कीजिये असभ्यता को हम ग्रामीण अनारी हैं)
मान लीजिये नयन आपके कानों तक बढ़ आये हैं,
पीन पयोधर देख आपके, कुंजर कुंभ लजाये हैं[२]।' इत्यादि

अतः उस समय आदर्श और उपदेशपरक रचनाओं की ही अधिकता पायी जाती है। 'शिक्षाशतक' में जनार्दन झा पाठकों को उपदेश देते हुए कहते हैं—

बाकी रहे घड़ी दो रात, उठ बैठो तब जान प्रभात।
भक्ति सहित ले हरि का नाम, सोचो अर्थ, धर्म का काम[३]।'

१—'सरस्वती' फरवरी १९०५।
२—दहरौनी (१९०६) द्विवेदी काव्यमाला पृ० ४३८।
३—'सरस्वती' नवम्बर १९०४।

रीतिकालीन पांडित्य और क्लिष्ट शास्त्रीय कविता के स्थान पर ऐसी सरल और सुबोध पद्य रचनाओं का जनसाधारण में स्वागत हुआ, परन्तु साहित्यिक क्षेत्र में काव्य के इस शुष्क रूप पर असंतोष प्रकट किया गया। 'हिंदी की अवस्था' पर विचार करते हुए नागरीप्रचारिणी सभा ने 'सरस्वती' की कविता को 'भद्दी' कहा था। हो सकता है, उसके इस कथन में सभा और द्विवेदी जी के व्यक्तिगत कटु सम्बन्धों के कारण कुछ अ तशयोक्ति रही हो परन्तु वह पूर्णतया अयुक्ति नहीं थी। सन् १९०६ को सरस्वती में द्विवेदी जी ने उस आरोप का उत्तर देते हुए कहा कि '"सरस्वती के अधिकांश कवि सम्मानित एवं विद्वान हैं', रहा मैं, हम अपने को हरगिज कवि नहीं समझते और हमें अच्छी कविता लिखना आता भी नहीं, इसी से हमने अब कविता लिखना बहुत कम कर दिया है। वस्तुतः १९०६ के बाद द्विवेदी जी ने कुछ विशेष अवसरों पर ही इनीगिनी कवितायें लिखीं।

'सरस्वती' द्वारा खड़ी बोली पद्य की भाषा का निर्माण

इस समय तक द्विवेदी जी अपने प्रतिपादित विविध सिद्धांतों का खड़ी बोली में प्रयोग प्रस्तुत कर चुके थे। अब उनके सामने उस मार्ग पर चलने वाले नवीन कवियों की भाषा का परिष्कार करना मुख्य कार्य हो गया था। भावों की सरसता एवं काव्यात्मकता पर उस समय बहुत अधिक ध्यान भी नहीं दिया जा सकता था क्योंकि कवियों की अधिकांश शक्ति भाषा के माजने और सवारने में ही लग जाती थी। अधिकतर कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित है। गिरिधर शर्मा, सत्यशरण रतूड़ी आदि की रचनाओं के संशोधन सबधी द्विवेदी जी के हस्तलिखित टिप्पणियों को देखने पर उनके दुस्साध्य भाषा-सुधार कार्य का महत्व प्रकट होता है। विश्वम्भरशर्मा और मैथिलीशरण गुप्त जैसे मान्य साहित्यिकों को लिखे गये उनके पत्रों से स्पष्ट होता है कि भाषा के परिमार्जन, परिष्कार और स्थायित्व के लिये उन्होंने कितना कठिन श्रम किया। मैथिलीशरण गुप्त की 'क्रोधाष्टक' नामक तुकबन्दी पर क्षुब्ध होकर उन्होंने लिखा था कि 'आपने क्रोधाष्टक थोड़े ही समय में लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लगे[१]।' इस प्रकार के लगातार संशोधनों से कवियों की भाषा साफ हुई और उनकी देखादेखी

१—'सरस्वती' भाग ४७ संख्या २ पृ० २००।

दूसरों से अपना सुधार किया। द्विवेदी जी के प्रोत्साहन व प्रभाव से हिन्दी के बहुत से उत्तम कवियों का निर्माण हुआ और सरस्वती में उनकी सुन्दर रचनायें प्रकाशित होने लगीं। सन् १६०७ ई० की सरस्वता में तत्कालीन सभी उच्चकोटि के कविया की कुल ४५ खड़ी बोली की और ब्रजभाषा की कवितायें प्रकाशित हुईं। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, शकर, गुरु, लोचन प्रसाद पाडेय और रामचरित उपाध्याय खड़ी बोली के तथा 'पूर्ण' और 'कविरत्न' ब्रजभाषा के प्रमुख कवि थे। इसी वर्ष शकर ने 'सरस्वती की महावीरता' कविता द्वारा सरस्वती की व्यापक सेवाओं का परिचय दिया[1]।

द्विवेदी जी के काव्यादर्शों का अनुकरण करके क्रमशः राष्ट्रकवि के गौरव तक पहुँचने वाले मैथिली शरण गुप्त की 'सरस्वती' में प्रकाशित प्रथम कविता हेमन्त (१९०५) थी। इसकी भाषा शैली द्विवेदी जी के आरभिक सस्कृत अनुवादों वाली शैली के बहुत निकट है। नमूने के लिए निम्नाकित चार पक्तिया देखिये—

> 'हेमन्त में बहुधा घनों से पूर्ण रहता व्योम है,
> होती प्रसन्न अति ही गज काक पाति।
> पुन्नाग लोध्र तर ये नित फूलते हैं,
> भौंरे सदैव इन ऊपर भूलते हैं।'

सन् १९०६ मे उनकी केवल एक कविता 'प्रणय की महिमा' प्रकाशित हुई। परन्तु सन् १६०७ की सरस्वती म उनकी ८ कवितायें छपीं। ये कविताएँ गुप्तजी की पद्य भाषा के क्रमविकासका अच्छा परिचय देती है। इनमे भये, जौं लौं, तौं लौं, आदि ब्रजभाषा के प्रयोग अहा, हा, जैसे भरती के शब्द तथा सस्कृत शब्दों की भद्दी भीड़ भाषा की असमर्थता प्रकट करती है कुछ उदाहरण देखिये—

१—'नूतन निबन्ध मनभावते विचित्र चित्र, नानाविषयों से परमानिक बनाती है।
शकर प्रतापशील, सज्जन महोदयों के जीवन चरित्र जन जन को जनाती है।
हिंदी को सुधार गद्य पद्य का प्रचार करें, हठी ब्रजभाषा को भी सादर मनाती है।
ज्ञानी ग्राहकों से महावीरता सरस्वती की, पैसा अलबेले अंक अंक में गिनाती है।'
(सरस्वती १९०७ पृ० १६)

(अ) "कुसुम जो तरु थे तप से गये, लहलहे अब वे सब हैं भये।
होता है हा! न जौलौं प्रबल जलधि सा एकही दुःख दूर।
हो जाता प्राप्त तौ लौं गुरुतर गिरि सा दूसरा और क्रूर[1]।'

(ब) 'सद्यः काटा लिया है सिर, जिनकर में, कंठ में मुंड माला।
जिह्वा लम्बायमान अतिशय मुख से है, जटाजूट काला[2]।'

खड़ी बोली-पद्य भाषा का परिष्कार

सन् १९०८ मे गुप्त जी ने कई उत्तम खड़ीबोली की कवितायें लिखीं, जिनमे से 'अर्जुन और उर्वशी', 'उत्तरा और अभिमन्यु', 'केशो की कथा', 'शकुन्तला का पत्र लेखन', 'सुकेशी' सरस्वती में प्रकाशित आदि चित्रो के परिचय-स्वरूप लिखी गई थीं। द्विवेदीजी ने सरस्वती मे यह परम्परा १९०३ से ही चलाई थी। इसके द्वारा वे कवियों का ध्यान भारत के गौरवशाली अतीत और पौराणिक तथा ऐतिहासिक महापुरुषो की ओर आकृष्ट कर उनके संबंध मे सुन्दर काव्य रचना द्वारा कविता का क्षेत्र विस्तृत करना चाहते थे। इनके द्वारा गुप्तजी को आख्यानक गीतियों और प्रबन्धकाव्यों के प्रणयन की प्रेरणा मिली। उनका पहला गीत 'रंग मे भंग' सन् १९१० मे लिखा गया। इसके थोड़े ही समय बाद उनका प्रथम खंड काव्य 'जयद्रथ बध' प्रकाशित हुआ। इसमें भाषा की समर्थ व्यंजकता के साथ ही ओज, प्रवाह और शब्द मैत्री आदि का खड़ी बोली कविता में सर्व प्रथम दर्शन हुआ। सरल और प्रवाहमय भाषा मे लिखी हुई यह ऐतिहासिक मर्मकथा इतनी लोकप्रिय हुई कि सोलह सत्रह वर्षों में ही इसके २१ संस्करण निकले। पिछली कविताओं की अपेक्षा भाषा का अत्यन्त स्वच्छ एवं समृद्ध स्वरूप निम्नाकित पक्तियों मे देखिये—

'सुन सारथी का यह विनय बोला वचन वह वीर यों—
करता घनाघन गगन में निर्घोष अति गंभीर ज्यों।
हे सारथे! हैं द्रोण क्या, देवेन्द्र भी आकर अड़े।
है खेल क्षत्रिय बालकों का व्यूह भेदन कर लड़े[3]।'

१—'वर्षा वर्णन' सरस्वती १९०७ पृ० ३६४।

२—'प्रार्थना पंचदशी' वही १९०७ पृ० ३८१।

३—'जयद्रथ बध' २१ वां संस्करण पृ० ५।

इसके पूर्व अन्य कवियों में कामताप्रसाद 'गुरु' की 'बेटी की विदा', 'शिवाजी' और दामीरानी, नाथूराम 'शंकर' की 'नवत सेना का विलास', और 'पचपुकार' तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'कर्मवीर', 'प्रभु प्रताप' आदि कविताओं द्वारा हिन्दी काव्यभाषा की विविध शैलियों का बीजारोपण हो चुका था।

उपाध्याय जी की आरम्भिक रचनाओं में 'प्रेमपुष्पोपहार' वाली शैली का ही दर्शन होता है। इनमें ठेठ भाषा के साथ ही उर्दू के छंदों और चलते शब्दों का प्रयोग हुआ है। यथा—

'चाँद वो सूरज गगन में घूमते हैं रात दिन।
तेज वो तम से दिशा होती है उजली वो मलिन[1]।'

उनकी इस शैलीपर गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। उर्दू की ओर अधिक झुकाव होने से उसके शब्दों का इन्होंने अधिक प्रयोग किया। इस परंपरा के अन्य उल्लेखनीय कवि लाला भगवानदीन की भाषा का रूप खत्री जी वाली मुशी स्टाइल का रहा और उन्होंने छंद भी उर्दू के ही प्रयुक्त किये। इस शैली का अधिक विकास तो नहीं हो सका परन्तु हिन्दी काव्य भाषा को उर्दू के चलते प्रयोग और छद मिले जिससे उसकी अभिव्यंजना शक्ति का विकास हुआ।

आचार्य द्विवेदी और उनके साथियों के अथक प्रयास से हिन्दी गद्य और पद्य की इस समय तक अच्छी उन्नति हो चली थी। द्विवेदीजी अपने क्रान्तिकारी लेखों द्वारा प्रतिवर्ष हिन्दी भाषा और साहित्य को आगे बढाते गये। सन् १९०५-६ में प्रकाशित उनके 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख से हिन्दी गद्य भाषा में एक क्रान्ति हुई। उसमें सभी प्राचीन लेखकों की भाषा की आलोचना की गई थी। इसी को लेकर बालमुकुन्द गुप्त से उनका प्रसिद्ध विवाद हुआ। सन् १९०७ ई० में उन्होंने 'कवि और कविता' नामक लेख द्वारा कवियों को भाषा, भाव, छद और शैली के सबंध में अधिकारिक निर्देश दिया। मैथिलीशरण गुप्त को अपने प्रसिद्ध काव्य 'साकेत' के लिये द्विवेदीजी के निबंध 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' (१९०८)

१—हरिऔध—'प्रभुप्रताप' सरस्वती १९०७ पृ० २०५।

द्वारा प्रेरणा मिली। सन् १९०८ में ही भाषा निर्माण में उनकी सहायता करनेवाले प्रसिद्ध व्याकरणलेखक कामताप्रसाद 'गुरु' का 'हिन्दी की हीनता' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें हिन्दी भाषा की अस्थिरता, व्याकरण और कोष ग्रंथों की न्यूनता तथा पद्य की रचना पर उन्होंने प्रकाश डाला था। साहबी हिन्दी, लैटिनी हिन्दी लेखों द्वारा उन्होंने हिन्दी के स्थिर एवं साहित्यिक रूप का समर्थन किया। अपनी कविताओं द्वारा मैथिलीशरण गुप्त भी हिन्दी भाषा तथा साहित्य की तत्कालीन दशा का ध्यान हिन्दी हितैषियों को दिलाते रहे और उनके हृदय में हिन्दी के प्रति करुणा और उत्साह जाग्रत करते रहे। 'हिन्दी का महत्व' बताते हुए गिरिधर शर्मा ने लिखा कि चाहे न्यार कितनी हा भाषायें क्या न जानते हों पर 'जनम वृथा है तो भी मेरे जान लोगन को,

हिन्द में जनम पाके हिन्दी जो न जानी हो।'[१]

और हिन्दी की वर्तमान दशा में मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा—

'कहीं तो उपन्यास हैं नाशकारी, कहीं नायिका भेद की धूम भारी।
किये हैं कहीं कोक बेरोक डेरा, किसी काम का है न साहित्य तेरा।'[२]

साहित्य संमेलन के मंच से खड़ीबोली और ब्रजभाषा-विवाद का आरंभ

इस प्रकार लेखों, कविताओं और चित्रों के द्वारा खड़ी बोली कविता और साहित्य के उत्कर्ष में सरस्वती के चिरस्मरणीय प्रयत्नों से जब खड़ी बोली का अच्छी उन्नति हो रही थी उसी समय साहित्य सम्मेलन (१९१०) की स्थापना हुई। सम्मेलन में उर्दू हिंदी विवाद, ब्रजभाषा और खड़ीबोली का विवाद, नागरी लिपि का प्रचार और गद्य भाषा का परिष्कार तथा उसके विविध रूपों के सम्यक् विस्तार पर विचार हुआ। विविध विषयों पर विद्वानों के लेख और विचार आमंत्रित किये गये। खड़ीबोली और ब्रजभाषापर विचार प्रकट करने के लिए प्रथम-उत्थान के नेताओं श्रीधर पाठक और राधाचरण गोस्वामी को आमंत्रित किया गया। और इनके लेखों द्वारा पुनः विवाद का सूत्रपात हुआ। परन्तु इस विवाद में स्थिति पूर्णतया उलट गयी थी।

१—सरस्वती १९०८ पृ० ३५२।
२—वही पृ० २६३।

अब खड़ी बोली ही आक्रामक हो गयी थी और ब्रजभाषा अपनी रक्षामात्र कर रही थी। ब्रजभाषा के समर्थकों के खड़ीबोली विषयक तर्क ब्रजभाषा की भांति ही पुराने पड़ चुके थे। उनमें अधिक बल नहीं था। इस बार आन्दोलन ने दूसरा रुख पकड़ा। अब यह प्रश्न नहीं था कि खड़ीबोली में कविता हो या न हो बल्कि विचार इस प्रश्न पर किया जाता था कि ब्रजभाषा को और उसके शृंगारी साहित्य को किस सीमातक अपनाया जाय, उसे काव्य क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया जाय अथवा इच्छानुसार कवि उसमें भी काव्य रचना करें।

प्रथम सम्मेलन में राधाचरण गोस्वामी ने अपने पुराने तर्कों को दुहराते हुए कहा कि ब्रजभाषा की परम्परा महान् है और उसमें अत्यधिक माधुर्य है[1]। इस परंपरा में अनेक महाकवि हो चुके हैं जिनकी रचनाओं के बिना हिन्दी साहित्य सूना हो जायगा। श्रीधर पाठक ने अपने विस्तृत लेख में खड़ी बोली की प्राचीनता, लोकप्रियता तथा सरसता का तर्क-सम्मत और प्रामाणिक प्रतिपादन किया। द्वितीय साहित्य सम्मेलन में ब्रजभाषा की ओर से बोलते हुए गौरचरण गोस्वामी ने पुनः उसकी मधुरता पर बड़ा जोर दिया और खड़ीबोली को रूक्ष तथा नीरस कहा। उसका उत्तर वहीं पं॰ बदरीनाथ भट्ट ने बड़े जोरदार शब्दों में दिया।

उन्होंने कहा कि ब्रजभाषा की अतिशय माधुरी ने समाज को क्लीव बना दिया, अब हमें पौरुष की आवश्यकता है। साहित्य में जागरण का हुँकार खड़ी बोली की ओजस्वी रचनाओं द्वारा ही आ सकता है। हमको न इस समय नायिका भेद और अलंकार-शास्त्र की आवश्यकता है न ब्रज-

---

१—'ब्रजभाषा की मधुरता के लिये इतना कहना यथेष्ट होगा कि 'वाचि श्रीमाधुरीणाम्' अर्थात् मथुरा प्रान्त की स्त्रियों की बोली में काम का स्थान है राजा शिवप्रसाद ने अपने नए गुटका में एक ईरानी कवि की कथा लिखी है जो ब्रज में कविता को पराजित करने आये थे। यहीं एक लड़की के मुख से स्वाभाविक उक्ति में 'साँकरी गलीन में कीकरा लगतु है' वचन सुनकर घर लौट गये।

राधाचरण गोस्वामी—'ब्रजभाषा'—(प्रथम साहित्य सम्मेलन, कार्यविवरण द्वितीय भाग)।

माधुरी की। ब्रजभाषा में राष्ट्र भाषा शैली बनने की शक्ति नहीं है। सभी भाषाओं में समय-समय पर ऐसा परिवर्तन होता है। आज कोई भी बुद्धिमान अंग्रेज नहीं कहता कि चासर की पुरानी अंग्रेजी राष्ट्रभाषा हो या उसी में कविता हो, फिर भी चासर का महत्व अक्षुण्ण है, उसी प्रकार खड़ी बोली के प्रयोग से ब्रजभाषा और उसकी प्राचीन परंपरा का महत्व कम नहीं हो जायगा। ब्रजभाषा के विश्राम का समय आ गया है, उसके समर्थकों को इससे क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

सन् १९१३ की 'सरस्वती' में उनका एक निबंध 'वर्तमान हिंदी काव्य की भाषा' शीर्षक से निकला। उसमें उन्होंने उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया कि बोलचाल की भाषा से काव्य की भाषा का भिन्न नहीं होना चाहिए। ब्रजभाषा में भी यही नियम रहा है, जैसे बिहारी के निम्नलिखित दोहे—

"एक तो नैना मद भरे दूजे अंजन सार।
ए आली कोई देत है मतवारहि हथियार॥"

में ब्रजभाषा के बोलचाल वाली भाषा-शैली से कोई विशेष अंतर नहीं है। इस दोहे के गद्य रूप—'नैना एक तो मद भरे (हैं) दूजे अंजनसार (हैं) ए आली मतवारेहि कोई हथियार देत है'—से पद्य का रूप पूर्णतया मिलता है। इसी प्रकार खड़ी बोली में भी मैथिली शरण गुप्त ने बोलचाल की गद्य भाषा में पद्य रचना की है। वास्तव में गद्य और पद्य की भाषा भिन्न-भिन्न होनी भी नहीं चाहिये, यदि कवि असामयिक भाषा में कविता करेगा तो वह दुर्बोध और व्यर्थ हो जायेगी। आज ब्रजभाषा जब बोलचाल से बिलकुल उठ गई है तब प्रचलित भाषा खड़ी बोली में कविता होना स्वाभाविक है और इसमें ब्रजभाषा का एक भी अप्रचलित शब्द नहीं मिलाया जाना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से न तो वह कविता ब्रजभाषा की हो पाती है और न शुद्ध खड़ी बोली की। वह बहुत ही उपहासास्पद हो जाती है। उदाहरणार्थ रूपनारायण पांडेय की निम्नांकित पंक्तियाँ—

"रसिक और रसिकायें मुझको आदर से अपनावेंगी।
बना गले का हार रहूँगा यही सोच इतराते हो॥"

में ब्रजभाषा के कुछ शब्द मिलाकर उन्हें इस प्रकार कर दिया जाय—

"रसिक और रसिकायें मोहिकौ आदर सों अपनावेंगी।
बन्यौ गले का हार रहूँगा यही सोच इतराते हो॥"

तो कविता कितनी भोंड़ी हो जाती है ? लेख का उपसंहार करते हुये भट्टजी ने खड़ी बोली और ब्रजभाषा काव्य की वस्तुस्थिति का सारांश उपस्थित करते हुए कहा कि 'लोग ब्रजभाषा को यथोचित सम्मान देते हुए भी बोलचाल की भाषा का आदर करने लगे हैं। यह उनके जीवन का लक्षण है। ब्रज के पुराने प्रेमी व मिश्र प्रेमी सबकी संख्या घट रही है। बोलचाल की भाषा में उच्चकोटि की कविता होने लगी है और उसकी लोकप्रियता बढ़ रही है। कविता सरल और उपयोगी विषयों पर लिखी जाती है। नायिका भेद तथा अलंकारों का खींचा-तानी उसमें नहीं है। देशभक्ति और जातिभक्ति की समयोचित शिक्षा दी जाती है।' वस्तुतः यही स्थिति थी। ब्रजभाषा के पुराने कवि हरिऔध, शंकर, प्रेमघन सभी खड़ी बोली में रचनायें करने लगे थे। सन् १६१० की 'सरस्वती' में 'विद्यानाथ' ने अपने लेख 'कवि का कर्तव्य' में लिखा कि 'पूर्ण कवि ने हमें यह उपदेश दिया है कि लोग खड़ी बोली में चाहें तो कविता करें पर किसी कारण ऐसा न करें तो ब्रजभाषा में भी बिना शब्दों को तोड़े मरोड़े उत्तम काव्य रचना करें।' 'पूर्णजी ने केवल सिद्धांत रूप में इस सत्य को नहीं स्वीकार किया बल्कि स्वयम् शुद्ध ब्रजभाषा का सरस रचनाओं के अलावा खड़ी बोली में भी पद्य रचकर दिखाया। सन् १६१० की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'वसंत वियोग' उनकी खड़ी बोली की पद्य-रचना है। इसी प्रकार 'प्रेमघन' ने 'मयंक महिमा' शुद्ध खड़ी बोली में लिखा यद्यपि उनकी खड़ी बोली कविता में भी शब्दालंकार और कलम की कारीगरी स्पष्ट है, यथा—

"पर अद्यापि घड़ी दो रजनी, शेष विशेष सुहाती थी।
मंजु मयंक मरीचि मालिका, मिल माना मुसकाती थी॥"[१]

ब्रजभाषा के अन्य मान्य कवि 'कविरत्न' जी ने 'ब्रजभाषा' शीर्षक से पंचम साहित्य सम्मेलन में उसकी करुण स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कवियों से उसको अवलम्बन देने का आग्रह किया और कहा—

'या जीवन संग्राम माहि पावत सहाय सब,
नाम लैनहूँ सज्यो, किन्तु तुमने याको अब।

१—'प्रेमघन सर्वस्व' भाग १ पृ० ४४५।

क्यों आसो मन फिर्यो कृपा करि कछुक बताओ,
वृथा आसा या ब्रजभाषा की न मतावो।
× × ×
जाय कहां अब, बनहिं तुम्हें यदि पाले पोसे,
याको बल याको जीवन-धन आप भरोसे।'

ब्रजभाषा की स्थिति सचमुच ही दयनीय हो गई थी जिधर देखिये उधर खड़ी बोली की कविताओं की धूम मच रही थी और ब्रजभाषा के विरोध की इत्तासी बह गई थी। पंचम साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में खड़ीबोली के श्रेष्ठ-कवि श्रीधर पाठक उसके सभापति[1] बनाये गये और वहीं पर 'हिंदी कविता किस ढंग

१—पंचम साहित्य सम्मेलन के सभापति सबधी प्रस्ताव का समर्थन करते हुए श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने प्रसगवश कह दिया कि सभापति श्रीधर पाठक की पुस्तक 'एकांतवासी योगी' की पंक्ति 'कहां जले है वह आगी' ब्रजभाषा में है। इसी प्रश्न को लेकर पर्यालोचक और विचारक का प्रसिद्ध विवाद 'भारतमित्र' में कुछ दिनों तक चलता रहा। ऐसा लगता है कि आचार्य द्विवेदी ही पर्यालोचक थे। डा० उदयभानु सिंह ने भी उन्हें पर्यालोचक कहा है। द्विवेदी जी श्रीधर पाठक के प्रशंसक थे और उनकी प्रशंसा में 'श्रीधर सप्तक' लिखा था। मिश्रबन्धुओं ने जब बनाष्टक में प्रयुक्त छदों की आलोचना की थी उस समय भी द्विवेदी जी ने पर्यालोचक छद्म नाम से श्रीधर पाठक का समर्थन किया था। अतः विचारक जी से उत्तर प्रत्युत्तर करने वाले पर्यालोचक जी भी आचार्य द्विवेदी ही रहे होंगे। स्वय जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने ही सभवतः विचारक का छद्म नाम धारण किया था।

इन विद्वानों के विवाद का अंतिम निष्कर्ष यही निकला कि जले है, होवे है, करे है आदि क्रियाओं का ढग प्राचीन खड़ी बोली और उर्दू साहित्य में प्रचलित अवश्य था परन्तु अब वह ढग पुराना हो गया है और प्रचलित हिंदी में ऐसा प्रयोग उत्तम नहीं है। दिल्ली के पश्चिमी गांवों में क्रियाओं का यह रूप अब भी चलता है परन्तु दिल्ली के पूरब वाले गांवों में इनका आधुनिक रूप-जलता है, करता है, आदि ही चलता है। विचारकजी ने इस विवाद को निपटाने के लिये एक पंचायत का प्रस्ताव किया था और तत्कालीन प्रायः सभी प्रमुख साहित्यिकों को पंच माना था। परन्तु पर्यालोचक जी एकदम चुप रह गये और विवाद अपने आप ठंडा पड़ गया।

की हो' शीर्षक में मैथिलीशरण गुप्त ने कहा कि 'जो लोग खड़ी बोली को कविता के योग्य नहीं समझते और पुरानी भाषा में ही, जिसे खड़ी बोली वाले चाहें तो पड़ीबोली कह सकते हैं, कविता किये जाने का आग्रह करते हैं। वे सच पूछिये तो हमारी राष्ट्रभाषा के जानी दुश्मन हैं।' इस लेख के शीर्षक से ही यह स्पष्ट है कि अब प्रश्न यह नहीं रह गया है कि किस भाषा में कविता हो बल्कि यह है कि किस प्रकार की कविता हो। उन्होंने अपने लेख में इसका उत्तर देते हुये कहा कि जिस ब्रजभाषा में सचाई नहीं रह गई है, वीरता प्रकट करने के लिये शब्दों को तोड़ ताड़कर धड़ाधड़ भड़ाभड़ जैसी परुष शब्दावली का आडम्बर खड़ा किया जाता है, जहाँ विषय सीमित होकर नख शिख, अलंकार, और नायिका भेद में अवरुद्ध हो गया है और जहाँ विश्वेश्वर भी केलि-कुञ्जों में राधा की उलझी लट सुलझाते और बेसर सुधारते हैं वह ब्रजभाषा काव्य हमारे समाज के लिये पूर्णतया अवांछित है। वह थोड़े से लक्ष्मी पुत्रों के विलास की सामग्री भले हो परन्तु जनसाधारण का उससे कोई हित नहीं हो सकता।

गुप्तजी को ऐसा कहने का नैतिक बल प्राप्त हो गया था। पराधीनता, शोषण और अत्याचार के जमाने में विलास और शृंगार के गीत गाना असमय की शहनाई ही थी। युग की भावना उचित ढंग से खड़ी बोली की कविताओं में ही व्यक्त हो रही है। भारत के अतीत गौरव और वर्तमान की पतित अवस्था का सरल भाषा में मार्मिक विवरण करते हुए उन्होंने भारत भारती का प्रणयन किया। इसकी भाषा में खड़ीबोली में प्रसाद गुण के साथ साथ पहली बार ओजगुण का उचित अनुपात दिखाई पड़ा। इसकी संस्कृतोत्तम ऊर्जस्वित भाषा हमारे उन्नत अतीत के अनुरूप थी, अतः इसका जन-मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। प्रसाद गुण तो इसमें इतना अधिक था कि साधारण पढ़ा लिखा युवक भी सरलतापूर्वक इसका आनन्द ले सकता था। उन दिनों भारत-भारती सभी देश प्रेमी पाठकों की जबान पर चढ़ी रहती थी। भारतीय रईसों का अति प्रवाह-मयी भाषा में चित्रण करते हुए वे लिखते हैं—

> आत्मीयता क्या वस्तु है, निज देश कहते हैं किसे,
> क्या अर्थ आत्मत्याग का, वे जानते हैं क्या इसे ?

सुख-दुख जो कुछ है यहीं है, धर्म कर्म अलीक है,
खाओ-पीयो, मौजें करो, खेलो-हँसो सो ठीक है[1]।

खड़ी बोली में ओज और प्रसाद गुण का विकास

सन् १९१४-१५ तक खड़ी बोली की भाषागत असमर्थता और कर्ण-कटुता दूर हो चुकी थी। संस्कृत की शुद्धि और ओज, उर्दू की प्रोक्ति और प्रवाह, बंगला की कोमलता और सामासिकता एवं अंग्रेजी की व्यंजकता तथा लाक्षणिकता का अनुवादों द्वारा उसमें क्रमशः समावेश हो रहा था। हरिऔध जी अपनी विविध शैलियों का प्रयोग कर ही चुके थे। 'शंकर, सनेही और रूपनारायण पांडेय आदि की विविध रचनाओं से खड़ी बोली काव्य-भाषा की व्यंजकता में अभूतपूर्व समृद्धि हुई। मैथिलीशरण गुप्त की शैलीपर कविता करनेवाले भाषा के विशेष धनी उनके अनुज सियारामशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरणसिंह उल्लेखनीय हैं। इनकी काव्यभाषा में प्रवाह स्निग्धता तथा प्रांजलता है। इन लोगों ने छायावादी कवियों की तरह न तो नये शब्द गढ़े और न नये छंदों का प्रयोग ही किया, बल्कि इन लोगों ने खड़ी बोली के शब्दों में ही माधुर्य भरकर प्रचलित छंदों में मार्मिक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। वस्तुतः इसी प्रकार की शैली में खड़ी बोली के प्रस्तुत रूप का परिष्कार हुआ। यहीं द्विवेदी जी की स्वीकृत शैली भी थी। सन् १९१३-१४ के आसपास ऐसी रचनाओं का आरंभ हुआ। १९१४ की सरस्वती में गोपालशरण सिंह की 'सज्जन संकीर्तन', नृशंसनिरूपण' और 'वसंत वर्णन' आदि कवितायें निकलीं ये आरंभिक कवितायें यद्यपि साधारण ढंग की हैं परन्तु इनमें भाषा अच्छी तरह मजी हुई है। उदाहरणार्थ उनकी दो पंक्तियां देखिये—

'दिवस रम्य निशा रमणीय है, सब दिशा विदिशा कमनीय है।
सुखद मन्द सुगन्ध समीर है, चित चहे अब शीतल नीर है[2]।'

द्विवेदी जी के प्रभाव से बाहर रहकर भी उनके आदर्श के अनुसार व्याकरण सम्मत शुद्ध काव्य भाषा का स्वरूप रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी कविताओं और प्रबन्ध काव्यों द्वारा प्रस्तुत किया। त्रिपाठी जी ने ही सच्चे अर्थ में गद्य भाषा को सरस पद्य में प्रयुक्त किया। उन्होंने कभी भी 'है', 'गा', आदि संयुक्त

१—भारती भारती, नवम् संस्करण, १९८३, वर्तमान खण्ड पृ० १११।
२—वसंत वर्णन—सरस्वती १९१४ खंड १ पृ० २०३।

क्रिया के अंशों और ने, का, आदि कारकों तक का लोप अपनी कविताओं में नहीं किया। अतः इनकी कविताओं में प्रसाद गुण अधिक है। काव्य भाषा अतिशय स्वच्छ और शुद्ध है। यथा—

> 'सिंधु विहग तरंग पंख को फड़काकर प्रति क्षण में,
> है निमग्न नित भूमि अंड के सेवन में रक्षण में।
> कोमल मलय पवन घर घर में सुरभि बाट आता है,
> सत्य सींचने घन जीवन धारण कर नित आता है[1]।'

उक्त पंक्तियों का अन्वय करते समय सम्भवतः एक भी शब्द बाहर से नहीं आरोपित करना पड़ेगा। इसकी तीसरी पंक्ति तो गद्य मे भी ठीक इसी प्रकार रह जायगी। इस प्रकार ऐसी रचनाओं द्वारा खड़ी बोली की काव्य भाषा अपने इस निश्चित आदर्श पर पहुँच सकी कि पद्य की भाषा भी गद्य की भाषा ही होनी चाहिये। साथ ही उसमें हिंदी, संस्कृत, उर्दू और बंगला आदि के नये पुराने सभी छंदों को सफलता पूर्वक ढाल दिया गया। ब्रजभाषा के समर्थकों का खड़ी बोली की असमर्थता के संबंध में यह सबसे बड़ा तर्क था कि इसमें उर्दू के थोड़े से छन्द ही प्रयुक्त हो सकते हैं। यह आशंका तो निर्मूल हो ही गयी, खड़ी बोली काव्य के सभी क्षेत्र में ब्रजभाषा को बहुत पीछे छोड़ गयी। आरंभ में विरोधी पक्ष की ओर से यह भी कहा जाता था कि खड़ी बोली केवल साधारण विषयों पर काव्य रचना के लिए ही उपयुक्त है परन्तु थोड़े ही दिनों में यह भी दिखा दिया गया कि खड़ी बोली में किसी भी विषय पर चाहे वह बहुत महान् हो चाहे तुच्छातितुच्छ हो, उत्तम कविता की जा सकती है।

खड़ी बोली में माधुर्य गुण का विकासः—

ब्रजभाषा प्रेमियों की सबसे बड़ी शिकायत यही थी कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा जैसा माधुर्य नहीं है अतः यह सरस काव्य रचना के लिए उपयुक्त नहीं है। ठाकुर गोपाल शरण सिंह, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद की कविताओं में क्रमशः माधुर्य गुण का भी संचरण होने लगा। इस कार्य में बंगला अनुवादों ने पर्याप्त सहायता दी। सन् १९१४ ई० के आसपास

१—रामनरेश त्रिपाठी—'पथिक' पृ० २१।

मैथिली शरण गुप्त ने माईकेल मधुसूदन दत्त की व्रजांगना का 'विरहिणी व्रजांगना' नाम से खड़ी बोली पद्य में अनुवाद किया। इस अनुवाद द्वारा गुप्त जी की काव्य भाषा में बंगला की कोमलता आयी। निम्नांकित पंक्तियों में बंगला की कोमल कांत पदावली द्रष्टव्य है—

'नाचेंगी सब गोकुल बधुयें करती हुई किंकणी नाद,
ज्यों मलयानिल से सरसी में नृत्य-निरत नलिनी साल्हाद।
बिठलाना तुम इस दासी को निज समीप कुसुमासन पर,
यह अधीन अनुचरी तुम्हारी, तुम हो इसके नवजलधर[1]।'

इन अनुवादों के द्वारा बंगला काव्य की कोमलता और सामासिकता के साथ ही नाद, सौंदर्य और अमूर्त विधान आदि काव्यशिल्प भी हिंदी को मिले। प्रसाद जी की मधुर रचना 'प्रेम पथिक' का खड़ी बोली हिन्दी में रूपान्तर भी सन् १९१३-१४ के बीच प्रस्तुत किया गया। इसके भाव पर एकांतवासी योगी का प्रभाव होने के कारण कथा बड़ी ही मनोहारी है। साथ ही इसमें छायावादी काव्य भाषा के सभी गुणों का पूर्वाभास भी मिलता है। उनकी काव्यात्मक भाषा का एक उदाहरण लीजिये—

'विमल हृदय के छायापथ में अरुण विभा थी फैली
घेर रही थी नव जीवन को वसंत की सुखमय संध्या।
खेल रही थी सुख सरवर में तरी पवन अनुकूल लिये,
सम्मोहन वंशी बजती थी नव तमाल के कुंजों में[2]।'

इन रचनाओं के प्रस्तुत हो चुकने पर यह प्रश्न पूर्णतया समाप्त हो चुका कि खड़ी बोली में काव्य रचना हो या न हो। अब तो यह प्रश्न हो गया कि कविता किस ढंग की हो। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने भाषण में इस ओर संकेत करते हुए कहा था—

'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिये।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिये।'

१—अनुवादक मधुप, 'विरहिणी व्रजांगना' प्रथमावृत्ति संवत् १९७१ पृ० ५।

२—प्रसाद—'प्रेमपथिक' द्वितीय संस्करण १९८५ पृ० १०।

श्यामसुंदर दास ने भी उपदेशात्मक खड़ी बोली के सुधारवादी पद्य का समर्थन करते हुए कहा था कि 'उसका काम है पथ भ्रष्ट को मार्ग बताना, आलसी में उत्साह भरना, पददलित को पूर्व गौरव सुनाना और मुर्दे को जिन्दा बनाना।.........बोलचाल की भाषा में देश भक्ति से भरी शिक्षाप्रद कविता की ही उसे आवश्यकता है और वह इसी का आदर करती है। ब्रजभाषा की कविता शृंगार रस से पुष्ट हुई है परन्तु खड़ी बोली की कविता राष्ट्रीयता के रस से पुष्ट हो रही है।' स्पष्ट ही भाषा के साथ उसके अन्तरंग के परिवर्तन का प्रश्न भी द्वितीय उत्थान में एक साथ ही उठाया गया। काव्य का अंतरंग युगानुरूप परिवर्तित होता भी रहता है। काव्य के संबंध में उक्त सिद्धात युग की आवश्यकताओं के अनुरूप था और अधिकाश कवि ऐसी ही रचनाओं द्वारा लोकप्रिय हो रहे थे। राष्ट्रीयता और अन्य नवीन विषयों को ब्रजभाषा में पद्य बद्ध करने वाले कवियों का भी सरस्वती तथा अन्य पत्रों में सम्मान होता था। राय देवी प्रसाद पूर्ण, सत्यनारायण कविरत्न, और रामचन्द्र शुक्ल की स्वच्छ ब्रजभाषा में लिखी हुई कवितायें सरस्वती में सम्मानित स्थान पाती थीं। अब ब्रजभाषा का इसलिये विरोध हो रहा था कि वह अधिक तोड़ी मरोड़ी न जाय। शब्दों की कीमियागरी दिखाने के लिये क्लिष्ट ऊहाओं और उत्प्रेक्षाओं का बारंबार आश्रय न लिया जाय, साथ ही कविता के भाव ऐसे हो जिनसे देश की नैतिकता, राष्ट्रीयता और जागृति को प्रोत्साहन मिले। केवल कामोद्दीपक विलासी भावों को ही काव्य में प्रमुखता न दी जाय।

खड़ी बोली के विरोध का अवसान

ब्रजभाषा के इने-गिने पक्षधरों के पास न तो खड़ीबोली की कोई उचित बुराई दिखलाने को शेष थी और न ब्रजभाषा का नवीन सौंदर्य उद्घाटित करने को बचा था। अब कभी-कभी चिढ़कर वे जली कटी अवश्य सुना जाते थे।[1] परन्तु मूल विवाद का अन्त हो चुका था। गुप्तजी के पिछले लेख

१—इसका अच्छा आभास निरानन्द की 'होली में खड़ीबोली' नामक कविता देती है। ब्रजभाषा का दल कहता है कि 'हो न खड़ीबोली में कविता है बस यही हमारी राय'। परन्तु कविता क्यों न हो इसका कोई उचित

का प्रतिवाद करते हुये वियोगीहरि ने खड़ीबोली की कविता और उसके कवियों को खूब कोसा और ब्रजभाषा का भावुकता पूर्ण समर्थन करते हुये कहा कि ब्रज की स्त्रियों की गाली भी मधुर होती है। ब्रजभाषा देवभाषा से भी मधुर है जिसे ब्रजभाषा में आनंद नहीं आता वह मनुष्य नहीं बन्दर है।[1] भला ब्रजभाषा का महत्व कौन कह सकता है जिसमें स्वयं श्रीकृष्ण ने मचल-मचल कर माखन रोटी माँगी। वियोगीहरि जी ने अपने निबंध 'टके सेर कविता' में कहा कि नये-नये कवि भावों की बीभत्स हत्या कर रहे हैं और कविता कामिनी का कोमल कलेवर कल्पना कंटकाकीर्ण कुमार्ग में घसीट रहे हैं। उन्होंने कहा कि *प्राचीन कवियों ने शृंगार और सुख को* खूब अपनाया, दुख का रोना नहीं रोया। पर इसमें उनका दोष नहीं था। 'दोष है उस बेफिकरी के जमाने की। आज जैसे दंड पड़ते तो हाय हाय की कविता लिखने में वे भी दक्षता दिखाते।' मैथिलीशरण गुप्त के लेख का संदर्भ देते हुए उन्होंने कहा कि गुप्त जी ने केवल पुराने कवियों की भाषा में ही शब्दों की तोड़ मरोड़ देखी। परन्तु आज के कवियों में छंद-भंग यति भंग और चरणों में शिथिलता तथा मात्रा-दोष उन्हें नहीं दिखलाई पड़ा। अपने कथन की पुष्टि में वियोगीहरि जी ने इस प्रकार के अनेक दोष *मैथिलीशरण गुप्त* की कविता से ढूँढ-ढूँढ कर दिखाये।

जहाँ तक अश्लीलता का प्रश्न था, उन्होंने कहा कि वह तो आज के कवियों में भी वैसे ही बना हुआ है। आर्यसमाजी सुधारक और उपदेशक कवि 'शंकर' ने स्वयं लिखा है—

उत्तर नहीं और अन्त में वह कहता है—'स्वयं खड़ीबोली की कविता सिद्ध हो चुकी है रही।'

सरस्वती १९१३ खंड १ पृ० ३८१।

१—'जिसे ब्रजभाषा की कविता में मजा नहीं आता वह रमके पास नहीं गया। सुना नहीं है कि 'चाहो रस चाखा, तो सीख लेहु भाषा, जो न जाने *ब्रज भाखा, ताहि साखा मृग जानिये*।' इस भाषा की *मधुरता कौन* कह सकेगा?

'बरनन को करि सकै भला तिहि भाखा कोटी,
मचलि मचलि जामे माँगी हरि माखन रोटी।
—वियोगीहरि 'साहित्य सम्मेलन पत्रिका' अंक ६ भाग ९।

'खोल के गहावो, नहीं चोली दिखलावो।
जो न होय घर जावो आवो, काहे सतराति हो।
सारी सरकावो अँचरा में न दुरावो, लावो
कंचुकी में कन्दुक चुराये कहाँ जाति हो'।'

वस्तुत वियोगीहरि ने खड़ीबोली वालों के सभी आरोपों को अनजान में स्वयं ही स्वीकार कर लिया।' ब्रजभाषा की प्राचीन परिपाटी—विहित कविता वर्तमान युग के अनुरूप तो नहीं ही थी, साथ ही ब्रजभाषा और शृंगार का संबंध ऐसा चोली दामन का हो गया था कि शंकर जैसे सुधारक भी ब्रजभाषा में आकर घोर शृंगारिक हो जाते हैं। लोकरुचि ने इसीलिये शृंगार के साथ ही उसके प्राचीन माध्यम ब्रजभाषा का भी विरोध किया। अथवा वियोगीहरिजी के शब्दों में 'बूढ़ी ब्रजभाषा का झोंटा पकड़कर उसे घर से निकाल बाहर किया'। वस्तुत किसी ने ब्रजभाषा को घर से बाहर नहीं निकाला बल्कि उस वृद्धा की शृंगारी कुचेष्टाओं को नियंत्रित करने के लिये उसे घर में बन्द कर दिया।

ब्रजभाषा की ओर से कभी कभी खड़ीबोली का कुछ विरोध कर देनेवालों में जगन्नाथदास रत्नाकर के साथ जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी भी उल्लेखनीय हैं। चतुर्वेदी जी ने साहित्य सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए कहा था कि 'खड़ी बोली की कविता में भाव का अभाव है, ओज की खोज व्यर्थ है। लालित्य के सदा लाले पड़े रहते हैं। प्रसाद का कहीं पता नहीं, रस क्या रसाभास भी नहीं। अर्थ से अर्थ न मतलब से मतलब।' उसी प्रकार रत्नाकरजी ने भी कानपुर में अखिल भारतीय हिंदी कवि सम्मेलन के प्रधान सभापति पद से भाषण देते हुए ब्रजभाषा का महत्व प्रतिपादित किया और खड़ीबोली को एक कृत्रिम शैली बताया।

इस प्रकार के थोथे आरोपों के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी ने कहा था कि 'बोलचाल की भाषा का खड़ीबोली कहकर निंदा करना या उसके पुरस्कर्ताओंको लंगूर आदि बनाकर ब्रजभाषा अपना गौरव नहीं बढ़ा सकती। बोलचाल की हिन्दी में कविता करनेवालों को इस तरह के निन्दावाद की कुछ भी परवाह न करके गुणवती कविता लिखने में चुपचाप लगे रहना

चाहिये'। बद्रीनाथ भट्ट ने भी 'आधुनिक हिन्दी काव्य पर दोषारोपण' शीर्षक लेख में व्रजभाषा वालों के आरोप का खंडन करते हुए कहा कि 'व्रजभाषा के अन्ध पक्षपात का पर्दा अभी लोगों के हृदय पर से अच्छी तरह नहीं हटा। इसलिये कोई कवियों का नाम गिनाते समय खड़ीबोली के कवि को छोड़ देता है। कोई खुलकर निन्दा करता है। कोई छंदों पर बिगड़ खड़ा होता है। पर विकास सिद्धान्त की दिन दहाड़े इज्जत उतारनेवालों को समय स्वयं बेइज्जत करेगा। ऐसा करके वे न व्रजभाषा का उपकार या खड़ीबोली का अपकार कर सकते हैं। हाँ आपसी सद्भाव का संहार और भेद का प्रसार वे अवश्य कर सकते हैं।' उन्होंने स्थिति को स्पष्ट करते हुए संक्षेप में कहा कि हिन्दी के बहुत पुराने कवि जिन्हें कुछ दिनों पहले काव्य के विषय में खड़ीबोली खारी के समान असहनीय लगती थी, अब बिना किसी से कहे सुने अपने आप ही इसमें कविता करने का प्रयत्न करने लगे हैं[२]। नया जमाना आ गया है, नयी बातें पैदा हो गई हैं। नये भाव, नयी जागृति और नये हौसले पैदा हो गये हैं। इस समय देशभक्ति और आत्मत्याग की आवश्यकता है। हमारी कविता भी समय के अनुरूप होनी चाहिये। परन्तु हिन्दी के कुछ महात्माओं की समझ में यह मोटी बात भी नहीं आती। अस्तु उनकी बातों की परवाह ही न करना अच्छा है क्योंकि उपयुक्त तथा अनुपयुक्त कविता और भाषा का फैसला समय ही कर रहा है।

छायावादी युग में खड़ीबोली का चरम उत्कर्ष

सन् १९१३-१४ की कविताओं पर एक सरसरी दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होता है कि अधिकतर रचनाओं के दो उद्देश्य थे, १—सरल भाषा में अत्यंत सुबोध ढंग से साधारण जनता को उपदेश देना; २—नयी परिस्थितियों के

१—विविध वार्ता—सरस्वती १९१४ खंड १।

२—गौरचरण गोस्वामी ने भी, जिन्होंने १९११ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंच से व्रजभाषा का समर्थन करते हुए खड़ीबोली को बुरा कहा था सन् १९१३ में निम्नांकित पद्य खड़ी बोली में लिखा—"

'देख रेल को सिगनल तुम किस कारण से झुक जाते हो?
संसारी जीवों को इससे क्या तुम कुछ सिखलाते हो?

सरस्वती भाग १४ खंड २ पृ० ६४३।

अनुकूल जनमन में देशभक्ति, आत्मबलिदान, आदर्श और अन्य उदात्त भावों का सचार करना। इन उद्देश्यो का फल यह हुआ कि भाषा पूर्णतया बोलचाल की रखी गई और विषय उपदेश प्रधान रहे। प्रमुख कवियो के कुछ उदाहरण इस कथन के प्रमाण हैं। मुकुटधर पांडेय 'जीवन साफल्य' मे लिखते हैं—

(अ) मरने पर, जिसके वियोग में, रिपु भी अश्रु बहाते हैं,
शत्रु मित्र सब एक स्वर से, जिसके गुण गण गाते हैं।
भाग्यवान वह जिसे सदा को था, अजरामर पद पाना,
सफल किया बस उसी एक ने, इस जग में आना आना।
(सरस्वती १९१२ पृ० ६५)

इसी प्रकार रूपनारायण पांडे "महाराज शिवि' नामक कविता में पाठकों को समझाते हैं कि—

(ब) 'है नहीं तन का भरोसा, किस घड़ी छुट जायगा।
एक दिन इस रूप का बाजार भी लुट जायगा॥
इन्द्रियाँ होंगी सिथिल तब भोग विष बन जायगे,
मौत माँगेगें से, न पावेंगे, पड़े पछतायेंगे।"
(सरस्वती १९१२ पृ० १४५)

नाथूराम शकर अपने नये छद 'कलाधरात्मक राजगीत' मे शैशव के बारे मे इस प्रकार पत्र-रचना करते हैं मानों बातचीत ही कर रहे हों। कुछ पक्तियाँ देखिये—

(स) 'जिसमें नटराज ला चुका है, उस नाटक में नचा चुका है,
जिसके अनुसार खेल खेले, वह शैशव दूर जा चुका है।
(सरस्वती १९१२ पृ० १९२)

ऐसी कविताओं में बोलचाल की भाषा का काव्य भाषा को सरल शैली के रूप मे चरम विकास दिखाई पड़ता है। सीधे सादे ढग पर अपने उद्देश्य को व्यक्त करने के लिये इससे अधिक सरल साथ ही सुबोध और समर्थ भाषा का स्वरूप प्रस्तुत करना द्विवेदी स्कूल के कवियों के लिये सम्भव नहीं था। इसी समय नये प्रकार का भाव बगला से हिन्दी साहित्य में आने लगा। रवीन्द्र का प्रभाव हिन्दी कवियों पर पड़ने लगा और कविता मे उनकी

दार्शनिकता झलकने लगी। इन भावों की व्यंजना के लिये एक नयी भाषा शैली का विकास हुआ। सन् १९१४–१५ के आसपास जयशंकर प्रसाद, बद्रीनाथ भट्ट, रायकृष्णदास, मुकुटधर पांडेय और एक भारतीय आत्मा (माखनलाल चतुर्वेदी) आदि की कविताओं से इस शैली का सूत्रपात हुआ। भाषा में लाक्षणिकता और व्यंजकता के साथ ध्वन्यात्मकता आने लगी। नये शब्दों का प्रयोग हुआ। ये शब्द कुछ तो बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी से लिये गये तथा कुछ ब्रजभाषा के पुराने शब्दों का नया संस्कार करके बनाये गये। ऐसे शब्दों का प्रयोग क्रमशः बढ़ चला।

सन् १९१३ ई० के 'सरस्वती' में कवीन्द्र रवीन्द्र' का परिचय प्रकाशित हुआ। बंगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल की 'वृजांगना' का गुप्तजी ने अनुवाद भी कुछ वैसी ही भाषा में इसी वर्ष आरंभ किया और इसी वर्ष 'सरस्वती' में 'प्रसाद' जी की पहली कविता 'जलद आवाहन' निकली। बद्रीनाथ भट्ट की कविताएँ द्विवेदी स्कूल में रहकर भी नवयुग के आगमन की सूचना दे रही थीं, जैसे 'आत्मत्याग' से कुछ पंक्तियाँ देखिये—

> "दे रहा दीपक जल कर फूल।
> रोपी उज्वल प्रभा पताका अन्धकार हिय हूल।
> इसके जीवन तरु का केवल आत्मत्याग है मूल।
> जिसके बल, मनहरण सुरभिमय, खिलता है यश फूल॥"[1]

इसी प्रकार 'सागर में तिनका' 'ओस की निर्वाण प्राप्ति' आदि रहस्यात्मक रचनाओं द्वारा भाषा में भावानुरूप परिवर्तन उपस्थित हो रहा था। मुकुटधर पांडे की 'उद्‌गार' 'रूप का जादू' आदि कवितायें इस दिशा में एक कदम और आगे बढ़ी हुई दिखाई देती हैं। मानवीकरण, विशेषण विपर्यय आदि के सीधे प्रयोग दिखाई देने लगते हैं। पांडेय मुकुटधर की कविता 'उद्‌गार' से कुछ पंक्तियाँ देखिये—

> "मेरे जीवन की लघु तरणी आँखों के पानी में तर जा।
> मेरे उर का छिपा खजाना, अहंकार का भाव पुराना।
> बना आज तू मुझे दिवाना, तप्त स्वेद बूँदों में ढर जा।" [2]

१—'सरस्वती' भाग १५, खंड–२ पृ० ६०१।

२—'सरस्वती' १९१८ भाग १, पृ० २१२।

मैथिलीशरणगुप्त ने भी 'अनुरोध', 'यामी', 'दूती', 'स्वयमागत' आदि अन्य इस प्रकार का कवितायें लिखीं। रवीन्द्र से प्रभावित रायकृष्णदास ने 'खुलाद्वार', 'अहोभाग्य', और 'शुभकाल' आदि कविताओं का प्रणयन किया। ऐसी कविताओं का उत्कृष्ट स्वरूप सुमित्रानंदन पंत की 'वीणा' और 'पल्लव' की आरंभिक कविताओं में दिखाई पड़ा। अब कविता इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता की अवस्था पार कर चुकी थी और वह भावात्मक अवस्था में चरणनिक्षेप कर रही थी। इन्हीं कविताओं के द्वारा खड़ी बोली में अभूतपूर्व माधुर्य और सौंदर्य आया। द्विवेदी युग में पर पद्य पर बहुत कहा गया। अब क्रमशः काव्य में स्वानुभूति को प्रधानता दी जाने लगी। रहस्यवादी कवियों की भक्ति-भावना भी प्राचीन कवियों से भिन्न एक प्रकार की बौद्धिक या आध्यात्मिक अनुभूति ही थी। इन लोगों का भाषा आदर्श भी पहले से पूर्णतया बदल गया। स्थूल एवं बाह्य पदार्थों का विवरण प्रस्तुत करने या उपदेश के लिये जैसी सरल भाषा अपेक्षित थी उस भाषा से स्वानुभूति और रहस्यात्मक सूक्ष्म भावनाओं की व्यंजना संभव नहीं थी। अतः लाक्षणिकता, धर्म-विपर्यय, प्रतीकात्मकता, मानवीकरण, चित्रात्मकता तथा ध्वन्यर्थ व्यंजकता काव्य भाषा के गुण निर्धारित किए गए। डा० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में 'यह चमत्कारपूर्ण और आलोकमय विशेषणों तथा चित्रमय और ध्वन्यात्मक शब्दों का युग था।' अनेक नये नये विशेषण हिंदी तथा संस्कृत से बनाये गये जैसे रेशम से रेशमी, स्वप्न से स्वप्निल, अवसान से अवसित आदि। इस प्रकार के विशेषण गढ़ने या इस भाषा-शैली के प्रवर्तन में पंतजी का प्रमुख हाथ रहा। उन्होंने ब्रज के पुराने शब्दों दुराव, घेर, जुड़ाना, हुलास आदि को नवजन्म दिया।

सन् १९२० के आस-पास उनकी बसंत श्री, स्वप्न, छाया, विसर्जन, बालापन और परिवर्तन आदि कविताओं का प्रणयन हुआ। उनमें भाषा का एक नया रूप दिखाई पड़ा। 'छाया' की निम्नांकित पंक्तियों में यह स्वरूप देखिये—

'काला-निल की कुंचित गति से बार बार कंपित होकर,
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर नीरव शब्दों में निर्भर।

किस अतीत का करुण चित्र तुम खींच रही हो कोमलतर,
***मग्न भावना, विजन वेदना विकल लालसाओं से भर कर !*[1]**

द्विवेदीयुगीन सरल पद्य-रचनाओं के स्थान पर इन कविताओं में भाषा के शृङ्गार और काव्य के कलापक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया है। यह कला भाषा और ध्वनि के माध्यम से ही व्यक्त हुई। इसलिए इस काल की रचनाओं में भाषा की अद्भुत शक्ति का विकास हुआ। रूप-व्यंजक शब्दों द्वारा चित्रमय भाषा का निर्माण किया गया। पंतजी ने 'पल्लव' के प्रवेश में लिखा 'भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है।' उन्होंने नादमय चित्र अंकित करनेवाले ध्वन्यर्थ-व्यंजक शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया। इन शब्दों में प्रयुक्त वर्णों की ध्वनि मात्र से उनका अर्थ पदार्थों के रूप, व्यापार का चित्र पाठक के मन पर अंकित हो जाता है। उन्होंने कहा भी है कि संसार के पृथक् पृथक् पदार्थ पृथक् पृथक् ध्वनियों के चित्रमात्र हैं। कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस का मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों।[2]

अपने आदर्श के अनुरूप नये नये शब्दों से उन्होंने काव्य भाषा को अलङ्कृत किया। नाद सौंदर्य के लिये न जाने कितने ध्वन्यर्थ-व्यंजक शब्द गढ़े, जैसे सन्दन, थर्राना, चीत्कार, उच्छृंखल, अट्टहास, उल्लास, लोल हिलोर, पात, रोर, निर्झर, बुदबुद, कलरव, कलकल, छलछल, सन्सन्, टलटल, गुंजन, कसन, गर्जन, गुनगुन आदि। संगीत भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न भिन्न स्वरूपों को प्रकट करने के लिये भिन्न भिन्न पर्यायों की खोज की गई, जैसे हिलोर, लहर, तरंग, वीचि, उर्मि की आत्मा का स्पष्ट अंतर पहचाना गया। इसी प्रकार भिन्न भिन्न अवसरों और प्रभावों की उत्पत्ति के लिये भी भिन्न भिन्न पर्यायों का प्रयोग किया गया जैसे हवा के लिये अनिल, वायु, पवन और प्रभंजन आदि के भिन्न भिन्न रूप अवसरानुकूल प्रयुक्त हुये। भाव और भाषा में मैत्री अथवा स्वरैक्य स्थापित किया गया। ध्वन्यर्थ-व्यंजक शब्दों

१—पंत 'पल्लव' १९२६ पृ० ७१।

२—पंत 'पल्लव' प्रवेश पृ० २६।

द्वारा नाद के साथ ही रूप और गति का भी चित्रण किया गया। 'निर्झरी' के बहने की गति और ध्वनि दोनों ही पंत की निम्नलिखित पंक्तियों में दर्शनीय है—

> 'यह कैसा जीवन का गान
> अलि! कोमल कलमल् टलमल्?
> अरी शैल बाले नादान!
> यह अविरल कलकल छलछल?'[1]

अथवा—

> 'कभी अचानक भूतों का-सा
> प्रकटा विकट महा आकार'

में दीर्घ मात्राओं की योजना द्वारा भूतों का महा आकार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। लाक्षणिकता के लिये प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग घटा जैसे, मदिर मुसकान, मधुमयगान, स्वर्णविहान आदि शब्दों में मदिर शब्द मुसकान की मादकता का, स्वर्ण प्रभात की श्री, शोभा और समृद्धि का तथा मधु संगीत की मोहकता और मधुरिमा का प्रतीक बन गया है। 'हँसने का गान' से इस संबंध में कुछ पंक्तियाँ देखिये—

> 'उषा की कनक मदिर मुसकान
> उसी में था क्या यह अनजान?
> भला उठते ही तुमको आज
> दिखाया किसने इसका ध्यान।
> स्वर्ण पखों की विहग कुमारि।
> अमृत है यह पुलकों का गान[2]।'

से उसके अर्थ का चित्र खिंच जाने लगा। 'निजभाषा' की नयी शैली विकसित हुई। इन भाव चित्रों के अनुसार शब्दों को भी स्त्रीलिंग से पुल्लिंग या पुल्लिंग से स्त्रीलिंग कर दिया गया। पंतजी प्रभात को केवल इसलिए स्त्रीलिंग मानते हैं कि उसे पुल्लिंग मान लेने पर उसका सारा जादू, स्वर्ण, श्री और सौरभ आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, तथा उसका चित्र नहीं उतरता। नाद द्वारा चित्रों की योजना के लिए भाववाचक संज्ञाओं का मानवीकरण किया गया। अमूर्त को मूर्त रूप दिया गया। कभी कभी तो एक अमूर्त की दूसरे अमूर्त से उपमा देकर बिलकुल ही नवीन अभिव्यंजना की पद्धति अपनाई गई। इन उपायों से भाषा में जो अद्भुत सामर्थ्य आई उसका परिचय पंत की 'परिवर्तन' कविता की कुछ पंक्तियाँ भलीभांति दे देंगी—

'जगत का अविरत हृत्कम्पन,
तुम्हारा ही भय सूचन।
निखिल पलकों का मौन पतन,
तुम्हारा ही आमन्त्रण।

विपुल-वासना-विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल-काल-कृमि से घुस पल पल,
तुम्हीं स्वेद सिंचित-संसृति के स्वर्ण-शस्यदल
दलमल देते, वर्षोपल बन, वांछित कृषिफल।
अये, सतत ध्वनि-स्पन्दित जगती का दिङ्मंडल।

नैश गगन सा सकल
तुम्हारा ही समाधिस्थल[1]।'

इनकी यह भाषा शैली प्रसाद, निराला और महादेवी-की रचनाओं द्वारा अपने चरम् उत्कर्ष पर पहुँची। काव्य भाषा अत्यन्त समृद्ध और संस्कृत हो गयी। उसमें माधुर्य, जिसकी व्रजभाषा के कवि विशेष शिकायत करते थे, के अलावा नादात्मकता, लाक्षणिकता और चित्रात्मकता की वह अद्भुत शक्ति आई जिसका व्रजभाषा के सैकड़ों वर्षों के इतिहास में यत्र तत्र विरल उदाहरण

१—वही पृ० १२१।

मिलता है। खड़ी बोली के गद्य में वस्तुतः वह मधुरिमा आई जो ब्रजभाषा के पद्य में भी सर्वत्र नहीं मिलती। श्रीधर पाठक का वर्षों पूर्व देखा हुआ स्वप्न सत्य निकला। ब्रजभाषा के समर्थकों के पास विरोध करने के लिए अब कोई कारण नहीं रह गया। पासा पलट गया। ब्रजभाषा पर ही वार होने लगा। पंतजी ने कहा कि आज हमें केवल मनोविनोद के लिए कविता की एक रंगीन और कृत्रिम भाषा नहीं चाहिये बल्कि हमें एक ऐसी राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है कि जिसमें राष्ट्रीयता, नवीनता आधुनिकता और विपुलता के लिए पूर्ण अवकाश हो। हमें पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा चाहिये। यह अत्यन्त हास्यास्पद और लज्जास्पद हेत्वाभास है कि हम सोचें एक स्वर में और प्रकट करें दूसरे स्वर में, हमारे मन की वाणी मुह की वाणी न हो। हमारे गद्य का कोष भिन्न पद्य का भिन्न हो"........हम इस ब्रज की जीर्णशीर्ण छिद्रों से भरी पुरानी छींट की चोली नहीं चाहते। इसकी संकीर्ण कारा में नन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है। हमारे शरीर का विकास रुक जाता है[1]।' खड़ी बोली में ही आधुनिक युग के वस्तु वैचित्र्य, वर्णवैचित्र्य, विषय तथा विन्यास वैचित्र्य के लिए अपेक्षित व्यापकता एव विस्तार है।

पत जी ने काव्यभाषा मे परिवर्तन के लिए जो तर्क उपस्थित किये वे न केवल भाषा बल्कि पूर्णतया हिन्दी काव्य में आमूल परिवर्तन से सबद्ध हैं। काव्य मे यह परिवर्तन जनजीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण उपस्थित हुआ था। जीवन की विविधता के कारण काव्य में एक-रूपता का बना रहना सम्भव नहीं था। कविता मे भी विविध आकार रूप और रग के चित्र प्रतिबिंबित होने लगे। ये सभी चित्र रीतिकालीन संकुचित चौखटे मे नहीं अट सकते थे और विवश होकर काव्य के रूपों, छंदों और विषयों मे भी भाषा क्रांति के साथ आमूल परिवर्तन हुआ।

ब्रजभाषा काव्य की सकीर्ण और कृत्रिम अभिव्यजना प्रणाली का एक व्यग्य चित्र प्रस्तुत करते हुए 'पल्लव' की भूमिका में पत जी ने लिखा है—

'भाव और भाषा का ऐसा शुक प्रयोग, राग और छंदों की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एव तुकों

१—वही भूमिका पृ० १६।

का ऐसी अश्रान्त उपन्यस्थि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया। और बचारे श्रोत्रायन की बेदी उपमा को तो नाथ ही दिया। आख की उपमा? खंजन, मृग, कंज, मीन इत्यादि, होठों की? किसलय, प्रवाल, लाल, लाख इत्यादि और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों को? शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि'[1],

स्पष्ट है कि यहां पर भाषा की समस्या काव्य के समस्त उपादानों से अलग करके नहीं देखी गयी है। पंत जी से पूर्व द्विवेदी जी ने भी अपने निबन्धों-'कविकर्त्तव्य 'नायिकाभेद', कवि और कविता' आदि-द्वारा भाव, विषय, छंद, उपमा और शैली के साथ ही भाषा के परिवर्तन का निर्देश किया था। बद्रीनाथभट्ट ने भी इसीलिए खड़ी बोली का आग्रह अधिक किया था कि ब्रजभाषा साहित्य जिसके अन्तर्गत न केवल भाषा आती है वरन् काव्य के अन्य सभी उपादान सम्मिलित हैं, नवीन युग के लिये पूर्णतया अनुपयुक्त था। अतः नये साहित्य के अनुकूल नवीन भाषा शैली की मांग स्वाभाविक और यथार्थ थी। इस परिवर्तन से प्राचीन संस्कारों में पले हुये पंडितों को अवश्य धक्का लगा और उन लोगों ने विरोध किया। परिवर्तन से पुराण पंथी लोगों को भय होता ही है। नवीनता और प्राचीनता से उतना ही विरोध है जितना दिन और रात से।[2]

हिन्दी साहित्य में पंतजी के आविर्भाव के पश्चात् भाषा का विवाद समाप्त हो गया। परन्तु अन्य प्रश्नों को लेकर ब्रजभाषा और खड़ी बोली में छेड़छाड़

१—वही पृ० १३।

२—प्राचीनतावादियों को लक्ष्य करके बदरीनाथ भट्ट ने अपनी कविता, 'परिवर्तन और भय' में लिखा था—'यह निकला कैसा उजियाला।

भय से छिप, तम ने सोचा क्या जगी काल की है ज्वाला,
पड़ा धर्मसंकट हा! हा! अब कौन हमारा रखवाला।
हँसकर बोली विमल चन्द्रिका कहाँ छिपोगे अब लाला।'

सरस्वती १९१४ भाग २ पृ० ५३७।

चलता रहा। लेख, कवितायें, प्रहसन और चुटकुले इस सम्बन्ध में निकलते रहे। सन् १९२५ के आसपास 'कवि कौमुदी' मासिक पत्रिका में पंडित रामनरेश त्रिपाठी के प्रहसन, जिनका सग्रह 'दिमागी ऐयासी' के नाम से प्रकाशित हुआ, निकलने लगे थे। इनमें व्रजभाषा, नखशिख और नायिका भेद आदि पर व्यंग्य थे। इन प्रहसनो का उद्देश्य बताते हुये त्रिपाठीजी ने लिखा था कि यह सग्रह 'कविता में अवाछनीय कामुकता और आधारच्युत अतिशयोक्तियों की धारा को मन्द कर देने मे किसी हद तक समर्थ होगा।' नायिकाभेद पर लिखते हुये उन्होने खड़ी बोली की विशेषता इस प्रकार बतायी है :

बात यह है कि खड़ीबोली की कविता मे जितने काम हैं सब खड़े खड़े हो करने के हैं, जैसे, उठो, दौड़ो, चलो, मारो, तोड़ो, फोड़ो, उन्नतिगिरिपर चढ़ो, आगे बढ़ो इत्यादि। न इसमे विरह है न शृंगार, न हास्य है न करुण, न शात है न अद्भुत रस। वीर, भयानक, रौद्र और वीभत्स इन्हीं चार रसों का आधिपत्य है। फिर बैठने या लेटने की कहाँ गुंजाइश है। यहाँ सब खड़ी खड़ी बातों का वर्णन है इसीसे इसका नाम खड़ीबोली पड़ गया। नायिकाभेद और नखशिख की आवश्यकता नहीं[1]।'

सन् १९२६ तक (पल्लव का प्रकाशन) खड़ीबोली का मूल विवाद समाप्त हुआ। १९२५ के प्रथम अखिल भारतीय हिन्दी कवि सम्मेलन के खड़ीबोली विभाग के सभापति पद से कानपुर में अयोध्याप्रसाद उपाध्याय ने कहा भी था कि 'खड़ीबोली के आन्दोलन का युग समाप्त हो गया है। तथापि इसकी कुत्सा करनेवाले कुछ सज्जन अभी मौजूद हैं।' इस छिटपुट छेड़छाड़ मे खड़ीबोली ही अधिकतर आक्रामक रही। इस बार भी प्रथम उत्थान की तरह दोनों मे समझौते का प्रयत्न किया गया। इनमे भगवन्नारायण भार्गव और हरिऔधजी के प्रयत्न स्मरणीय हैं। भार्गवजी ने साहित्य सम्मेलन के पद्र अधिवेशन मे कहा था कि हिन्दी साहित्य के सवर्द्धनार्थ प्राचीन साहित्य की सुरक्षा आवश्यक है। व्रजभाषा साहित्य में शृंगार के अलावा भी संग्रहणीय सामग्री है और उसके बिना हिन्दी को उच्च शिक्षा के पाठ्य क्रम म कैसे रखा जा सकेगा। व्रजभाषा की पुरानी शैली का विरोध जब अनुचित

१—रामनरेश त्रिपाठी—'स्वप्नों के चित्र' प्र० स० पृ० ४८-४९।

सीमा तक बढ़ गया तो उसके संरक्षण की चिन्ता हिन्दी प्रेमियों को होने लगी। और हरिऔध जी ने 'विभूतिमती ब्रजभाषा' शीर्षक प्रबन्ध में उसके वैभव का परिचय देते हुए उसके प्रति उचित सम्मान के लिये हिन्दी प्रेमियों से निवेदन किया। 'ब्रज साहित्य मंडल' की स्थापना की गयी और ब्रजभारती का प्रकाशन हुआ। धीरे धीरे विवाद शान्त हो गया और युग की अनुकूलता के कारण खड़ीबोली काव्य का स्वाभाविक प्रसार हुआ।'

———

षष्ठ अध्याय

खड़ीबोली आन्दोलन की अन्तःप्रवृत्तियाँ

खड़ीबोली आन्दोलन का प्रेरक स्रोत

खड़ीबोली का आन्दोलन अर्थात् काव्य की भाषा के रूप में खड़ीबोली का प्रयोग केवल भाषा परिवर्तन का आन्दोलन नहीं था, यह आन्दोलन तो युग की प्रवृत्तियों के अनुरूप अभिव्यक्ति के माध्यम में परिवर्तन का आन्दोलन था। यद्यपि अयोध्याप्रसाद खत्री ने आन्दोलन का स्वरूप केवल भाषा के बाह्य परिवर्तन तक ही रखा था, परन्तु 'खड़ी बोली पद्य' की भूमिका में पिन्काट साहब ने लिखा था कि भाषा सम्बन्धी यह क्रान्ति मूलतः एकता और संगठन की भावना से प्रेरित है। खत्रीजी ने खड़ीबोली पद्य के दोनों भागों में से किसी की भूमिका में कहीं भी स्वयम् ऐसा कुछ नहीं लिखा है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि उन्हें आन्दोलन की प्रेरणा पूर्णतया राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य, एकता और संगठन की भावना से मिली थी या उस नवीन भावना को वे साहित्य में नवीन आवरण एवं माध्यम से व्यक्त करना चाहते थे। वे तथा उनके अन्य कई साथी खड़ीबोली का समर्थन या तो कचहरीकी भाषा उर्दू के प्रति झुकाव होने के कारण या शिक्षा विभाग की सरकारी नीति के कारण करते थे। ब्रजभाषा की दुर्बोधता भी इन लोगों को खड़ीबोली की ओर आकर्षित कर रही थी पर अचेतन रूप में युग की बदली हुई प्रवृत्ति ही उसकी मुख्य प्रेरक शक्ति थी जो दूसरे उत्थान में स्पष्ट प्रकट हुई।

खड़ीबोली के समर्थकों का दल राष्ट्रीय आन्दोलनों से पूर्णतया प्रभावित था और साहित्य को पुरानी रूढ़ियों से मुक्त कर नवीन भावना से अनुप्राणित करना चाहता था। नवीन भावना प्राचीन माध्यम द्वारा भली-भाँति नहीं व्यक्त हो सकती थी। उसके लिये नई भाषा, शैली, छन्द आदि की आवश्यकता थी। लोग शैली और भाषा को भावों का वस्त्र या आवरण मात्र मानते हैं। ऐसा मान लेने पर ही यह सोचना सम्भव हो जाता है कि

भावरूपी शरीर ज्यों का त्यों बना रहने पर भी भाषा रूपी वस्त्र बदल कर नया कर दिया जा सकता है। यह विचार उचित नहीं प्रतीत होता। भाव और भाषा का वही सम्बन्ध है जो प्राण और शरीर का है। जिस प्रकार नवीन जीवन के लिये नया शरीर आवश्यक है उसी प्रकार नवीन भावों के लिये नवीन माध्यम भी अनिवार्य है। खड़ीबोली आन्दोलन के समर्थकों का दल इसी भावना से प्रेरित हुआ था। इस वर्ग में श्रीधर पाठक के अतिरिक्त महावीर प्रसाद द्विवेदी, बदरीनाथ भट्ट और मैथिलीशरण गुप्त आदि प्रमुख साहित्यिक उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने केवल ब्रजभाषा का ही विरोध नहीं किया बल्कि ब्रजभाषा में व्यक्त रीतिकालीन शृंगार-प्रधान साहित्य के सभी पक्षों का विरोध किया। ये लोग राष्ट्रीयता की नवीन भावना से अनुप्राणित थे। उस समय राष्ट्र को राजनैतिक परतन्त्रता से, समाज को रूढ़ियों से, धर्म को आडंबरों और अन्धविश्वासों से मुक्त करने का जो विराट् आन्दोलन चल रहा था वही साहित्य में भी व्यक्त हुआ। बन्धन के स्थानपर मुक्ति या स्वातन्त्र्य और संकीर्णता के स्थान पर उदारता की भावना राष्ट्र में नव जीवन का संचार कर रही थी। साहित्य में भी सीमित विषयों, छंदों और अभिव्यंजना की परिपाटीविहित प्रणाली के स्थान पर नवीन विषय, छन्द और शैली का प्रचलन इसी नवीन भावना का परिणाम था। अतः भाषा का यह आन्दोलन उस साहित्यिक आन्दोलन का एक अविभाज्य पक्ष था जो स्वयम् एक विराट् राष्ट्रीय क्रान्ति से चालित हुआ था।

अंग्रेजी संसर्ग और क्रान्ति का सूत्रपात

उन्नीसवीं शताब्दी (उत्तरार्द्ध) के हिन्दू समाज में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए। अपने ही बनाये हुए संकीर्ण घेरे में हिन्दू समाज का दम घुट रहा था उसी समय पश्चिमी हवा का एक तेज और ताजा झोका आया जिससे लोगों में नवीन चेतना जगी और अपनी कारा से मुक्ति के लिये सामूहिक प्रयत्न आरम्भ हुआ। सामाजिक जीवन इतनी तेजी से बदलने लगा कि उसे हम एक क्रान्ति[१] कह सकते हैं। रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है कि परिवर्तन का

१—"The conquest of Bengal by the English was not only a political revolution but involved a

प्रक्रिया इतनी द्रुतगामी थी कि एक ही पीढ़ी के जीवन-काल में समाज के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन आ गया। परिवर्तन की इस क्षिप्रगति पर रमेशचन्द्रदत्त जैसे इतिहासकार को भी आश्चर्य हुआ था[१]। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी इसे 'रक्तहीन क्रान्ति' कहा है।

अंतिम मुगल सम्राटों के अव्यवस्थित शासनकाल में व्याप्त आये दिन के लूट-पाट, क्रूर व्यवहार एवं शोषण से हिन्दू जनता मृतप्राय सी हो रही थी। समाज में अनेक कुरीतियां घर कर गई थीं। वह गतिहीन, चेतनाशून्य तथा रूढ़िवादी हो गया था। विरोधी आघातों से घबड़ाकर हिन्दू-समाज धर्म के नाम पर इन्हीं कुरीतियों को अपनी अंतिम थाती की तरह छाती में छिपाकर बैठ गया था। समाज पर क्रूर मंडूकों का आतंक छाया हुआ था। इसी समय पाश्चात्य सभ्यता की संदेशवाहक अंग्रेज जाति के साथ हमारा संपर्क हुआ। इनकी सभ्यता में एक नई स्फूर्ति तथा ताजगी थी। शताब्दियों के बोझ से शिथिल एवं स्थिर भारतीय समाज के लिये उससे प्रभावित होना अवश्यम्भावी था। समाज का पतन अपनी सीमातक पहुँच चुका था। उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी। केवल जगाने मात्र की देर थी। यह कार्य अंग्रेजोंने किया—इसे निःसंकोच स्वीकार करना पड़ेगा। यह एक विरोधाभास ही है कि अंग्रेज हमारे ऊपर अधिकाधिक विजय पाने के लोभ में हमें जगा गये। अपनी राजनैतिक विजय को अधिक स्थायी बनाने के लिये उन लोगों

---

greater revolution in thought and ideas, in religion and society'.

'Remesh Chandra Dutta'.

(हिन्दी नाटक उद्‌भव और विकास पृ० १७५ पर अवतरित)

१—रमेशचन्द्र दत्त ने सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को बड़ौदा से, जहाँ वे दीवान थे, एक पत्र में लिखा था—

"What a wonderful revolution we have seen within the life time of a generation···a wonderful change."

(Bhargava: Prose Selection p. 117).

ने हमारे ऊपर सांस्कृतिक विजय का आयोजन आरम्भ किया और उन्होंने ईसाई धर्म एवं अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार तथा वैज्ञानिक सुविधाओं का प्रसार मुख्य कार्यक्रम के रूप में स्वीकार किया। इसके अलावा, बल, छल, बल आदि सभी उपायों से वे हमारे ऊपर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे।[1] अपने धर्म की तुलना में हमारे धर्म की हीनता सिद्ध करने के उद्देश्य से ईसाई धर्म प्रचारक हिन्दू धर्म और समाज की बुराइयों का चित्रण किया करते थे। हिन्दूसमाज में अंगरेजी पढे लिखे लोग उन बुराइयों का अनुभव करने लगे थे। विलायत यात्रा से लौटे हुए शिक्षितों को उन कुरीतियों और संकीर्णताओं का स्वयम् शिकार होना पड़ा। हिन्दू समाज की संकीर्णता में विलायत यात्रा निषिद्ध थी। विलायत से लौटे हुए शिक्षित व्यक्ति जब नवीन बुद्धिवादी दृष्टि से समाज के बाहर-भीतर एक परीक्षक की तरह उसकी कुरीतियों का विश्लेषण करते थे तो उनमें से अधिकांश थोथी और हास्यास्पद लगती थीं। उन्हीं लोगों ने उनके विरुद्ध सबसे पहले विद्रोह भी किया तथा नवीन सामाजिक व्यवस्था और धर्म-कर्म की आवश्यकता का अनुभव किया। सर्वप्रथम उन्हीं के जीवन में एक मानसिक क्रान्ति हुई। ब्रह्म समाज इस मानसिक क्रान्ति का प्रथम प्रतीक था।

क्रान्ति का अग्रदूत बंगाल

बंगाल अंग्रेजों के सम्पर्क में पहले आया। कलकत्ता अंग्रेजों का मुख्य नगर, तथा बंगाल उनके व्यापार, राज्य विस्तार और धर्म प्रचार का केन्द्र रहा। पश्चिमी विचारों के निकट सम्पर्क में इसलिये पहले बंगाल ही आया और सभी प्रकार के सुधारवादी आन्दोलन तथा परिवर्तन वहीं से होकर हिन्दी प्रदेश की ओर बढे। ईसाई-धर्म प्रचार, पाश्चात्य वैज्ञानिक सुविधाओं—रेल, तार, डाक, अस्पताल, जलकल और अंग्रेजी शिक्षा आदि का बंगाल पर तीव्र प्रभाव पड़ा। लोग अंग्रेजियत की ओर तेजी से झुके। हिन्दू धर्म की कुरीतियों का तीव्र विरोध हुआ। यह सब विचार स्वातन्त्र्य का ही फल था।

१—सर जान शोर ने अंग्रेजी नीति के सम्बन्ध में लिखा है।

"The fundamental principle of the English had been to make the whole Indian nation subservient,

बंगाल के प्रथम सुधारक राजा राममोहनराय श्रीरामपुर के मिशनरियों से प्रभावित हुये। मूर्तिपूजा के प्रश्न पर उनका अपने पिताजी से काफी विरोध हो गया और सन् १८२६ ई० में उन्होंने 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की जिसके अन्तर्गत मूर्तिपूजा, छूआछूत आदि आडम्बरों के लिये बिल्कुल स्थान न था। केशवचन्द्र सेन के प्रभाव से समाज ईसाई धर्म की ओर और अधिक झुका, परन्तु महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने पुनः इसे भारतीयता की ओर मोड़ा। राममोहनराय ने 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना मात्र की थी, इसकी प्राणप्रतिष्ठा का श्रेय महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर को ही है। इनके पिता द्वारकानाथ ठाकुर विलायत हो आये थे और जाति बहिष्कृत थे। ब्राह्मण समाज में ऐसे लोगों की प्रतिष्ठा नहीं थी अतः एक नये 'समाज' की प्रतिष्ठा की गई। एक तरफ से ईसाई धर्म का धावा हो रहा था, दूसरी ओर सनातन धर्मियों की सकीर्णता क्षुद्र से क्षुद्रतर होती जा रही थी। बंगालियों को यश, मान, पद की इच्छा उन्हें पश्चिम की ओर खींच रही थी। अतः एक ऐसे समाज का संगठन आवश्यक था जो बाहर से लौटे हुए हिन्दुओं को भारतीयता के घेरे में रखकर उनमें ऐक्य बनाये रहे।

सन् १८३८ ई० में महर्षि देवेन्द्रनाथ ने 'तत्वरजिनी' सभा की स्थापना की। (पीछे 'विद्यावागीश' ने इसका नाम बदलकर 'तत्वबोधिनी' कर दिया) सन् १८४३ ई० में यह सभा 'ब्रह्मसमाज' में मिला दी गई। इसी अवसर पर देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि अब हम लोग शिक्षित हो चुके हैं, लकड़ी पत्थर पूजना अब हमारे लिये संभव नहीं है। 'तत्वबोधिनी' के मिल जाने के बाद ब्रह्म समाज का प्रभाव बंगाल में अधिक बढ़ा। पंडितों की सकीर्णता के शिकार सभी शिक्षित बंगालियों ने इसमें योग दिया। राजा राममोहनराय घर से ही तिरस्कृत थे, समाज की बात ही क्या थी? माइकेल मधुसूदन दत्त ईसाई ही हो गये थे। प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भी विलायत यात्रा के कारण जाति बहिष्कृत थे।[1] इन लोगों

---

in every possible way, to the interest and benifits of themselves.

(संपादक माधवराव सप्रे, निबन्ध संग्रह पृ० १२ पर अवतरित)

1. I was an outcaste (being an England returned Brahmin in the village where I live.

ने ईसायियों की तरह सामाजिक सेवा का कार्यक्रम अपने धर्म समाज का मुख्य अंग माना। क्रिश्चियन मिशन की तरह अस्पताल और शिक्षा प्रचार रामकृष्ण मिशन का मुख्य कार्यक्रम ही है। राजा राममोहनराय ने सती प्रथा और बहुविवाह प्रथा का प्रबल विरोध किया। सती प्रथा को उन्होंने लॉर्ड बैंटिक की सरकार से अवैध भी घोषित करा दिया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह निषेध का प्रमाणपूर्वक प्रतिवाद किया। उनके प्रमाणों के आधार पर उसके लिये एक आन्दोलन ही चल पड़ा। इन लोगों की सामाजिक सेवायें बहुत कुछ उनके व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभवों से प्रेरित थीं। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि हमारी सेवायें सम्भवत बहुत कुछ हमारे व्यक्तिगत अनुभवों के परिणाम स्वरूप आरम्भ हुई थीं।

इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि सामाजिक कार्यकर्ताओं की सेवाओं के मूल में केवल प्रतिक्रियात्मक भावना ही थी बल्कि अंग्रेजी शिक्षा के कारण उनकी बुद्धि सजग हो चुकी थी। विवेकपूर्वक उन लोगों ने अच्छे बुरे का निर्णय किया। बुराइयों का परित्याग आवश्यक समझ कर उन लोगों ने उनके विरुद्ध आन्दोलन किया। अन्धविश्वासों का आँख मूँदकर अनुसरण उनके लिये सम्भव नहीं था। वैज्ञानिक बुद्धि सबका अविश्वास करती है। वह केवल अपने विवेक पर विश्वास करती है। विवेक और तर्क द्वारा जब तक कोई बात सत्य न सिद्ध हो जाय तब तक नव शिक्षित व्यक्ति उसे स्वीकार नहीं कर सकता था। जो तर्क और बुद्धि की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकी, जो बातें बुद्धिसंगत नहीं जान पड़ीं, उन्हें धर्म या समाज के भय से या 'बाबा वचन प्रमाण' के आधार पर मान लेना सम्भव नहीं रह गया था। बाह्याडम्बरों से जकड़े हुए मृतप्राय हिन्दू समाज की दुर्दशा का प्रत्यक्ष अनुभव चिन्तनशील मनीषी करने लगे थे। लोकाचार से जकड़े हुए जड़-समाज की उपमा नदी की मूलधार से विच्छिन्न स्तब्ध शाखा से देते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'दुईउपमा' कविता में लिखा कि जिस नदी का प्रवाह रुक

Today I am an honoured member of the community. My Public services have, Perhaps partly contributed to the result. (Sir Surendra Nath Banerjee) 'A Nation in making'

जाता है सेवार की सहस्रों जंजीरें उसे जकड़ लेती हैं, उसी प्रकार जिस जाति की चेतना लुप्त हो जाती है उसे पद पद पर जीर्ण लोकाचार जकड़ लेते हैं।[1] हिन्दू समाज की ठीक ऐसी ही दशा हो रही थी। माईकेल जैसे प्रगतिशील विचार के लोगों ने इस जीर्ण लोकाचार के विरुद्ध उग्र विरोध किया। उन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार करते समय स्वरचित कविता में कहा था कि अन्धविश्वास की निविड़ तमिस्रा में डूबे हुए पापी और शैतानों द्वारा दिखाई जाने वाली उस रोशनी की मैं कोई परवाह नहीं करता जो अन्धों को स्वर्ग ले जाती है।[2]

बुद्धिवाद का प्रभावः—

तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि उस समय विचारशील लोग अपने आसपास बाहर-भीतर एक निरीक्षक की भाँति दृष्टि दौड़ाकर अच्छाई-बुराई, उचित-अनुचित और शुद्ध-अशुद्ध की परख करने लगे थे। विवेकशील लोगों की बुद्धि सजग थी। अन्ध भक्ति और 'गुरुडम' पर प्रहार हो रहा था। बुद्धिवाद ने आलोचनात्मक दृष्टिकोण दिया, जिसके द्वारा रूढ़ियों और अंध विश्वासों का विरोध करने की क्षमता मिली। छूआछूत, खानपान, जप-छाया-माला तिलक आदि का लोकाचार या वाह्याडम्बर मात्र मानते हुए उनके भीतर घुसकर धर्म के शाश्वत तत्वों सत्य, दया, प्रेम आदि-की परख की जाने लगी। यह बुद्धिवाद का प्रभाव था।

१—'जे नदी हाराये स्रोत चलिते ना पारे,
सहस्र शैवालदाम बाँधे असितारे,
जे जाति जीवन हारा अचल असाड़,
पदे पदे बाँधे तारे जीर्ण 'लोकाचार',

रवीन्द्र 'दुईदपमा' (रवीन्द्र कविता कानन प्र० सं० पृ० ९६)

2—'Long sunk in superstitious night's,
By sin and satan driven.
I saw not-care not for the light
That leads the blind to heaven.

(मेघनाद वध प्रथमावृत्ति पृ० ४४)

बुद्धिवाद केवल प्राचीन रूढ़ियों का विनाश ही नहीं करता वरन् प्रयोगो द्वारा जीवन के लिए नवीन सिद्धान्तों और आदर्शों का निर्माण भी करता है। दयानन्द ने न केवल हिंदुओं को मुसलमान या ईसाई होने से रोका बल्कि उनकी शुद्धि का भी विधान किया। बुद्धिवादका सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव जीवनके प्रति उदार दृष्टिकोण, रूढ़ियोंमें शिथिलता यानिर्बन्धता है। बुद्धिवाद पुरातन रूढ़ि का विनाश करके युगानुरूप नवीन सिद्धांतों का विधान करता है। जीवन में इन सिद्धांतों के समावेश के लिये उदारता की आवश्यकता पड़ती है अतः बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप 'वह उदार या स्वच्छन्दतावादी होता है।'

स्वच्छन्दतावाद.—स्वच्छन्दतावाद १९वीं शताब्दी की एक अन्यतम प्रवृत्ति है जो भारत मे अंग्रेजी राज्य की स्थापना, और इसके परिणामस्वरूप पश्चिमी विचारों तथा भावों के आगत और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से प्रस्फुटित हुई। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से हमारा आशय मनुष्य की उस सहज वृत्ति से है जो जीवन मे बन्धन का विरोध करती है और उदारता और प्रगति को प्रश्रय देती है। विवेकशील मानव की यह प्रवृत्ति रीति-रिवाज, आचार-विचार, खान-पान रहन-सहन एव कला-कविता आदि के क्षेत्रों मे बराबर व्यक्त होती रही है। स्वच्छन्दतावाद अन्धपरंपरा का विरोध और उचित परिवर्तन का स्वागत करता है। उदारता और सहिष्णुता इसके नित्य के लक्षण हैं। वस्तुतः साहित्य में उदारता का नाम ही स्वच्छन्दतावाद है। आरभ मे यूरोपीय साहित्य में भी स्वच्छन्दतावाद या 'रोमैण्टिसिज्म' शब्द इसी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विशेषण के रूप मे इस शब्द का सभवतः सबसे पुराना प्रयोग सन् १६५९ ई० मे हेनरी मोर की पुस्तक 'द इम्मार्टलिटी आव द सोल' में प्राप्त होता है। यहाँ इस शब्द का प्रयोग 'स्वतन्त्र' या 'निर्बन्ध' के पर्याय के रूप में हुआ[१] है। आगे चलकर अंग्रेजी साहित्य मे यह शब्द पारिभाषिक हो गया और 'क्लासिसिज्म' के विरोध म एक विशेष अर्थ का द्योतक हो गया। क्लासिसिज्म और रोमैन्टिसिज्म का

---

१. 'I speak specially of that imagination which is most free, such as we use in Romantic invention.' (Henry More: The Immortality of Soul)

भेद बताते हुए डा० हार्को जी० डी० मार ने लिखा है कि रीतिवादी साहित्य संसार की समृद्धि का द्योतक है। जब कि स्वच्छन्दतावादी साहित्य उसकी उद्विग्नता का[1]। सामाजिक जड़ता से क्षुब्ध चेतन मस्तिष्क जब नया प्रशस्त और प्रगतिशील मार्ग ढूँढने के लिए व्याकुल होता है, रूढियों के बंधन से मुक्त होने का प्रयत्न करता है, उस काल के साहित्य में चारों ओर स्वतन्त्रता या मुक्ति का प्रयत्न परिलक्षित होता है। जब भाषाऔर साहित्य की धारा लोक जीवन से विच्छिन्न होकर अपनी गति तथा स्फूर्ति खो देती है तब उसे नव जीवन से अनुप्राणित करने के लिए स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन होता है। साहित्य का इतिहास एक ऐसा प्रवाह है जिसमें स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ज्वारभाटे की भाँति गिरती-उठती रही है। यूरोपीय साहित्य का इतिहास इस कथन का साक्षी है कि जब फ्रांस, इटली, इंगलैंड आदि देशों का साहित्य रूढियों और रीतियों से जकड़ा हुआ लोकजीवन की प्रगति से पर्याप्त पीछे छूट गया तब पुनर्जागरण और स्वच्छन्दताके आन्दोलन युगधर्म की तरह उसकी मुक्ति के लिए प्रवर्तित हुए। साहित्य को लैटिन के बन्धन से मुक्तकर अपने देश में अपनी मातृभाषा का प्रयोग आरंभ करना इन देशों के साहित्य में स्वच्छन्दतावाद का प्रथम चरण था[2]।

I—'Classical literature embodies the respose of the world; romantic literature the restlessness of the world, Dr. Harko G. De Mar. A History of Modern English romanticism. P. 12-13

२—यह एक संयोग ही है कि यूरोपीय साहित्येतिहासमें भी स्वच्छन्दता-वाद' शब्द सर्वप्रथम भाषा क्रांति के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। १४वीं शती में अंग्रेजी और फ्रेंच साहित्य का नवोदय परम्पराविहित लैटिन भाषा से मुक्त होने पर ही संभव हो सका। उक्त देशों की जनता ने अनुभव किया कि साहित्य की भाषा लोक जीवन की भाषा ही हो सकती है. अतः नया साहित्य प्रचलित लोकभाषा में रचा गया। डा० मार ने लिखा है:—

"The term Romance was first used to denote the vernacular language, as opposed to Latin."

(Dr. Harko G. De. Mar, A History of Modern English Romanticism Vol. I p. I) The Language

इसी प्रवृत्ति ने क्रमशः साहित्य के सभी अंगों को रूढ़ियों से मुक्त किया, एलिजाबेथ कालीन स्वच्छन्दतावादियों ने नवीनभाव और कला का परिचय विविध विषयों और छन्दों के माध्यम से दिया।

बंगला साहित्य पर स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव—अंग्रेजी सम्पर्क, शिक्षा और साहित्य के प्रभाव से जिस प्रकार सर्वप्रथम बंगला समाज में क्रांति हुई उसी प्रकार वहाँ के साहित्य में भी। बंगला भाषा का पुनर्गठन और परिष्कार हुआ। साहित्य को प्राचीन रूढ़ियों और लक्षण ग्रन्थों में गिनाये गये बंधनों से मुक्त किया गया। युगान्तकारी बंगला लेखक बंकिमचंद्र ने 'दुर्गेशनन्दिनी' में सरस्वती के परिपाटी-विहित चमत्कारी स्वरूप पर व्यंग्य करते हुये लिखाः—

'मां (सरस्वती) तुम्हारे दो स्वरूप हैं, जिस रूप से तुम कालिदास के लिए वरद हुई थी, जिस प्रकृति के प्रभाव से रघुवंश, कुमार संभव, मेघदूत, शकुंतला निर्मित हुए थे जिस प्रकृति का ध्यान करके वाल्मीकि ने रामायण, भवभूति ने उत्तर रामचरित और भारवि ने किरातार्जुनीय लिखा था, उस रूप से मेरे कन्धे पर बैठकर पीड़ा न देना, जिस मूर्ति का ध्यान कर' श्री हर्ष ने 'नैषध चरित' लिखा था, जिस प्रकृति के प्रसाद से भारतचंद्र ने विद्या का अपूर्व रूप वर्णन करके बंगदेश का मन मोह लिया है, जिसके प्रसाद से दाशरथिराय का जन्म हुआ, जिस मूर्ति से आज भी 'बटतला' को

---

of literature mdieval experience has learned, must be the language of communication. Hence the new literary day was for the new languages' (Charles sears waldwin— (Renaissance Literary theory and Practice P. 6) एडवर्ड ब्रेयरवुड ने अपनी पुस्तक Enquiries touching the diverstities of language and Religions through the chief parts of the world' (1614) में लिखा है कि इटैलियन, फ्रेंच और स्पेनिश आदि देशी भाषायें रोमान्स कही जाती हैं।'

प्रकाशित कर रही हो, उस मूर्ति से एक बार मेरे कन्धों पर बैठो, मैं आसमानी के रूप का वर्णन करूँ[1]।'

यहा पर लेखक ने लक्षण ग्रन्थों के आधार पर नखशिख वर्णन की कृत्रिम परिपाटी पर व्यंग्य किया है। पंडितों की काव्यशैली जब स्वाभाविक भावधारा से कटकर रूढ़ हो जाती है तब वह कृत्रिम लगने लगती है और हास्यास्पद हो जाती है। *रीतिग्रन्थों में 'बसंत' का विधान* प्रायः विरह के उद्दीपक के रूप में देखा जाता है इस पर व्यंग्य करते हुये बंकिमचन्द्र ने 'बसंत और विरह' में लिखा—

रेवती—अच्छा। देख तो बसन्त कैसा अपूर्व समय है। चूत-लता कैसी नव मुकुलित.........

मालती—सखी, आम के पेड़ तो मैंने देखे हैं, भला आम की लता कैसी होती है ?

रेवती—मैंने आम की लता सुनी है, पर कभी आंखों से देखी नहीं। देखी हो या न देखी हो, इससे मतलब नहीं, पर पुस्तकों में चूतलता ही पढ़ी है, चूतवृक्ष नहीं, इसलिये चूतवृक्ष न कहकर चूतलता ही कहना होगा।

× × ×

रेवती—मधु के लोभ से उन्मत्त हो मधुकर उन पर गूँजते हैं, यह देख कर हमारे प्राण निकले जाते हैं।

× × ×

मालती—तो गुंजार ही सही, पर उससे हमारे प्राण क्यों जाने लगे ? भौंरों के काटने से तो प्राण जाते भी सुना है, पर अब क्या भौंरे की भनभनाहट से भी प्राण देने पड़ेंगे।

रेवती—भौंरे की गुंजार से बराबर विरहिनी मरती आई है तू कहाँ से रंगा के आई है जो नहीं मरेगी।

मालती—अच्छा बहन ! शास्त्रों में लिखा है तो मरूंगी पर पूछना है कि

१—बंकिमचन्द्र—दुर्गेशनन्दिनी (श्यामास्वप्न —सं० डा० श्रीकृष्ण लाल, भू० पृ० १८)

केवल भौंरे की भनभनाहट से ही मौत आवेगी या मधुमक्खियों, गुबरीलों की भन भन से भी[१]।'

बंगला के दूसरे क्रान्तिकारी साहित्यिक माइकेल मधुसूदन दत्त का अपने महाकाव्य 'मेघनाद वध' में मिल्टन के आदर्श पर मेघनाद को महाकाव्य का नायक बनाना स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का ही परिचायक है। उस महाकाव्य में नारी का चित्रण केवल नायक नायिका के रूप में नहीं बल्कि पारिवारिक जीवन में व्यक्त नारी के विविध रूपों माता, बहिन, पत्नी आदि का मानवीय चित्रण किया गया है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इस महाकाव्य के सम्बन्ध में लिखा है कि जिस प्रकार माइकेल का जीवन स्वच्छन्द और सामाजिक बन्धनों की उपेक्षा करनेवाला था उसी प्रकार उनका काव्य भी साहित्य शास्त्र के सभी नियमों से स्वतन्त्र है। इसमें तो महाकाव्य का प्राचीन स्वरूप स्वीकार किया और न लोकप्रचलित नायक राम को नायक बनाया गया। कथा कुल तीन दिन की घटनाओं में सीमित है जो महाकाव्य के लिये पर्याप्त नहीं। मंगलाचरण का अनावश्यक विस्तार नहीं, केवल सरस्वती की संक्षिप्त वंदना है। बिना किसी भूमिका के कथा का आरम्भ हो जाता है और मुक्तछन्दों का सर्वप्रथम पूर्ण प्रयोग इसमें ही किया गया। इस प्रकार यह एक सर्वथा स्वच्छन्द काव्य है।

रवीन्द्रनाथ टाकुर ने इस काव्य के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि 'यूरोप से भावों का एक प्रवाह आया है और स्वभाव से ही वह हमारे मन पर आघात करता है। इसी प्रकार के घात प्रतिघात से हमारा मन जाग उठा है, यह बात अस्वीकार करने से अपनी चित्तवृत्ति पर अन्याय करना होगा[२]।' उन्होंने स्वयम् बन्धनों के विरुद्ध आवाज उठाई और कहा कि जीवन के सभी क्षेत्रों में हम बन्धनों से जकड़ गये हैं, मुक्त विहंग की तरह आकाश में विचरण करने के लिये इनका तोड़ना आवश्यक है। उन्होंने लिखा है कि इस कर्मधाम में दो नेत्र रहते भी हम अन्धे हो गये हैं। हमारे ज्ञान

१—बंकिमचन्द्र चटर्जी—'लोक रहस्य' (अनु० रूपनारायण पाडेय।

२—'मेघनाद वध', अनु० मधुप (प्रथम संस्करण पृ० १६२)।

कर्म और गति-पथ को बाधाओं ने जकड़ लिया है। आचार विचार की बाधा को दूर करके ही हम मुक्त विहंग की तरह विचरण कर सकेंगे[1]।

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की हिन्दी साहित्य पर प्रतिक्रिया

अंग्रेजी राज्य के पूर्व शिक्षित मनुष्य तो कुछ अवश्य थे परन्तु शिक्षित जनता का अभाव था। साहित्य राजसभा की वस्तु थी। साधारण मनुष्यों और उनकी भावनाओं के लिए ब्रजभाषा साहित्य में स्थान नहीं रह गया था। अलकारोंके बोझ से दबी रूढ़िग्रस्त ब्रजभाषा नवीन प्रगतिशील विचारों को व्यक्त करने में असमर्थ सिद्ध हो रही थी। काव्यपरम्पराओं, कवि-समय-सिद्धियों और शब्दालंकारों की सहायता से परवर्ती कविगण शाब्दिक इंद्रजाल की रचना कर रहे थे। साहित्यिक दृष्टि से ऐसी रचनाओं में कोई रस या सौंदर्य नहीं रह गया था। शताब्दियों से जिस अलकार, नायक नायिका भेद और नखशिख को लेकर बड़े-बड़े कवियों ने रीति-साहित्य की सृष्टि की थी, उसमें पिछले खेवे के कवियों को कुछ नवीन या मौलिक कहने के लिए नहीं बचा था और न उनके पास ऐसी प्रतिभा थी कि वे किसी मौलिक लक्षणग्रन्थ की ही रचना कर पाते। प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर उन्हीं प्राचीन उक्तियों को इधर-उधर करके वे एक कवित्त या सवैया खड़ा कर देते थे। उपमाओं के लिए नागिन, खंजन, मीन, मृग, चन्द्र, भौंरे, प्रवाल, कामदेव के नगाड़े, हंस आदि का प्रयोग सभी कवि सैकड़ों वर्षों से एक ही ढंग पर करते चले जा रहे थे। अलंकारों के मोह में कभी कभी उनकी तुकबन्दियों में अस्वाभाविकता के साथ अनर्थ भी घुस जाता था। श्लेष, यमक, अनुप्रास के चक्कर में पड़कर कवि वर्ण्य-विषय के असली रूप का चित्रण करने के स्थान पर एक अत्यन्त भद्दे रूप की अवतारणा कर देते थे, यथा—

'कौलकलिता के मञ्जु छाये मुक्तता के गुनमन गनता के हेतु रिद्धि-सिद्धि ताके है।
पानिप पताके छोरदार छविता के शिर भूप कर ताके हेमरंग कविता के हैं।

---

[1]—'दुई कर्मधामे ! दुई नेत्र करि आँधा,
ज्ञाने बाधा, कर्मे बाधा, गतिपथे बाधा,
आचारे विचारे बाधा, करि दिया दूर
धरिते होइब मुक्त विहंगेर सुर।'
'रवीन्द्र कविता कानन', पृ० ९१।

तीन गुन ताके जाके एक रेख ताके मैन गनपालता के साके बाढ़े बल ताके है। प्रेमफल ताके भक्तिरस भक्तिना के बोध बुद्धि बलिता के पदमातुललिता क हैं।'[1]

बदरीनाथ भट्ट के शब्दों में सचमुच व्रजभाषा के इतिहास में वह समय आ गया था 'जब असली कवित्व शक्ति के न रहने पर भी लोग बनावटी भाषा में कुछ भी भला बुरा लिखकर शब्दों की खींचातानी दिखाते हुए अपनी लियाकत का इजहार करते हैं और चाहे जैसी अश्लील या अनर्गल बात को छंद के खोल में छिपा हुआ देख लोग उसी को कविता समझने और समझाने लगते हैं।"[2] ऐसी भाषा के अवसान का समय समीप होता है।

इसी समय अंग्रेजी राज्य में स्कूलों और विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षा का प्रचार बढ़ा। अधिकाधिक संख्या में लोग उपयोगी साहित्य और काव्य साहित्य का अध्ययन करने लगे। मुद्रण यंत्रों द्वारा सस्ती पुस्तकें छपने लगीं। उन पुस्तकों में प्रकाशित साहित्य सस्ते मूल्य पर सरलतापूर्वक जनता के बीच वितरित होने लगा। जनता जागृत हुई। काव्य साहित्य के प्रति उसकी रुचि बढ़ी। जनता के व्यक्ति कवि, साहित्यकार, पत्रकार और पाठक के रूप में अवतरित होने लगे। डा० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में 'कला और साहित्य का केन्द्र राजसभाओं से उठकर शिक्षित जनता में आ गया।[3] साहित्य के जनसाधारण की वस्तु होते ही खड़ी बोली गद्य की अभूतपूर्व समृद्धि हुई। समाज की सम्पूर्ण नव जागृत चेतना तथा सारे सुधारवादी आन्दोलन इसी माध्यम से व्यक्त हुये। गद्य के समृद्ध होते ही दूसरा क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और काव्य की भाषा का पद भी व्रजभाषा के बदले

१—डा० गनेशवख्श सिंह और डा० महेश्वरवख्श सिंह, 'पिया प्रीतम बिलास' तृ० स० १८९१ पृ० ५४।

२—'बदरीनाथ भट्ट', वर्तमान हिन्दी काव्य की भाषा, सरस्वती फरवरी १९१३।

३—डा० श्रीकृष्णलाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, तृ० स०; पृ० ८।

खड़ी बोली को दिया गया। हिन्दी साहित्य में इस क्रान्ति को ही स्वच्छन्द-तावाद का अंतिम चरण माना जायगा।

नवीन विचारों से आन्दोलित होकर हिन्दी कवि जब सजग और सचेत हुआ, चारों ओर के सुधार और आन्दोलन से जब उसकी तन्द्रा टूटी तब देखा कि पिछली कई शताब्दियों से कविता के नाम पर जो कुछ वह कहता सुनता रहा है उतनी ही सीमा में कवि-कर्तव्य की इति श्री नहीं है, और न उसका जीवन के यथार्थ से विशेष सबंध रह गया है। पाश्चात्य विचार धारा से प्रभावित और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से जागृत सहृदय-समाज को ब्रजभाषा साहित्य की सकुचित भाव-परिधि राधाकृष्ण की परिपाटी-विहित लीलायें, नायक नायिकाओं का रूढ़िग्रस्त हाव-भाव रीतिबद्ध नखशिख एव चमत्कारपूर्ण अलकारो का शब्द-जाल सब कुछ बड़ा थोथा और असामयिक जान पड़ने लगा। उसके विविध क्षेत्रों-विषय और उपादान, काव्य के रूप और काव्यकला तथा छन्द में सामित दृष्टिकोण के विरुद्ध असतोष बढ़ा। यह मानसिक असन्तोष १८५७ के गदर के बाद ही स्पष्ट दिखाई देने लगा था। वस्तुतः यह नव जागरण ही 'स्वच्छन्दतावाद' के प्रवर्तन का मूल कारण हुआ। इसके द्वारा एक दृष्टिकोण मिला और प्रगतिशील आदर्शों के आधार पर रीतिग्रस्त कविता के नियमों में भी स्वच्छन्दतापूर्वक शिथिलता की आवश्य-कता समझी गई। हिन्दी काव्य के परिधि का क्रमशः विस्तार किया गया। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद के पूर्ण उत्कर्ष के साथ ही हिन्दी कविता का सर्वांगीण विकास भी सभव हुआ।

आधुनिक हिन्दी कविता के विकास की तीन क्रम-कोटियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। प्रत्येक अवस्था में उसे एक न एक महान् नेता मिलता गया। आरम्भ में नव जागरण के अग्रदूत की तरह हिन्दी साहित्याकाश में भारतेन्दु का उदय हुआ। उनके मंडल के अनेक ज्योतिष्कपुंज–प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, ठा० जगमोहन सिंह और चौ० प्रेमघन आदि ने अपनी प्रभा से साहित्य को आलोकित किया। द्वितीय चरण में स्वच्छन्दतावाद को सहज ढग से जनता में प्रतिष्ठित करने वाले महान् साहित्यकार श्रीधर पाठक और उनके समसामयिक बालमुकुन्द गुप्त दिखाई पड़ते हैं। हरिश्चन्द्र और उनके मडल द्वारा आरभ किये गये कविता के उद्धार-कार्य को इन लोगों ने पूरा बल दिया। स्वच्छन्दतावाद के तीसरे चरण में उसके प्रबल समर्थक

महावीर प्रसाद द्विवेदी हैं और उनके सहयोगी के रूप में मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और नाथूराम शंकर आदि दिखाई पड़ते हैं। १६२० ई० तक आते आते पंत और अन्य कवियों के आविर्भाव के बाद हिन्दी कविता के उत्कृष्ट विकास के साथ स्वच्छन्दतावाद की पराकाष्ठा दिखाई पड़ी।

श्री सुमित्रानन्दन पंत तक आते आते हिन्दी काव्य के पाठकों को रीतिकालीन संकुचित वृत्ति और छायावादी विस्तृत काव्याकाश में महान अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। देखने पर ज्ञात होता है कि काव्य के उपादान मनुष्य, प्रकृति प्रेम, भक्ति, स्वदेश प्रेम, राष्ट्रीयता, नीति, रहस्य और इनके भी न जाने कितने विभिन्न भेद हो सकते हैं। उपादानों के अतिरिक्त काव्य के इतने रूपों का विकास हुआ कि उसमें संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और लोक साहित्य के सभी काव्य रूप समाहित हो गये। महाकाव्य, प्रबन्धकाव्य, खंड काव्य, मुक्तक, गीति, आख्यानक गीति, प्रगीत आदि कितने ही रूपों में हिन्दी कविता दिखाई पड़ने लगी। गद्य के विविधरूपों की चर्चा पहले की जा चुकी है परन्तु रीतिकाल में गद्य के विविध रूपों को कौन कहे, पद्य में भी केवल मुक्तकों को देखते देखते पाठक ऊब जाते हैं। रीतिकालीन इने गिने दो चार छन्दों-कवित्त, सवैया, दोहा, के स्थान पर संस्कृत, उर्दू, लोकसाहित्य, बंगला और अंग्रेजी आदि के सैकड़ों छन्दों का खड़ी बोली पद्य में सफल प्रयोग किया गया। नये नये छन्दों की उद्‌भावना की गई। भावों के साथ साथ छन्द एक ही पंक्ति और चरण में बदलने लगे। छंदों की अनेकरूपता से हिन्दी कविता का आकर्षण बढा। कविता को तुक और मात्रा की कारा से मुक्त कर अतुकान्त और अमात्रिक छन्दों का प्रचलन हुआ। अलंकार और तुक काव्य की उत्कृष्टता के मापदंड नहीं रहे बल्कि रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, व्यंजना आदि को काव्यकला में महत्व दिया गया।

काव्य का विषय

रीतिकालीन साहित्य में मुख्यतः केवल नायकनायिका भेद रह गया था। 'भगवान श्रीकृष्ण से लेकर भिखारी तक सभी नायक थे और राधा से लेकर धोबिन तक प्रत्येक स्त्री नायिका थी।'[1] अधिकतर कवियों ने राधाकृष्ण को

1—डा० श्रीकृष्णलाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, तृतीय संस्करण पृ० ३३।

अपनी लौकिक शृंगार भावना के उद्गार का बहाना मात्र बनाया। उनकी कवि कल्पना संकुचित होकर किसी कल्पित ब्रज की कुजगलियों में चक्कर काटती रही। उनका प्रेम, उनकी भक्ति, उनके काव्यों में वर्णित प्रकृति सब एक ही साँचे में ढली थी। उनके प्रेमी प्रेमिका विलास कुजों में आँखमिचौली खेलते थे और कवि उन्हीं के हाव भाव पर मुग्ध थे। उन्हें अपने समय के प्रसिद्ध देशभक्त वीर शिवा और प्रताप की ओर देखने का अवकाश नहीं था और न प्राचीन आर्य-वीर अर्जुन, राम, हरिश्चन्द्र, कर्ण आदि ही उन्हें याद रहे। मजदूर और कृषक के अलावा वीर, धनी, सत्यनिष्ठ, सत्याग्रही, देशभक्त आदि सामान्य मानव के विविध रूप जो आज दिखाई पड़ते हैं, रीतिकालीन साहित्य में उन्हें ढूँढना बहुत कठिन है।

ब्रजभाषा के कवि यदाकदा प्रकृति की चर्चा भी केवल नायक नायिकाओं की शृङ्गार भावना को उद्दीप्त करने के लिये कर दिया करते थे। प्रकृति का स्वतन्त्र सौंदर्य संभवतः उन्हें नहीं आकृष्ट कर पाता था। राष्ट्रीयता और देश प्रेम जैसी कोई भावना उन्हें आन्दोलित नहीं करती थी और न देश की परतन्त्रता, सामाजिक पतन और धर्म के नाम पर प्रचलित नाना अन्धविश्वास और मिथ्या आडम्बरों से उन्हें पीड़ा ही होती थी। उन लोगों ने तो 'होय सो होय इहाँ नहिं भूलनो राधिकारानी कदम्ब की डारन' को काव्य का चरम आदर्श स्वीकार कर लिया था।

आचार्य द्विवेदी ने कवि कर्त्तव्य में सच ही लिखा था कि 'खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है। कारण वश अमीरों की झूठी प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि समुदाय के आमरण लगे रहने से कविता की सीमा घट छँट कर बहुत थोड़ी रह जाती है। ऐसी सकुचित सीमा में एकरूपता आ जाती है, उसमें नवीनता और विविधता के लिये स्थान नहीं रहता। द्विवेदीजी ने इस प्रकार की सकीर्णता का विरोध किया और आगे उसी लेख में लिखा था कि 'इस तरह की कविता सैकड़ों वर्षों से होता आ रही है। अनेक कवि हो चुके जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक वही छन्द, वही शब्द वही उपमा वही रूपक। इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं।

कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नखशिख, नायिकाभेद, अलंकार शास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ बनावटी बातों से देवी देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचते, फल इसका यह हुआ है कि कविता की असलियत काफूर हो गई है। उसे सुनकर सुनने वाले के चित्त पर कुछ भी असर नहीं होता। उलटा कभी कभी मन में घृणा का उद्रेक अवश्य उत्पन्न हो जाता है।[1]

वस्तुतः बासी पूआ ही क्यों न हो उसमें अरुचि हो जाती है। समय पर ताजी रोटी—भले वह सूखी हो—अच्छी लगती है। समय बदल गया था, लोकरुचि बदल गई थी, बासी विषयों से कविता का काम नहीं चल सकता था। द्विवेदी जी ने कवियों को अनन्त नये विषयों की ओर आकृष्ट करते हुये लिखा 'यमुना के किनारे केलि कौतूहल का अद्भुत अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के गतागत की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है।' यह अवश्य है कि सभी कवियों में ऐसी प्रतिभा नहीं होती कि वे साधारण विषयों पर उत्कृष्ट महाकाव्य रच सकें, तो इससे क्या, 'यदि मेघनाद वध अथवा यशवन्तराव महाकाव्य के नहीं लिख सकते, तो उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव और निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविता करनी चाहिये[2]।'

द्विवेदी जी के पूर्व ही हरिश्चंद्र और उनके साथियों ने तथा श्रीधर पाठक और बालमुकुन्द गुप्त ने इस ओर प्रयत्न आरम्भ कर दिया था परन्तु इस महान उद्देश्य की चरम सिद्धि द्विवेदी काल में ही सम्भव हो सकी। हरिश्चन्द्र ने जिस गतव्य की ओर संकेत किया था, श्रीधर पाठक उधर और

१—महावीर प्रसाद द्विवेदी—कविकर्तव्य (रसज्ञरंजन पृ० ३७)
२— ,, ,, 'हिन्दी कविता में युगान्तर' पृ० ७३

अधिक अग्रसर हुए, महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी काव्य को वहीं पहुँचा दिया। द्विवेदी काल तक आते आते हम देखते हैं, किसी भी छोटे से छोटे विषय पर स्वच्छन्दतापूर्वक कवि पद्य रचना करने लगे हैं।

हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली में कुछ गीत संसार की अमारता और वैराग्य पर लिखे जैसे—

'हरि माया भटियारी ने क्या अजब सराय बनाई है'

या—

'डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।'

आदि

तो दूसरी ओर श्रीधर पाठक ने 'जगत सचाई सार' में संसार को सत्य बताते हुए उसके सौन्दर्य की ओर पाठकों को आकृष्ट किया—

ध्यान लगा कर देखो जो तुम सृष्टी की सुघराई को,
बात बात में पावोगे उस ईश्वर की चतुराई को।
ये सब भलीभाँति के पक्षी ये सब रंग रंग के फूल,
ये बन की लहलही लता नव ललित-ललित शोभा की मूल।
ये नदियाँ ये झील सरोवर कमलों पर भौंरों की गुंज,
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल घनी वृक्षों की पुञ्ज।'[1]

द्विवेदी जी ने अपनी कविताओं के लिये विविध उपदेशात्मक विषय साधारण जीवन से चुना, जैसे गर्दभ काव्य, विधि विडम्बना, सेवा वृत्ति की विगर्हणा, बलीवर्द, ग्रन्थकारों से विनय और ठहरौनी आदि। इनकी कविताओं में न पांडित्य है, न काव्यत्व है पर एक ऐसी सरलता है, लोक सेवा की एक ऐसी उदात्त भावना है जिसके कारण उनका प्रभाव दिन-दिन बढ़ता ही गया। 'गर्दभ' काव्य' में अश्लील शृंगार के प्रेमियों पर व्यग्य करते हुए वे लिखते हैं—

'कोट कमीज आदि को जब लौं मिलै कहीं फटकारा है,
तब लौं नदी तीर कुंजन में होहि विहार हमारा है।

१—श्रीधर पाठक—'जगत सचाई सार'

पैठि गर्दभी मंडल भीतर कोककला विस्तारा है,
वह रसपान करन कहँ केवल एक हमें अधिकारा है।'[1]

या 'विधिविडम्बना' में ब्रह्मा को भी उपदेश देते हुए कहते हैं:—

'विधे! मनोज मातृभाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़,
रामनाम सुमिरन कर बुड्ढे और काम से अब मुँह मोड़।
एकानन हम चतुरानन तू, अतः कहें क्या और विशेष,
बुद्धिमान जन को इतना ही बतलाना बस है भुवनेश।'[2]

द्विवेदी जी के योग्य शिष्य राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त उनके निर्धारित मार्ग पर सबसे आगे बढ़े और उन्होंने उपदेश प्रधान विविध विषयों पर राशिराशि कवितायें सरल खड़ी बोली में लिख डालीं। कहीं 'ग्रामजीवन' की सादगी पर ललच कर वे पद्य रचना करने लगते हैं—

'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है,
क्यों न इसे सबका मन चाहे!
थोड़े में निर्वाह यहाँ है,
ऐसी सुविधा और कहाँ?'[3]

तो कहीं ग्रामगुरु की 'शिक्षा' पद्यबद्ध करते हैं—

'एक मूर्ख निज वृद्ध पिता को मार रहा था खूब,
मानों यही अनीति देखकर सूर्य रहा था डूब।
इसी समय सन्ध्या समीर के सेवन को स्वच्छन्द,
निज शिष्यों के साथ ग्रामगुरु जाते थे सानन्द।'[4]

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने तिनका, कोयल, बालविनोद आदि कवितायें आरम्भ में लिखीं। कोयल की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी—'गर्दभ काव्य' (काव्य मंजूषा, सन् १९०६ पृ० १५)

२. सरस्वती १९०१ संख्या ५।

३. 'ग्रामजीवन', पद्य प्रबन्ध—प्र० सं० १९१२ पृ० ८५।

४. 'शिक्षा' वही।

'पसी हवा बहने लगती है, दिशा महकने सब लगती है।
तब यह होती है मतवाली, कूक कूक कर डाली डाली।'

\+ \+ \+

लड़की जब अपना मुँह खोलो, तुम भी मीठी बोली बोलो।
इससे कितने सुख पाओगे, सबके प्यारे बन जाओगे।'[1]

यद्यपि ऐसी रचनाओं में काव्यत्व बहुत कम था फिर भी एक ताजगी थी, नवीनता थी और सरलता थी। 'रीतिकालीन कविता के बाह्य आडम्बरों से ऊबे हुए लोगों ने द्विवेदी युग की सरल रचनाओं का हृदय से स्वागत किया। सादगी ही उनकी कला थी और नवीनता ही उनकी अलङ्कृति थी।'[2]

ठाकुर गोपालशरण सिंह का उक्त कथन उनकी और उनके अन्य साथियों—बदरीनाथ भट्ट, मुकुटधर पान्डेय, सियारामशरण गुप्त और मन्नन द्विवेदी आदि की कविताओं के सम्बन्ध में समान रूप से सत्य है। समय के साथ धीरे धीरे इन सरल और उपदेशात्मक पद्य रचनाओं में मिठास और काव्यत्व आया। मुकुटधर पाण्डेय कुररी को सम्बोधित कर कहते हैं—

'बता मुझे ए विहग विदेशी अपने जी की बात,
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात
निद्रा में जा पड़े कभी के, ग्राम्य मनुज स्वच्छन्द,
अन्य विहग भी निज खोतों में सोते हैं सानन्द।
इस नीरव घटिका में उड़ता है तू चिन्तित गात,
पिछड़ा था तू कहाँ, हुई जो तुझको इतनी रात।'[3]

इसी प्रकार मन्नन द्विवेदी चमेली से कहते हैं।

'सुन्दरता की रूपराशि तुम दयालुता की खान चमेली,
तुम सी कन्यायें भारत को कब देगा भगवान चमेली।

---

१. सरस्वती १९०६।

२. गोपालशरण सिंह, 'आधुनिक कवि' सं० २००३ पृ० ३।

३—मुकुटधर पाडे, कुररी के प्रति (कविता कौमुदी दूसरा भाग प्र० सं० पृ० ४८१।)

चहक रहे खगवृन्द वनों में अब न रही है रात चमेली,
अमल कमल कुसुमित होते हैं देखो हुआ प्रभात चमेली ।'[1]

बदरीनाथ भट्ट कितनी स्वच्छन्दता से निम्नांकित पंक्तियाँ कहते चले जाते हैं ? लगता है कि उनके सामने काव्यरचना का कोई प्रतिबन्ध ही नहीं है ।

'बाजीगर ने लिए कोयले आठ दस,
उन्हें पीसकर घोला एक गिलास में ।
सुजन' सिंह थे वहाँ तमाशा देखते,
धुले धुलाए उनके कपड़े साफ थे ।'[2]

इन उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कविताओं का स्वर, इनकी आत्मा, इनका उद्देश्य ब्रजभाषा काव्य से पूर्णतया बदला हुआ है। ये कविताएँ साधारण जनता के लिए लिखी गई अतः इनकी शैली, भाषा सब अत्यधिक सरल रही । इन सबका उद्देश्य लोक शिक्षा या समाज सुधार था। सुधार की प्रवृत्ति के कारण ही इनमें उपदेशात्मकता सर्वत्र स्पष्ट है ।

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का क्रम विकास

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण हिन्दी साहित्य में परिवर्तन की जो प्रतिक्रिया सन् १८७० के आस पास आरम्भ हुई थी वह १९२० तक जाते जाते पूर्ण हुई । स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के क्रमिक विकास की दृष्टि से इस सम्पूर्ण काल को तीन चरणों में बाँट दिया जा सकता है। (१) भारतेन्दु युग में इस प्रवृत्ति का उदय हुआ, (२) श्रीधर पाठक का संबल पाकर (१८८५–१९००) इसका विकास हुआ तथा (३) द्विवेदी युग के अन्त तक पहुँच कर (१९००–१९२५) यह प्रवृत्ति अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के उत्कर्ष की इन्हीं क्रम-कोटियों के साथ

१—मन्नन द्विवेदी—'चमेली' वही, पृ० ३७६ ।

२—बदरीनाथ भट्ट 'सज्जन और बटु शब्द' (सरस्वती १९१५ भाग १ पृ० १००)

है। उनके नाटकों, उपन्यासों लेखों और कविताओं का एकमात्र उद्देश्य समाज सुधार हो गया था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन लोगों ने नाट्य शास्त्र, काव्य शास्त्र आदि के पुराने नियमों का स्वच्छंदतापूर्वक उल्लंघन किया। हरिश्चंद्र ने अपने 'नाटक' शीर्षक प्रबन्ध में प्राचीन नाटकों के अलावा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये नाटकों का नवीन भेद निर्धारित किया और उनके सम्बन्ध में लिखा कि 'समाज संस्कार नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखाना मुख्य कर्तव्य है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह सम्बन्धी कुरीति निवारण, अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयों के संशोधन आदि। किसी प्राचीन भाग का इस बुद्धि से संगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो, इसी प्रकार के अंतर्गत है।' वहीं पर आगे वे लिखते हैं कि 'नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।' इसी परिणाम को दृष्टि में रखकर नाटक, निबन्ध, प्रहसन और उपन्यास आदि रचे गये।

यथार्थवाद

प्रगतिशील सुधारक के लिये स्वच्छन्दतावादी होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि रूढ़िवादी या पुरातनवादी तो किसी भी नवीनता का, चाहे वह वाञ्छित हो या अवाञ्छित, स्वागत ही नहीं कर सकता, साथ ही उसे यथार्थवादी और आदर्शवादी होना भी आवश्यक है। स्वच्छन्दतावाद ही एक ऐसी प्रवृत्ति है जहाँ यथार्थवाद के साथ ही आदर्शवाद का भी स्थान मिलता है, समाज को उन्नत बनाने के लिये उसकी पतितावस्था का यथार्थ स्वरूप दिखाना आवश्यक होता है। उसकी दुर्दशा के सही सही कारण का विवेचन करना पड़ता है। जनता के सामने समाज का अवाञ्छित रूप इस प्रकार प्रस्तुत करना आवश्यक होता है जिससे उसके हृदय में उसके प्रति घृणा हो, वह स्थिति असह्य मालूम पड़े और उसको त्याग कर जनता अपनी उन्नति में लग जाय। उन्नति पथ पर अग्रसर होने के लिए आदर्शों की भी आवश्यकता पड़ती है। अतः सुधारक पतितसमाज के सामने प्रेरक आदर्श प्रस्तुत करके समाज को उसका गन्तव्य सिखाता है। इस प्रकार नवीनता का स्वागत करने के लिये तत्पर कराता है। अतः स्वच्छन्दतावाद में ही यथार्थ और आदर्श का समावेश सम्भव होता है। वस्तुतः यथार्थ और आदर्श दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों मिलकर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का सृजन करते हैं।

भारतेन्दु तथा उनके साथियों ने भी बुराइयों का, चाहे वे धर्म की आड़ में रही हों चाहे रीतिरिवाज की, घोर विरोध किया। बालकृष्ण भट्ट भी, जो सनातन धर्म के इतने बड़े पोषक थे, उसकी बुराइयों के प्रति निष्ठुरतापूर्वक कहते हैं कि जब तक अन्धविश्वास और मूर्खता के आधार पर सनातन धर्म बना रहेगा या उसका माननेवाला एक भी आदमी रहेगा, तब तक देश की की उन्नति न हो सकेगी, 'क्योंकि जिस बात से हम आगे बढ़ सकते हैं और जिसके प्रचलित होने से हमारी बेहतरी है वह सब कुछ इस सनातन के विरुद्ध है।'[1] इतनी धार्मिक सहिष्णुता और उदारता किसी कट्टर पुराणपंथी में नहीं हो सकती। हरिश्चंद्रकालीन हिन्दी-लेखक सच्चे अर्थ में स्वच्छन्दवादी, समाज सुधारक और नेता थे। समाज सुधार के लिये उन लोगों ने अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा समाज के सड़े गले, अश्लील और दूषित अंग को स्पष्ट सामने रखा और उनसे मुक्त होने का उपाय बताया। भारतेन्दु ने 'प्रेमयोगिनी' की रचना मुख्य रूप से काशी का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके उसे सुधारने के लिये ही की थी। इसमें पारिपार्श्विक कहता है कि 'इसके खेलने से लोगों को वर्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा। और वह नाटक का नई पुरानी दोनों रीति मिल के बना है।' इसका नाम भी उन्होंने आरम्भ में 'काशी के छाया चित्र या दो भले बुरे फोटोग्राफ' रखा था। फोटोग्राफ में जिस प्रकार चित्र पूर्णतया यथार्थ उतरता है, उसी प्रकार प्रेमयोगिनी में काशी का यथार्थ चित्र खींचने का प्रयत्न किया गया है। काशी के पंडों, गुण्डों और पाखण्डियों का स्पष्ट रूप इसमें चित्रित किया गया है। एक परदेशी पर काशी का जो प्रभाव पड़ सकता है, उसका यथार्थ स्वरूप बड़ी निर्भीकता एवं स्वच्छन्दतापूर्वक हरिश्चन्द्र ने निम्नांकित पंक्तियों द्वारा प्रस्तुत किया है—

> 'देखी तुम्हारी कासी, लोगों, देखी तुमरी कासी।
> जहाँ बिराजैं बिस्वनाथ बिश्वेश्वर जी अविनासी,
> आधी कासी भाट भंडेरिया बाह्मन औ सन्यासी,
> आधी कासी रंडी मुंडी रांड खानगी खासी।'

ग्रहण के समय पंडों का एक दलाल दूसरे से पूछता है—

१—हिन्दी प्रदीप, १८९६ सितम्बर, दिसम्बर।

'कहो गहन यह कैसा बीता ठहरा भोग विलासी,
माल वाल कुछ मिला, या हुआ कोरा सत्यानासी ?
कोई चूतिया फँसा या नहीं ? कोरे रहे उपासी।'

शिल्प विधान में भी भारतेन्दु ने पूर्ण स्वच्छन्दता का परिचय दिया प्राचीन नाट्यशास्त्र में गिनाये गये नियमों के अतिरिक्त नये नियम और विधान बनाये। संस्कृत नाट्यशास्त्रों में वियोगान्त नाटकों का विधान नहीं था परन्तु इन्होंने वियोगान्त नाटकों को ही वास्तविक नाटक माना क्योंकि इस संसार की महानाट्यशाला में सभी नाटक वियोगान्त ही खेले जाते हैं। उन्होंने 'नीलदेवी' नामक वियोगान्त रूपक लिखा। नाटक के नये रूप आपेरा या नाट्यगीति की शैली पर उन्होंने 'भारतजननी' लिखा। नाटक के अन्य विधानों–अंक, प्रवेश, नान्दीपाठ, मंगलाचरण, विष्कम्भक आदि में भी स्वच्छन्दतापूर्वक प्राचीन नियमों को ढीला करके नवीनता का समावेश किया।

प्राचीन नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रहसनों का उद्देश्य शुद्ध हास्य या विनोद था न कि व्यंग्य और समाज सुधार। परन्तु हरिश्चन्द्रकालीन प्रहसन सुधारवादी आन्दोलन के प्रमुख अंग हैं। इन प्रहसनों द्वारा सामाजिक कुरीतियों और उसके पतित अंगों पर व्यंग्य किया गया। स्पष्ट उपदेशों की अपेक्षा सुधार के लिए व्यंग्य अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो चुके हैं। रेस्टोरेशन काल के अंग्रेजी साहित्य में भी डिफो, स्विफ्ट, ड्राइडन जैसे प्रसिद्ध व्यंग्यकार हुए थे। भारतेन्दुकालीन साहित्यिकों ने भी अपने नाटकों और प्रहसनों द्वारा समाज की दुर्दशा का यथार्थ चित्रण किया और व्यंग्यात्मक उपदेशों द्वारा उसे दूर करने का आग्रह किया।

केवल समाज को ही कुरीतियों से मुक्त करने के लिये व्यंग्य नहीं लिखे गये, साहित्य को भी कृत्रिमता, रीतिबद्धता से मुक्त करने के लिए रूढ परम्पराओं पर व्यंग्य किया गया। लक्षण ग्रन्थों में गिनाई हुई कुछ विचित्र उपमाओं के आधार पर नखशिख वर्णन की कृत्रिम परिपाटी को अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाते हुए अम्बिकादत्त व्यास ने अपने उपन्यास 'आश्चर्य वृत्तान्त' में लिखा है—

'छि छि कवियों के कहे अनुसार एक ऐसी मूर्ति बनाई जाय जिसमें मुँह के स्थान में चाँद या कमल लिख दिया जाय, और आँखों के ठिकाने दो मछली और आँखों के कोनों के बदले दो चोखे चोखे तीर बना दिए जाँय त्योंही कान के ठिकाने सीप, गले के बदले कबूतर, छाती के स्थान पर हाथी का सिर बना दिया जाय, चोटी के ठिकाने मोटी सी काली नागिन, दोनो बाँह कमल की नाल, हाथ कमल, कमर का स्थान एकदम खाली छोड़ दें और योंही कमर के नीचे भी अपना जोर लगाते चले जायें, हम आप लोगों से पूछते हैं कहिए तो यह कैसी डरावनी राक्षसी ऐसी मूरत तयार होगी।"[१]

बंकिम बाबू से प्रभावित बालमुकुन्द गुप्त ने भी 'बसंत में विरह' शीर्षक से एक व्यंग्य उन प्राचीन कवियों पर किया जो बसंत का वर्णन केवल उद्दीपन विभाव के रूप में किया करते थे।

विरहिणी कहती है।
'कामिनी—थामो थामो सखी।
यामिनी—क्यों सखी, ऐसे तुम क्यों करती हो ?
कामिनी—बीता शिशिर बसंत आ गया।[२]

खाती-पीती विरहिणी का बसंत आते ही बेहोशी का स्वांग करना सचमुच ही हास्यास्पद है। रीतिकालीन अतिशयोक्ति-पूर्ण विरह की वर्णन प्रणाली पर गुप्तजी का निम्नांकित व्यंग्य देखिये।

> 'आठो सम ताप रह्यो हियरो, हे राम जर्यो सब गात जर्यो,
> एक बार छुआवत ही तन सों थरमामीटर भुई फाट पर्यो।
> जब डाक्टर हूँ हिय हार थक्यो, मरिबो तासों निहचै ठहर्यो,
> विरहानल ताप बढ़ो सजनी, दावानल सों अब जान पर्यो[३]।'

१—अम्बिकादत्त व्यास, 'आश्चर्य वृत्तान्त' पृ० ५६।
२—बालमुकुन्द गुप्त, 'स्फुट कविता, भारतमित्र प्रेस, द्वि० सं०पृ० १८६।
३—वही पृ० ११६।

लक्षण ग्रन्थों में गिनाई हुई विरह की ग्यारह दशाओं पर व्यंग्य करते हुए 'विरहियों की दस दशा' में वे लिखते हैं :—

> 'प्रथम दशा सारे दिन रोवे, दूजे सदा लम्बी हो सोवे।
> तीन दशा मल तेल नहावे, चढ़ काठे पै बाल सुखावे।
> चौथी दशा करे कुछ भोजन, पर क्या करे फसा पिय में मन।
> लड्डू पूरी दूध मलाई, माखन मिश्री खीर मिठाई।
> खूब खाय मन नहीं अघावे, पिय को याद करे पछतावे[1]।'
>
> ......इत्यादि

गुप्त जी के पश्चात् द्विवेदी युग और छायावादी युग में तो इस प्रकार की रीतिकालीन शृंगारिक कविताओं का विरोध स्पष्ट ही इतना बढ़ गया कि व्यंग्य की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई फिर भी एकाध प्रहसन यदाकदा इस सम्बन्ध में भी लिखे जाते रहे जिनका संकेत पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

आदर्श

सुधार की दृष्टि से केवल इतना ही पर्याप्त नहीं होता कि प्रचलित बुराइयों का यथार्थ चित्रण कर दिया जाय वरन् ऐसे नवीन आदर्शों का विधान भी किया जाता है जिनका अनुकरण करके व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और उसका साहित्य उन्नत हो सके। अपने प्रचलित ढाँचे में नवीन आदर्शों का प्रवेश स्वच्छन्दतावादी ही स्वीकार कर सकता है। वह आदर्श व्यक्ति, आदर्श प्रेम, आदर्श समाज और आदर्श राष्ट्र का चित्र खींचता है। ये आदर्श युग-युग के साथ बदलते रहते हैं। बुद्धिवादी युग का आदर्श प्राचीन आदर्श से कुछ भिन्न है। आज का आदर्श बुद्धि द्वारा परीक्षित है, श्रद्धा द्वारा अन्धस्वीकृत नहीं। पौराणिक अतिमानुषी आदर्शों पर आज के मानव को उतना विश्वास नहीं हो सकता जितना श्रद्धा के पुजारी प्राचीन भारतीय को था। आज तो ईश्वरावतारों के चरित्रों में भी अलौकिक कार्यों को संशय की दृष्टि से देखा जाता है। जहाँ भी बुद्धि को शंका हुई, निस्संकोच उस स्थल को या तो काटछाँट दिया या उसकी बुद्धिसंगत व्याख्या दी गई। समय और अनुभव ने पूर्णतया यह सिद्ध कर दिया

१—वही पृ० १२६।

है कि प्रकृति ही सब कार्य कर रही है उसको अदृश्य और अलौकिक दैवी सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः इस सत्य-सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव सबसे महान माना गया। विज्ञान और भौतिकता ने मानव की सर्वोपरि महत्ता स्वीकार की। ईश्वर भी महामानव ही हो सकता था मानव ही महान होकर ईश्वरत्व की पदवी पा गया पर किसी अतिमानुषी ईश्वर की कल्पना उचित नहीं समझी गई। मानव का यही महत्व राजनीति में लोकतन्त्र, सामाजिक क्षेत्र में मानवता और सांस्कृतिक क्षेत्र में बुद्धि की स्वतन्त्रता के रूप में दिखाई पड़ता है। अतः साहित्य का भी स्वरूप बदल गया और वह इहलौकिक, बुद्धिधर्मी तथा सामाजिक हो गया। तत्कालीन सामाजिक दुरवस्था के यथार्थ चित्रण के साथ ही स्फूर्ति और प्रेरणादायक आदर्श चरित्रों का चित्रण भी किया गया। सत्य हरिश्चन्द्र, नीलदेवी आदि नाटकों द्वारा हरिश्चन्द्र ने आदर्श चरित्रों को समाज के सामने रखा। राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी आदि ने आदर्श वीर और देशप्रेमी चरित्रों को अपने नाटकों का मुख्य विषय बनाया।

भारतेन्दुकालीन हिन्दी समाज ने पूर्णतया नवीन आदर्शों को स्वीकृत नहीं किया और न यहाँ से कोई भी नया मत ही आरम्भ हुआ। आर्यसमाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थना समाज सभी अहिन्दी भाषी क्षेत्रों से प्रारम्भ हुए। हिंदी भाषी क्षेत्रों में तो आरम्भ में उनका विरोध ही अधिक हुआ। इसका मुख्य कारण यह है कि मध्यदेश के निवासी नवीनता की ओर धीरे-धीरे बढ़ते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य की 'भूमिका' में हिंदी प्रान्त की दो विशेषताएँ बताई हैं। (१) 'अपने प्राचीन विचारों से चिपटे रहना और (२) 'धर्मों, मतों, सम्प्रदायों और संस्कृतियों के प्रति सहनशील होना।' वस्तुतः इन्हीं दो विशेषताओं के कारण हिंदी प्रदेश ने बहुत समय तक भौतिकतावादी पाश्चात्य आदर्शों से बचते रहने का प्रयत्न किया। बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, आदि प्रांतों की जनता हिंदी-प्रांत से पहले सजग हो गई। वहाँ शिक्षितों की संख्या भी अधिक थी। हिंदी प्रदेश के कुछ साहित्यिक नेता जितने सजग और प्रयत्नशील थे उतनी ही अधिकांश साधारण जनता मूढ़ और अन्धविश्वासी तथा पिछड़ी हुई थी। इसलिये भी नेताओं को अपने सुधार कार्यों में बड़ी कठिनाई हुई और जिन नवीन आदर्शों को उन लोगों ने समाज में प्रचार करना चाहा वे पूर्णतया स्वीकृत न हो सके। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने लिखा

है कि 'उत्तर पश्चिम प्रदेशों के लोग रूढ़िवादी हैं और किसी भी प्रकार के परिवर्तनों—चाहे वे *सामाजिक, नैतिक या मानसिक सुधार हों,* के कट्टर विरोधी हैं, इसलिये वहाँ की प्रगति धीमी है रूढ़िवाद से मुक्त होने के कारण बंगाल आगे और वास्तव में प्रगति कर रहा है।'[1]

हिंदी प्रदेश की रूढ़िप्रियता के कारण वहाँ प्राचीनता अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिककाल तक सभी क्षेत्रों में बनी रही। साहित्य भी इस कथन का अपवाद नहीं हो सकता। साहित्य के नवोदित अंग गद्य में नवीनता को अधिक स्थान मिला, क्योंकि नवीन परिस्थितियों की अभिव्यक्ति के लिये ही इस माध्यम का विकास हुआ था, परन्तु काव्य में बहुत कुछ प्राचीनता बनी रही। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि *काव्य का धारा गद्य से* बहुत प्राचीन थी। उसके साथ प्राचीन युग का संस्कार और अभ्यास बना हुआ था। अतः भारतेंदु कालीन पद्य साहित्य में प्राचीनता की प्रधानता रही। परंतु इसका यह *अर्थ नहीं कि हरिश्चंद्र कालीन साहित्य* में नवीनता का अभाव है। छायावादी युग के नवीन काव्य और रीतिकालीन प्राचीन काव्य में जो जमीन आसमान का अन्तर दिखाई पड़ता है, वह किसी एक क्षण या एक दिन का जादू नहीं है बल्कि उसका सूत्रपात भारतेन्दु युग में ही हो गया था। काव्य के उपादान, रूप छन्द और शिल्प शैली आदि में जो क्रमशः क्रांति हुई, भारतेन्दु काल उसका अग्रदूत है। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से प्रेरित इस क्रान्ति का सम्यक् दर्शन करने के लिये सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन उसके मुख्य अवयवों-उपादान, रूप, छन्द और कला—में बाँट कर किया गया है।

(क) उपादान

मानव और प्रकृति काव्य के दो प्रमुख उपादान हैं। यदि प्रेम को, जिसका साहित्य में बहुत महत्व है, एक स्वतन्त्र शीर्षक से अलग मान लिया जाता तो काव्य के तीन मुख्य विषय-मानव, प्रेम और प्रकृति—हो जाते हैं। *रीतिकालीन साहित्य में मानव के सम्पूर्ण रूपों को नायक-नायिका के रूप में ही* देखा सुना गया। राधा-कृष्ण की अवतारणा भी भक्त और भगवान के रूप में

1—हरिश्चन्द्र मैगजीन, अंक १ सख्या १, १८७३।

कम, लौकिक नायिका और नायक के रूप में ही अधिक हुई। उनका प्रेम वासनामय शृंगार हो गया था। प्रकृति की चर्चा भी उसी शृंगार को उद्दीप्त करने के लिए कर दी जाया करती थी। वह भी आँखों से देख कर नहीं, शास्त्रों से पढ़ कर। इसीलिए उनके फूलों में रंग होता था, सुगन्ध नहीं रहती थी। कागद के गुलदस्ते की तरह कभी कभी भिन्न भिन्न ऋतुओं के फूल एक ही डाल में सजा दिये जाते थे। बनावट के उस जमाने में सचाई को ढूँढने के लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ता था।

भारतेन्दु युग में भी काव्य की वह प्राचीन धारा कुछ परिष्कृत होकर बहती रही। नयी धारा मे भी प्राचीन सस्कार का प्रभाव दिखाई पड़ता है। नवीन बुद्धिवादी युग ने मानव की महत्ता को स्वीकार किया था, परन्तु हरिश्चन्द्र कालीन साहित्य में मनुष्य के साधारण रूपों की चर्चा नहीं के बराबर है। इसके दो मुख्य कारण मालूम पड़ते हैं। एक तो प्राचीन परम्परा का अभ्यास बना हुआ था, दूसरे नवजागृति के युग मे समाज की दुरवस्था के प्रति विवेकी पुरुष इतने चिन्तित हो गये कि समाज की बुराइयों तथा उनके परिष्कार के प्रयत्नों से मुक्त होकर मनुष्य के व्यक्तिगत गुणों और अवगुणों की चर्चा का उन्हे अवकाश ही नहीं मिला।

समाज-सुधार और राष्ट्रीयता

जैसा पहले अकित किया गया है हरिश्चन्द्र काल मे साहित्यिकों की दृष्टि हिंदू समाज की दुरवस्था और उसके सुधार की ओर लगी रही अतः तत्कालीन नवीन काव्य धारा का यही मुख्य विषय बन गया। समाज सुधार से सम्बद्ध अनेक आन्दोलन, देश की यथार्थ पतितावस्था, तथा उसके सुधार के उपायों को ही काव्य मे प्रमुख स्थान दिया गया। काव्य साहित्य की नवीन-धारा जीवन के ठोस धरातल पर वेग से अग्रसर हुई। लोक साहित्य की परिष्कृत धारा भी भारतेन्दु के प्रयत्न से आकर उसमे मिल गई। इससे हिंदी काव्यधारा की गति बहुत बदल गई। विषयों में अनेक रूपता आने लगी। इस नवीनधारा मे जो विशेष विचार पाये जाते हैं, उनमें पीड़ित भारतीय जनता की पुकार, देशभक्ति एवं समाज सुधार का स्वर ही सबसे ऊँचा है। देशभक्ति के साथ ही राजभक्ति का स्वर भी मिला हुआ है। मिश्र विजय पर भारतेन्दु ने 'विजयिनी विजय पताका' लिखी और अफगान विजय

पर 'विजय वल्लरी'। इन कविताओं में मुसलमान विरोधी भावनाओं का उद्गार है। राजभक्ति विषयक इन कविताओं के अन्तराल में स्वच्छंद आत्मा का स्पष्ट विद्रोह निहित है। यदि अफगान विजय पर हर्ष है तो आर्थिक शोषण पर क्षोभ भी कम नहीं है।

> 'सुजस मिले अगरेज को होय रूस की रोक
> बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै हमको केवल सोक।
> ....
> भारत राज मझार जो कहुँ काबुल मिलि जाइ
> उज्ज कलक्टर होइ हैं हिंदू नहिं तित जाइ।
> ये तो केवल मरन हित, द्रव्य देन हित हीन
> तासों काबुल युद्ध सो, ये जिय सदा मलीन।'[1]

अंग्रेजों की शोषण नीति पर व्यंग्य करते हुए 'नए जमाने की मुकरी' में उन्होंने स्पष्ट लिखाः—

> 'भीतर भीतर सब रस चूसै, हसि हसि कै तन मन धन मूसै।
> जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेज॥'[2]

अंग्रेजों की शोषण नीति से भारतीय प्रजा खोखली हो गई। उसके रक्त की होली खेली गई, वह क्या होली मनाती?

> 'जुरि आए फाके-मस्त होली होय रही,
> घर में भूजा भाग नहीं तो भी न हिम्मत पस्त। होली०
> मंहगी परी, न पानी बरसा बजरौ नाहीं सस्त।
> धन सब गया अकिल नहि आई तो भी मगन करत[3] ॥ होली०

भारत की परतन्त्रता, दीनता और हीनता का कारण वे धार्मिक सामाजिक, राजनैतिक फूट, रूढि, अन्ध विश्वास और आडम्बर आदि को

१—हरिश्चन्द्र—'विजय वल्लरी'—भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वि० भा० पृ० ७९५।

२—हरिश्चन्द्र—नये जमाने की मुकरी, भा० ग्र०, द्वि भा० पृ० ८११।

३—हरिश्चन्द्र मधुमुकुल, भा० ग्र०, द्वि० भा० पृ० ३९६-७।

मानते थे। इन विषयों पर उन्होंने विस्तृत रूप से अपनी रचनाओं द्वारा प्रकाश डाला है। धार्मिक सम्प्रदायों और नाना मतवादों का प्रचार कर भारत को गारत करने वाले पंडे-पुजारियों को दोष देते हुए वे कहते हैं—

'रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए।
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान सम्बन्ध सबन को बरजि छुड़ायो[1]॥

वर्तमान अवनति के प्रति विक्षोभ प्रकट करने के साथ ही अतीत गौरव का गान भी सुधारवादी कविताओं का एक पक्ष है। जनता के हृदय में उत्साह भरने के लिए पूर्वजों का पौरुष और आदर्श उत्तम प्रेरक होता है। भारत के प्राचीन क्षत्रियों का यशगान करते हुए वे लिखते हैं—

धन-धन भारत के सब क्षत्री जिनकी सुजस धुजा फहराय,
मारि मारि कै सत्रु दिये हैं, लाखन बैर भगाय।
महानन्द की फौज सुनत ही डरे सिकन्दर राय,
राजा चन्द्रगुप्त ले आए सिल्यूकस की जाय[2]।'

आर्थिक शोषण से मुक्त होने और समाज की उन्नति के लिए स्वदेशी का स्वीकार और विदेशी का बहिष्कार भी आवश्यक बताया गया। स्वदेशी वस्त्र, स्वदेशी वेषभूषा, स्वदेशी शिक्षा, सभ्यता और स्वभाषा पर जोर दिया गया। वे चाहते थे कि 'उपधर्म छूटैं', 'सत्वनिजभारत है' 'पर दुग्ध बहै' और 'नारिनर समहोहिं'। इन्हीं उद्देश्यों के लिए हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने सतत प्रयत्न किया।

स्वच्छन्दतावाद का विकास काल

सन् १८८५ ई० हरिश्चन्द्र की मृत्यु के साल ही कांग्रेस की स्थापना हुई। प्रतापनारायण मिश्र ने इसे साक्षात् दुर्गा का अवतार माना क्योंकि देश-हितैषी देव प्रकृति के लोगों की स्नेह शक्ति से वह आविर्भूत हुई थी। अंग्रेजी

१—हरिश्चन्द्र भारतेंदु नाटकावली इंडियन प्रेस पृ० ६०४।
२—वही, भा० ग्रं०, द्वि० भा०, पृ० ५०३।

कूटनीति, शोषण के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया हुई और ज्यों ज्यों उनकी नीति खुलती गई त्यों त्यों देशवासियों के मन में संगठन, स्वदेशप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना अधिकाधिक विकसित होती गई। प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा है—

> 'नित हमरी लातें सहैं हिन्दू सब धन खोय।
> खुलै न इंग्लिश पालिसी जन्म सुफल तब होय।'[1]

हिन्दुत्व की भावना कुछ विकसित हुई, देशोद्धार की चिन्ता होने लगी। राष्ट्रीयता या देशप्रेम साहित्य का प्रधान विषय हो गया। श्रीधर पाठक की निम्नांकित पंक्तियों में स्वाधीनता का स्वर प्रथमबार प्रबल वेग से निकल पड़ा—

> 'जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द
> जय जयति जयति प्राचीन हिन्द,
> हिन्द अनूपम अगम वन, प्रेम बेल रस पुंज,
> श्रीधर मन मधुकर फिरत गुंजत नित नव कुंज।'[2]

श्रीधर पाठक ने स्वाधीनता का यह स्वर काव्य में सर्वत्र और सर्वप्रथम ऊँचा किया। नवीन भौतिकवादी विचार धारा एवं अंग्रेजी साहित्य का परिचय भी सबसे पहले श्रीधर की रचनाओं में ही मिलता है। वे संसार को सत्य बताते हुए 'जगत सचाई सार' में लिखते हैं—

> 'कहो न प्यारे मुझसे ऐसा, झूठा है यह सब संसार।'

उन्होंने कविता के विषय और उपादानों को प्राचीन बन्धनों से, प्रकृति को रूढ़ियों से और छंदों को रीतिकालीन संकीर्ण परम्परा से स्वतन्त्र किया। लोकप्रिय विषय लोकप्रचलित भाषा में छन्दबद्ध किए जाने लगे। जनता का दुखदर्द और उसकी माँग कविता के मुख्य विषय बन गए। युग के जागरूक साहित्यिक बालमुकुन्द गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि 'पराधीन लोगों की तुकबन्दी में कुछ तो अपने दुःख का रोना होता है और कुछ अपनी गिरी दशा पर पराई हँसी होती है।' वस्तुतः उस युग की अधिकांश रचनाओं में यही

१—प्रतापपीयूष पृ० १६।

२—'हिन्द वन्दना' १८८५ ई० पृ० ४८।

दो प्रवृत्तिया दिखाई पड़ती हैं। वे या तो अपने पतन पर रोते हैं या आत्म-विस्मृत लोगों पर व्यंग करते हैं। पुरानी लकीर के फकीर, नये फैशन के गुलाम दोनों पर तीव्र व्यंग किया गया क्योंकि दोनों ही 'अतिवादी' हैं और इन्हें सामान्य धरातल पर लाने के लिये व्यंगों की आवश्यकता होती है। काव्य लोकशिक्षा का माध्यम बना। अत लोकभाषा की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ने लगी। भारतेन्दु युग मे रूढ़िप्रियता के कारण खड़ीबोली का विरोध हुआ पर क्रमशः युग की माग के साथ कवियो को खड़ीबोली का महत्त्व स्वीकार करना पड़ा। असामयिक प्राचीन रूढि का अन्ध पालन बुद्धिवादी युग मे सभव नहीं होता। समाज और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों मे उसका विरोध होता है। 'बाबा बचन' की चुटकी लेते हुए बालमुकुन्द गुप्त कहते हैं कि अब यह सभव नहीं कि—

> 'मानो इस शरीर का कहना मत हिलाओ कान,
> जरा बुद्धि से काम न लो बस बाबा बचन प्रमान'[1]।

जीवन के हर क्षेत्र मे लीक पीटने वाले दकियानूस हंसी के पात्र हो रहे थे। 'लिकपिट्टन' का निम्नलिखित कथन स्वयम् उनका उपहास कर रहा है—

> 'लोटिया थारी काहिइ ही लइन दार लैं होय।
> होय तारीक बरात की जन्म सुफल तब होय।'[2]

दूसरी ओर नयी सभ्यता और नये फैशन के गुलामों पर भी व्यंग्य किया गया। सुधारकों की बहकी बहकी बातों पर व्यंग्य करते हुए 'देशोद्धार की तान', 'नया काम कुछ करना', या 'सुधार' आदि कविता गुप्त जी ने लिखीं। 'सभ्य बीबी की चिट्ठी' मे वे नये फैशन की बीबी पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—

> 'हमरे कोमल अंग कँह ढाके राखत गौन।
> तुम्हरे अग धोती फटी नाम मात्र की तौन।
> मेरे सिर पै कैप अरु मोर पुच्छ लहराय।
> तेरे सिर पगडी फटी साफ मजूर दिखाय।'[3]

१—बालमुकुन्द गुप्त—'धर्म महामण्डल' स्फुट कविता पृ० १६२।
२—प्रतापनारायण मिश्र—प्रताप पीयूष, प्र० स० पृ० १९१।
३—बालमुकुन्द गुप्त—'स्फुट कविता' पृ० ११२।

देश की दुर्दशा के मूल कारण गुलामी पर ग्लानि प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा—

> 'हमरे जाति न धर्म है नहीं अर्थ नहिं काम,
> कहाँ दुरावैं आप से हमरी जाति गुलाम।
> बहु दिन बीते राम प्रभु खोए अपनो देस,
> खोवत हैं अब बैठ के भाषा भोजन भेस।'[1]

इस गुलामी से मुक्त होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही देशोन्नति का मूल है यह भावना भी निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट प्रकट है—

> 'सब तजि गहौ स्वतन्त्रता नहि चुप लातैं खाव,
> राजा करै सो न्याव है पासा परै सो दाव[2]।

देशभक्ति या राष्ट्रीयता इन पंक्तियों में स्पष्ट ध्वनित हुई है। राष्ट्रीयता के अनेक पक्षों का विकास हुआ। मातृभूमि की प्रशंसा और उसके गौरव का गान करने के अलावा उसे देव रूप में देखा गया। देशोद्धार की भावना इतनी प्रबल हो गई कि प्रेम, भक्ति सभी उसी में समाहित हो गये। देश के लिए देवी देवताओं की प्रार्थना तो की ही गई, स्वदेश को ही देवत्व प्रदान कर दिया गया। श्रीधर पाठक 'नौमिभारतम्' में लिखते हैं—

> 'सुखधाम अति अभिराम गुन-विधि नौमि नित प्रिय भारतम्
> सुठि सकल जन संसेव्य सुभफल सकल जग सेवा रतम्,
> सुचि सुजन, सुफल, सुमस्य सकुल सकल भुवि अभिनंदितम्।
> नित नव सुऋतु सुदृश्य सुठि छवि अवलि, अवनि अनंदितम्[3]।

इन सामयिक विषयों के अतिरिक्त कवियों की दृष्टि उस जन सामान्य भूमि पर भी गई जो बहुत समय से उपेक्षित थी। अत्यन्त साधारण विषय भी कविता के उपादान बने। प्रतापनारायण मिश्र ने 'बुढापा' लोकप्रिय लय आल्हा में लिखा। बालमुकुन्द गुप्त ने 'भैंस का स्वर्ग', 'प्लेग की भूतनी', 'जनाने पुरुष', भैंस का मर्सिया' आदि लिखा। पश्चिमी

१—वही पृ० १६।

२—प्रतापनारायण मिश्र—'लोकोक्तिशतक' पृ० ३।

३—श्रीधर पाठक—नौमिभारतम् पृ० ८४ (आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास)।

साहित्य के प्रभाव से कवियों की दृष्टि क्रमशः यथार्थवादी होती जा रही थी। उन्होंने देखा कि राजा-महाराजा, और प्रतापी वीर तो विरले हैं। संसार में साधारण मनुष्य ही अधिक दिखाई देते हैं अतः इन्हें भी काव्य में उचित स्थान मिलना चाहिए। अतः मूर्ख ब्राह्मण, ईसाई, नये फैशन के गुलाम, कंजूस, मूर्ख, लिकफ्टिन आदि व्यंग-पद्यों के उपादान बनाए गए। ये सभी एकवर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं न कि व्यक्ति का। कभी भी व्यक्तिगत रूप से सामान्य मानव का चित्रण काव्य में संभव नहीं हो सका था। उर्दू के अन्धभक्त कायस्थों पर प्रतापनारायण मिश्र का निम्नांकित व्यंग्य देखिये–

> 'देख तुम्हारे फरजन्दों का तौरो-तरीक तुमाओ कलाम।
> खिदमत कैसे करूं तुम्हारी अकल नहीं कुछ करती काम।
> आवे राह, नजर गुजरानू या कि नये गुलगूं का जाम।
> मुंशी चितरगुपुत साहब तसलीम कहूँ या तृप्यन्ताम[1]।

या बालमुकुन्द गुप्त के 'जोरूदास' का गीत सुनिये–

> 'अपना कोई नाही रे।
> मात पिता निज सुख लगि जायो अपने सुख के भाई।
> एक जोरू ही संग चलेगी ऐसी शिक्षा पाई[2]।'

प्रेम

इस काल की कविता में ही प्रेम को भी स्वाभाविक स्वरूप मिला। प्रेम का स्वच्छन्द रूप श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासीयोगी' द्वारा प्रस्तुत किया। रीतिग्रन्थों के लक्षणों पर आधारित सयोग वियोग का वर्णन न करके उन्होंने प्रेम की एक ऐसी लोकप्रचलित कहानी सुनाई जो सबके हृदय की अपनी कहानी थी। यह कहानी ही नहीं, मानव जीवन का एक चिरन्तन सत्य है। किसी के प्रेम में योगी होकर प्रकृति के एकान्त क्षेत्र में कुटी बनाकर निवास करना एक ऐसी मार्मिक भावना है जो सभी देश के सभी हृदयों को समान रूप से स्पर्श करती है। इंगलैंड में बढ़ती हुई भौतिकता के विरुद्ध किसी

१—प्रतापनारायण मिश्र—'तृप्यन्ताम' खड्गविलास प्रेस द्वि० सं० १९१४ पृ० १७।

२—बालमुकुन्दगुप्त—'स्फुट कविता' पृ० १३३।

एकान्त क्षेत्र में प्रेम की पूजा का सकेत देने के लिये ही 'हरमिट' की अवतारणा हुई थी। यह प्रेम कहानी पद्धति की रूढ़ि से मुक्त लोकगीतों के मेल में दिखाई पड़ती है[1]। पाण्डित्य की रूढ़ियों से मुक्त कर काव्य को स्वच्छन्दतापूर्वक जनता के हृदय में संचरित कराने की शक्ति वस्तुतः ग्रामगीतों द्वारा ही मिलती है। अंग्रेजी के कवि बर्न्स, शैली, स्काट आदि ने भी ऐसी ही लोकप्रचलित कथाओं को लोकगीतों की लय में ढालकर कविता को स्वच्छन्द एवं जनप्रिय बनाने का सफल प्रयास किया था। अपने इन्हीं गुणों के कारण *'एकान्तवासी योगी'* प्रेम की अन्य काव्य रचनाओं से कई गुना अधिक लोकप्रिय हुआ। एकान्तवास योगी पंचम संस्करण की भूमिका से सकेत मिलता है कि युवतियाँ इसे सोते समय भी अपने सिरहाने रखती थीं। 'एकान्तवासी योगी' में आदर्श प्रेम की व्यंजना का एक नमूना देखिये—

> 'जाकर वहां जगत को मैं भी उसी भांति बिसराऊंगी।
> देह मोह को देय तिलान्जलि प्रिय से प्रीति लगाऊंगी।
> मेरे लिये एडविन ज्यों किया प्रीति का नेम,
> त्यों ही मैं भी शीघ्र करूंगी परिचित अपना प्रेम[2]।'

प्रकृति

श्रीधर पाठक और बालमुकुन्द ने प्रकृति को पहिली बार बन्धनों के बाहर लाकर स्वच्छन्द किया। हरिश्चन्द्र और उनके मंडल के सभी कवि प्रायः मानव प्रकृति के गायक थे। परन्तु पाठक जी ने प्रकृति के रूढ़िबद्ध

१—इसके सम्बन्ध में २२ मई १८८८ के होमवार्ड मेल लन्दन ने लिखा था—

"This translation of Gold Smith's 'Harmit' is a valuable addition to Hindi Literature, for it will tend to divert the Indian mind from the *extravagances of oriental imagery and fix it upon the sympathies and affections of the human heart*"

(एकान्तवासी योगी, नवां संस्करण, भूमिका पृ० ६)

२—वही पृ० १४।

रूपों तक ही लेखनी को सीमित न रखकर उसके उस यथार्थ और स्वाभाविक रूप का भी वर्णन किया जिसे उन्होंने अपनी आंखों से देखा था। ये खड़ीबोली में मुक्त प्रकृति विषयक रचनायें हरिश्चन्द्र के समय से ही करने लगे थे। वसंतागम (१८८१), वसंत राज्य (१८८३), हिमालय (१८८४), मेघागम (१८८५), सरल वसंत (१८८५), के अलावा घनाष्टक (१८८६) हेमन्त (१८८७), वनाष्टक और देहरादून आदि उनकी प्रसिद्ध कविताएँ हैं। स्थूलरूप से उनकी प्रकृति विषय कविताओं को चार भागों में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग में वे कविताएं हैं जिनमें प्रकृति का अति सामान्य एवं यथार्थ चित्रण किया गया है जैसे 'हेमन्त' का निम्नांकित पंक्तियों में —

'बीता कातिक मास सरद का अन्त है
लगा सकल सुखदायक ऋतु हेमंत है।
ज्वार बाजरा आदि कभी के कट गए,
खल्यान के काम से किसान निबट गए,
थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे,
रबी के लहलहे नए अंकुर जमे[1]।'

प्रकृति चित्रण की दूसरी शैली उन कविताओं में मिलती हैं जहां प्रकृति के असामान्य सौंदर्य का कवि ने मनोहारी रूप खींचा है जैसे 'हिमालय' में—

'उज्वल ऊंचे शिखर दूर देखन सों चमकत
परत भानु-नव-किरन प्रात सुबरन सम दमकत
लता पुहुप बनराजि, सदा ऋतुराज सुहावत
हरी भरी लहलही वृक्षमाला मन भावत[2]।'

तीसरे वर्ग की कविताओं में पाठक जी ने प्रकृति को चेतन सत्ता के रूप में चित्रित किया है। प्रकृति पर मानव भावों का आरोप करके चित्रण करना गोल्डस्मिथ का प्रभाव माना जा सकता है। प्रकृति कभी सहानुभूति प्रकट करती है, कभी एकान्त में बैठ कर शृंगार करती है अर्थात् वह

१—श्रीधर पाठक—'हेमन्त' मनोविनोद १९१७ पृ० ७४—७५।
२— ,, 'हिमालय' ,, ,, ।

जड़ नहीं एक चेतन सत्ता है। इस सम्बन्ध में 'कश्मीर सुषमा' की कुछ पंक्तियां उद्धरणीय हैं।

> 'प्रकृति यहां एकान्त बैठि निज रूप सवारति।
> पल पल पलटति भेस 'छिनक छवि छिन-छिन धारति।
> विमल अम्बु सर मुकुरन मह मुख बिम्ब निहारति,
> अपनी छवि पै मोहि आप ही तन मन वारति[1]।'

'मेघागम' में वे बाल विधवाओं के मनोभाव व्यक्त करते हैं। इस शैली पर बालमुकुन्द गुप्त ने भी कई कविताएँ लिखीं। वर्षाभाव से अकाल-ग्रस्त कवि ने मेघों की प्रार्थना करते हुए 'मेघमनावनि' लिखी। गुप्त जी में पाठक जी की विशेषताओं के अतिरिक्त एक मुख्य विशेषता यह दिखाई कि उन्होंने प्रकृति के रुद्र रूपों को भी काव्य में स्थान दिया। 'वर्षा' से कुछ पंक्तियां देखिये—

> 'जो नद पन्यो हुतो रेती पै सिमकत सर्प समान,
> सो अब उमडि उमडि निज लहरन छुयो चहत असमान।
> फेन उड़ावत, दौर्यो आवत सदन गिरावत तीर,
> बारम्बार तरंग उठावत करत प्रलय सम सोर[2]।

'नवोत्सव' में गुप्त जी ने झड़बेरी, सरसों, चना का साग जैसी अति सामान्य वस्तुओं का यथार्थ एवं हृदयग्राही चित्रण किया। एक उदाहरण लीजिये—

> 'आ आ प्यारी वसन्त सब ऋतुओं में प्यारी।
> तेरा शुभागमन सुन फूली केसर क्यारी।
> सरसों तुझको देख रही है आंख उठाये।
> गेंदे ले ले फूल खड़े हैं सजे सजाये।
> मारा सकते बेरी के हुए सब फल पाले।
> महते सहते शीत हुए सब पत्ते ढीले।'

वसंत की समृद्धि और शोभा कवि को भारत की निर्धनता का स्मरण दिला जाती है और वह कहता है—

१—श्रीधर पाठक—'कश्मीर सुषमा' १९०४।

२—बालमुकुन्द गुप्त—वर्षा, स्फुट कविता पृ० ८७।

'जिन खेतों में आय पथिक गण बहु सुख पाते।
फल खाते सुमताने सानंद घर को जाते।
गावों के लड़के जब उन खेतों में आते।
देरों सरसों तोड़ तोड़ कर घर ले जाते।
आज पुलिस वाले उनको करके बरजोरी,
जेल रहे हैं भेज लगा सरसों की चोरी'[1]।

रीतिकालीन परम्परा में बसंत का वर्णन करते समय सरसों के पीले फूलों की चर्चा बहुत की गई पर गरीब किसान किस चाव से सरसों का साग खाता है—इस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। गुप्त जी ने न केवल इस सत्य की ओर ध्यान ही दिलाया वरन् वह साग भी आज कितना अलभ्य है, यह बताकर भारत की घोर दरिद्रता का करुण चित्र भी प्रस्तुत कर दिया। यह यथार्थवादी प्रवृत्ति प्रकृति के क्षेत्र में पहली बार दिखाई पड़ी। श्रीधर पाठक और बालमुकुन्द गुप्त ने प्रकृति चित्रण का नव संस्कार किया। इनके प्रकृति वर्णन भी देश प्रेम से ओतप्रोत हैं।

पाठक जी की चौथी शैली उन कविताओं में दिखाई पड़ती है जिनमें प्रकृति के सौन्दर्य पर कवि ने स्वाभाविक हर्षोद्रेक व्यक्त किया है। वर्डसवर्थ भी इसी प्रकार साधारण इन्द्रधनुष को देख मोर की तरह नाच उठता था। इस प्रकार की प्रसन्नता पाठक जी ने हिमालय, कश्मीर सुषमा, देहरादून आदि कविताओं में जगह जगह पर व्यक्त की है। सारांश यह कि प्रकृति उद्दीपन विभाव मात्र न रहकर कवियों के भावों का आलम्बन भी बनी।

राष्ट्रीयता के प्रेम से अनुप्राणित इन कवियों ने राष्ट्र भाषा हिन्दी को भी अपनी कविता का विषय बनाया। खड़ीबोली का जो आन्दोलन गद्य के क्षेत्र में चल रहा था उसकी चर्चा की जा चुकी है। उसका इतना अधिक प्रभाव पड़ रहा था कि सभी कवियों ने उर्दू के विरुद्ध इसके समर्थन में कवितायें लिखीं। हरिश्चन्द्र का तो मंत्र ही था 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'। प्रतापनारायण मिश्र ने भी 'हिन्दी' का नारा उठाया और कहा—

१—बालमुकुन्द गुप्त—'वसंतोत्सव' स्फुट कविता पृ० ७१।

'चहुहुँ जुमाँचो निज कल्यान, तो सब मिलि भारत सन्तान।
जपा निरन्तर एक जबान, 'हिन्दी, हिन्दू, हिंदुस्तान'[1]।'

बालमुकुन्द गुप्त ने भी १७ मई १६०० ई० म अवध पच[1] में प्रकाशित उर्दू की अपील का बड़ा तीखा उत्तर 'उर्दू को उत्तर' शीर्षक से भारत मित्र में दिया। नागरी लिपि के प्रचलित किये जाने पर उर्दू की ओर से बड़ा विरोध किया गया था। उसी सम्बन्ध में गुप्त जी लिखते हैं—

'यह सरकार ने दी है जो नागरी—
इसे तुम न समझा निरी बावरी
तुम्हारी यह हरगिज नहीं सौत है।
न हक में तुम्हारे कभी मौत है।
समझ लो अदब की यह पोशाक है।
हया और इज्जत की यह नाक है[2]।'

सन् १६०० ई० से लेकर आगे के दो दशक हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १६०० तक द्विवेदी जी की खड़ीबोली की कई कवितायें हिन्दी बंगवासी, वेंकटेश्वर समाचारपत्र, भारत मित्र और सरस्वती में प्रकाशित हो चुकी थीं। कुछ विद्वान सन् १६०० ई० के पूर्व की इन सब रचनाओं को ब्रजभाषा का पद्य मानते हैं पर यह आज का सिद्धान्त है जब अत्यन्त परिष्कृत खड़ीबोली का रूप सामने आ चुका है परन्तु खड़ीबोली के मान्य कवि श्रीधर पाठक ने (२८ फरवरी सन् १६०१) आगरे से एक पत्र में अयोध्या प्रसाद खत्री को लिखा था कि मैं आपकी पत्रिका (खड़ीबोली) का सम्पादन तो नहीं कर सकूँगा परन्तु शुरू कीजिए, मैं लेख दूंगा। इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी आपको विशेष सहायता देंगे और उनके 'खड़ीबोली के पद्य आजकल भारत मित्र में धड़ाधड़ छप रहे हैं।' पाठकजी ने (१० फरवरी १६००) अपनी 'नव वसत' कविता द्विवेदी जी को समर्पित की थी। पाठकजी के पत्र और उनके श्रद्धाभाव से प्रकट होता है कि १६०० ई० तक द्विवेदी जी खड़ीबोली के प्रमुख समर्थक एवं कवि के रूप में सामने आ चुके थे। वस्तुतः उनके नेतृत्व में ही खड़ीबोली पद्य ने अपनी सम्पूर्ण अवस्थायें पार कीं और यौवन का उत्कृष्ट विकास देखा। इस काल के काव्य-साहित्य

१—प्रतापनारायण मिश्र—प्रताप पीयूष पृ० २१८।
२—बालमुकुन्द गुप्त—'स्फुट कविता' पृ० १७७।

में अद्भुत परिवर्तन हुआ। कविता की आत्मा (स्पिरिट) बदल गई। किसी एक वृत्ति या विषय में काव्य सीमित नहीं रह गया फिर भी किसी वृत्ति या विषय की कमी किसी को नहीं खटकती। न तो वीरगाथा काल की तरह वीर रस में ही सम्पूर्ण कविता सीमित हो गई और न भक्तिकाल की तरह भक्ति अथवा रीतिकाल की तरह केवल शृंगार में, बल्कि वीर, भक्ति और शृंगार के साथ अनेक अन्य विषयों से आधुनिक कविता द्विवेदी जी के मार्ग निर्देशन द्वारा समृद्ध हुई है।

पीछे कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी काव्य को लोकरंजन या लोक शिक्षा का साधन मानते थे। लोक शिक्षक के लिये उदार होना आवश्यक है। वह प्राचीन कुरीतियों का निर्ममता पूर्वक बहिष्कृत करता है और नवीन उत्तम आदर्शों को समाज में स्थान देता है। द्विवेदी जी इसी उदार अर्थ में स्वच्छन्दतावादी थे। उन्होंने समाज की बुराइयों, और साहित्य की संकुचित सीमाओं का विरोध किया, उनका यथार्थ चित्र खींचकर उसकी ओर से लोगों को विरत करने का प्रयत्न किया, अतः वे रूढ़िवादी या पुराणपंथी नहीं थे। उन्होंने वांछित परिवर्तन का न केवल स्वागत किया बल्कि उसके लिये स्वयम् आन्दोलन किया। पुरानी कुरीतियों और रूढ़ियों के स्थान पर लोकनायक या सुधारक के नाते उन्हें नवीन आदर्शों का भी विधान करना पड़ा। यह नवीनता पश्चिम की भौतिकतावादी आदर्शों के आधार पर नहीं निर्मित थी। यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है। द्विवेदी जी के आदर्श शुद्ध भारतीय थे और वे भारत के गौरवशाली अतीत से ग्रहण किये गये थे। बहुत दिनों से अज्ञानान्धकार में वे आदर्श ढके हुए थे, द्विवेदी जी ने उनका उद्‌घाटन किया, बस इसी अर्थ में उन्होंने नवीनता का स्वागत किया था उनके आदर्श नवीन थे। उनकी नवीनता का अर्थ अंग्रेजी सभ्यतावाली नवीनता नहीं थी।

द्विवेदी युग के मध्यमवर्ग और हरिश्चन्द्र युग के मध्यम वर्ग की प्रवृत्ति में काफी अन्तर आ चुका था। हरिश्चन्द्र कालीन मध्यम वर्ग ने अंग्रेजी राज्य को मुसलमानों के विरुद्ध दैवी वरदान समझा था। परन्तु जैसे-जैसे उनकी कूटनीति और शोषणनीति की पोल खुलती गई वैसे वैसे मध्यम वर्ग उनके विरुद्ध होता गया। द्विवेदी युग का मध्यम वर्ग अंग्रेजी राज्य को शाप समझता था और उन्हें भारत से निकाल बाहर करना चाहता था।

अतः अंग्रेजी विचारधारा, सभ्यता, वेशभूषा सब कुछ त्याज्य हो गई। उसके स्थान पर भारतीयता को गौरव दिया गया। आर्यसमाज के वैदिकवाद, विवेकानन्द के ब्रह्मवाद ने भी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से उच्च सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया। अब धीरे-धीरे उनका प्रभाव हिन्दी क्षेत्र पर भी पूरी तरह पड़ने लगा था। इनके कारण भारत के अतीत गौरव की भावना लोगों के मन में जगी[1]।

इस भावना की पुष्टि में विदेशी विद्वानों ने भी योग दिया। रायलएशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के बाद विदेशी विद्वानों द्वारा संस्कृत साहित्य के अध्ययन व अनुवाद की परम्परा चली। जब उन लोगों ने इन ग्रन्थों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की, तो हमारे हृदय में अपने प्राचीन साहित्य के प्रति गौरव का भाव जगा। इसी प्रकार पुरातत्व की स्थापना के बाद विल्सन, कनिंघम व जार्ज मार्शल आदि विद्वानों के प्रयत्नों से हरप्पा की महान व प्राचीन सभ्यता की प्रशंसा ने इस भाव को और भी पुष्ट किया। कर्नल टाड के राजस्थान से राजपूत वीरों के आन-बान और उत्सर्ग तथा जादू भरे व्यक्तित्व की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित हुआ। वंगभंग की घटना के बाद तो यह भावना और भी प्रबल हो गई तथा स्पष्ट ही अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया जाने लगा। जापान विजय ने भी इस भावना को प्रोत्साहन दिया। एलौरा, अजन्ता आदि भारतीय चित्रकला के स्तम्भों की भी विदेशियों ने जी खोलकर प्रशंसा की। इन सब चीजों का प्रभाव यह हुआ कि अंग्रेजी-नकल के प्रति घोर घृणा और भारतीय अतीत, भारतीय दर्शन,

---

१—१८९२ में विवेकानन्द ने शिकागो के अन्तर्राष्ट्रीय धर्म सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व किया, वहां उनके सिद्धान्तों की ऐसी धाक जमी कि 'न्यूयार्क हेराल्ड' ने लिखा—

"*Virekenand is undoubtedly the greatest figure* in the parliament of Religions. After hearing him we feel how foolish it is to send missionaries to this learned nation."

भारतीय वीरता, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य के प्रति अभूतपूर्व अनुराग उमड़ा।[1]

द्विवेदी जी स्वयम् संस्कृत के विद्वान और अपनी संस्कृति के पक्के पुजारी तथा स्वदेश प्रेमी साहित्य स्रष्टा थे। उन्होंने कवियों को संस्कृत साहित्य, ऐतिहासिक एवं पौराणिक महापुरुषों, तथा भारतीय आदर्शों की ओर मोड़ा। वर्तमान का वास्तविक वर्णन तथा अतीत का आदर्श द्विवेदीयुगीन कविताओं में सर्वत्र झलकता है। मानव के आदर्श और यथार्थ दोनों रूपों का चित्रण किया गया।

'मानव के आदर्श रूप' की ओर कविता को आकृष्ट करने के लिये द्विवेदी जी ने रविवर्मा और अन्य उत्तम चित्रकारों के पौराणिक एवं ऐतिहासिक चित्रों की परम्परा चलाई। इनके परिचय स्वरूप सरस्वती में तमाम कवितायें लिखी गई। इनमें मानव के आदर्श चरित्रों का चित्रण किया गया। ये चरित्र देवता, देव सम महापुरुष, और महावीर के रूप में अंकित किये गये। सरस्वती १९४१ में राजा रविवर्मा के चित्र 'शकुंतला का पत्र लेखन' से यह क्रम चला और रम्भा, 'दमयन्ती और हंस', 'गंगावतरण' 'महाश्वेता, 'उषास्वप्न', 'गंगाभीष्म', 'अर्जुन और उर्वशी', 'कुन्ती और कर्ण', आदि नाना चित्रों पर किशोरीलाल गोस्वामी, शंकर, पूर्ण, मैथिली शरण गुप्त, कामताप्रसाद गुरु आदि कवियों द्वारा उत्तम कवितायें रची गईं। गुप्त जी को इस प्रकार की कविताओं में सर्वाधिक सफलता मिली। 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा' की दो पंक्तियाँ देखिये—

> "हे विज्ञ दर्शक देखिये है दृश्य क्या अद्भुत अहा।
> यह वीर करुणा सम्मिलन कैसा विलक्षण हो रहा[2]।

1. Finally, under the impulse of national feeling, the tables were completely turned not only the religious but every-thing Oriental was glorified as spiritual and enonobling, while every thing Western received condemnation as hideously materalistic and degrading" J. N. Farquhar 1924, p 430

२—सरस्वती जनवरी १९०८।

इन रचनाओं द्वारा गुप्त जी को आख्यानक गीति और खंडकाव्य, तथा अन्ततोगत्वा प्रबन्ध काव्य की प्रेरणा मिली। रंग मे भंग (१६०६) इस प्रकार की प्रथम महत्वपूर्ण आख्यानकगीति थी। आरम्भिक रचना होते हुए भी यह पूर्णतया सफल है। इसमें प्रसिद्ध हाड़ावीर कुंभा की कथा है जिसने मातृभूमि के नकली किले का रक्षा मे अपना उत्सर्ग कर दिया। उसके उत्सर्ग में ऐसा आकर्षण है कि बुद्धिवादी उसे मूर्खता नहीं समझता बल्कि उस पर मुग्ध होता है। इसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये —

'तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मान के ?
पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्ति को जड़ जान के ?
भ्रान्त जन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञान से,
देखते भगवान को धीमान उसमें ध्यान से,
है न कुछ चित्तौर यह बूँदी इसे अब मानिये,
मातृभूमि पवित्र मेरी पूजनीया जानिये[1]।'

इस परम्परा पर लाला भगवानदीन ने 'वीर पंच रत्न' (१६०६) सियारामशरण गुप्त ने 'मौर्य विजय (१६१४) श्रीनाथ सिंह ने सती पद्मिनी (१६१५) और गोकुलचन्द्र शर्मा ने 'प्रण वीर प्रताप' (१९१५) आदि कवितायें लिखीं। मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'विकट भट' उस शैली की प्रतिनिधि रचना है। उसकी कुछ पंक्तिया यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

'ऐसा अपमान! कोड़ा खाके मला घोड़ा ज्यों
तड़पे, त्यों ठाकुर ने एक झटका दिया
टूट गए बन्धन तड़ाक किन्तु वेग था
सभला न मस्तक भड़ाक हुआ भीत में
शोणित की लालिमा को चिन्ह सम छोड़ के
ठाकुर का जीवन दिनेश अस्त हो गया।

मृत्यु इन वीरों के लिये खेल था, अकारण आन पर लड़ मरना इनका व्यापार था। मातृभूमि और स्वाभिमान के लिए ऐसी रोमांचकारी वीरता

१—सरस्वती 'नकली किला' १६०९ पृ० ५५५।

केवल राजपूत पुरुषों में नहीं बल्कि स्त्रियों में भी दिखाई पड़ती है। द्वारकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेन्द्र' की आत्मार्पण नामक कविता (१६१६) में हाड़ी रानी अपने पति चूड़ावत को युद्ध यात्रा के समय अपने मोह से मुक्त करने के लिये अपना मुण्डमाल भेंट कर देती है। ऐसे आदर्श चरित्रों द्वारा पतित समाज को बड़ी प्रेरणा तथा बहुत प्रोत्साहन मिलता है। इसी उद्देश्य से द्विवेदी जी ने ऐसे चरित्रों पर विशेष बल दिया। श्रीधर पाठक ने भी पंचम साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से इसी आशयको निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया था—

'अपने इतिहास पुराणों का मन्थन करके जो जो हमारे जातीय बलवर्द्धक उपयुक्त प्रसंग मिलें उनके आधार पर उत्कृष्ट काव्य प्रस्तुत करने से क्या हमारी वर्तमान स्थिति के सुधार और उन्नति में विपुल साहाय्य मिलने की संभावना नहीं है।'

ईश्वर के प्रमुख अवतार राम और कृष्ण भी महापुरुष के रूप ही में अंकित किए गए। प्रियप्रवास में कृष्ण और रामचरित चिन्तामणि में राम के अतिमानवीय कृत्यों का बौद्धिक समाधान प्रस्तुत किया गया है। यह केवल इसीलिये, कि आज का अकालबुद्धिवादी सन्तुष्ट होकर इन महापुरुषों के चरित्रों पर और अधिक श्रद्धा कर सके, न कि इसलिये कि हरिऔध या रामचरित उपाध्याय के हृदय में बुद्धिवाद के फलस्वरूप राम और कृष्ण के चरित्रों पर अविश्वास था।

मैथिलीशरण गुप्त ने ऐसे महापुरुषों को लेकर जयद्रथवध, पंचवटी, अनघ, और साकेत की रचना की। वे राम को भगवान ही मानते हैं पर काव्य में उनका चित्रण बराबर इस प्रकार करते हैं कि वैज्ञानिक बुद्धि को भी उनके महापुरुषत्व में शंका न हो सके। साकेत में गुप्त जी ने लिखा है 'मैं आर्यों को आदर्श बताने आया'। यह आदर्श सर्वग्राह्य हो और किसी को शंका का कारण न मिले अतः उन्होंने अतिमानुषी प्रसंगों का चित्रण यथासंभव टाल दिया है।

सामान्य मानव का यथार्थ चित्रण भी द्विवेदी कालीन कविताओं में पर्याप्त मिलता है। मानव का महत्त्व विज्ञान, भौतिक सभ्यता और लोकतांत्रिक भावना ने स्वीकार कर लिया। काव्य में उसे सम्मानित स्थान मिला।

इसके अलावा भारतीय परिस्थितियों ने भी सामान्य मानवों के असामान्य चरित्रों की ओर कवियों को आकृष्ट किया। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध जितना असन्तोष और विद्रोह बढ़ा उतना ही उधर से दमन चक्र चलाया गया। देशभक्त नाना आपत्ति झेलने के लिये उद्यत हुए। ये सत्याग्रही वीर युद्धवीरों से कम आकर्षण नहीं रखते थे। निरन्तर दरिद्रता की चोट सहने-वाले अथक परिश्रम शील किसान, पेट की ज्वाला से युद्ध करने वाले भिखारी, सामाजिक यन्त्रणाओं की यातना भोगने वाली विधवा ने भी कविता में उचित स्थान प्राप्त किया। इन पर राशि राशि रचनायें की गईं। गोकुलचन्द्र वर्मा ने वर्तमान काल के राष्ट्रवीर गान्धी को अपने खण्डकाव्य 'गान्धी गौरव' का नायक बनाया और इनके शस्त्र अहिंसा और सत्याग्रह का गौरव गान किया। भगवन्नारायण भार्गव की सत्याग्रह नामक कविता से चार पंक्तियाँ देखिये—

नियम अन्यायमय तोड़ो यही कर्त्तव्य है सच्चा,
महात्मा गान्धी का संग करो कटिबद्ध हो मित्रो।
जरा प्रह्लाद ध्रुव की जीवनी से भी तो लो शिक्षा,
करो सब प्राप्त स्वत्वों को विचारात्मा बना सच्चा[1]।

कृषकों और अनाथों की दीनदशा के प्रति लोगों को सचेत करने के लिये अनेक करुण कविताएँ लिखी गईं। मैथिलिशरण गुप्त ने 'किसान' (१९१५), सियारामशरण गुप्त, ने 'अनाथ' (१९१७) गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने 'कृषक क्रन्दन (१६१६) आदि कवितायें लिखीं। निराला की विधवा, भिक्षुक मोहनलाल महतो की पनिहारिन तथा गुरुभक्त सिंह की कृषक वधूटी, नाविक वधू आदि इस क्षेत्र में अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। क्रमशः कवियों के भावक्षेत्र में किसान का महत्त्व बढ़ने लगा और उनका शोषण करने वाले अमीरों के विरुद्ध प्रगतिवादी कवियों का सा क्षोभ भी कहीं-कहीं सुनाई पड़ने लगा। जैसे 'कृषक कीर्तिगान' में गिरिधर शर्मा लिखते हैं—

'जय किसान
जय जय किसान

१—मर्यादा अगस्त १९१७।

शीलवान
सद्‌गुण निधान
कहे कुछ भी मूढ़ लोग, तू साधे पर कर्मयोग
शात गृष्म वर्षा महान, सहता सब तन पर समान,
जय किसान[२] ।

'जाड़ा और निर्धन' मे केशवप्रसाद मिश्र ने अमीरों की तुलना मे एक निर्धन का कड़ी शीत म बड़ा करुण चित्र प्रस्तुत किया है। जाड़े की भयकरता निम्नलिखित पक्ति में देखिये—

'पानी पीने में गलते हैं दात, नहाना है सग्राम',

और इससे बचने के लिए—

'बाबू लोग डाटकर स्वेटर, शर्ट, वेस्ट, गेटिस पतलून।
ओवर कोट, काट, कम्फर्टर, केप आदि गुडलक के बूत ॥'

घरा म बैठे हैं परन्तु वह बेचारा दीन—'सिरपर लाद घास का बोझा तन पर नहीं एक भी सूत नगा' शीत म ठिठुरता है। सामान्य मानवता से बहक हुए लोगों को लक्ष्यकर व्यग्य पत्रों की परम्परा भी चलती रही। इसके अन्तर्गत द्विवेदी जी की 'सरगो नरक ठिकाना नाहि (१६०६), नाथूराम शकर का 'पच पुकार' और मैथिलीशरण गुप्त की 'पचपुकार का उपसहार' आदि विशेष रचनायें हैं।

'राष्ट्र' को लेकर भी आदर्शवादी और यथार्थवादी रचनायें की गई। वर्तमान के प्रति विक्षोभ और दुखी राष्ट्र का दीन चित्र यथार्थ के अन्तर्गत तथा राष्ट्र का गौरव गान, उसका प्राचीन आदर्श स्वरूप आदर्शवादी राष्ट्रीय रचना के अन्तर्गत समझना चाहिए। ऐसी कविताओं का एक साथ ही प्रतिनिधित्व करने वाली रचना गुप्त जी की 'भारत भारती' है जिसमें उन्होंने एक साथ ही भूत, वर्तमान, भविष्य का लेखा उपस्थित कर दिया है। उन्होंने लिखा है—

'हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी ?

२—सरस्वती १९१४ खड १।

वे वृद्ध भारत का आदर्श अतीत उपस्थित करते हुए कहते हैं—

'हाँ वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
विधि ने किया नरसृष्टि का पहले यहीं विस्तार है।'

राष्ट्रीय कविता के अन्य पक्षों-राष्ट्र का दैवीकरण, राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग की व्यंजना जो पहले से चली से आ रही थीं, भी विस्तार हुआ।

प्रकृति के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का यह शुभ परिणाम हुआ कि प्रकृति उद्दीपन विभाव के बन्धन से मुक्त हो गई। इसका यह अर्थ नहीं कि अब उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण नहीं होता, बल्कि इतना ही कि अब प्रकृति मुख्य रूप से भावों का आलम्बन और गौण रूप से उद्दीपन रह गई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकृति के रागात्मक धर्म को ही कविता का मुख्य उद्देश्य माना और उस काल के प्रमुख ब्रजभाषा के कवि 'पूर्ण' और 'कविरत्न' ने भी अपनी कविताओं में प्रकृति का यथार्थवादी चित्रण किया।

आलम्बन के रूप में प्रकृति के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। जिनमें प्रकृति को चेतन सत्ता के रूप में देखने की प्रवृत्ति बहुत प्रबल है। सर्वचेतन-वादी विचारधारा का प्रभाव या रवीन्द्र की रहस्यात्मक कविताओं का प्रभाव ही इस प्रवृत्ति का कारण नहीं है, व्यस्त संसार में अकेले कवि ने अपने मनस्तोष के लिए प्रकृति के रूप में एक साथी खोजा, जिससे वह दो चार बातें करे, सान्त्वना पावे, प्रणय की चर्चा करे, हँसे और रोवे। छायावादी युग में ऐसी रचनायें पर्याप्त मात्रा में पायी जाती हैं, जो द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध से रची जाने लगी थीं। इनमें प्रसाद की किरण, बादल, निर्झरगान, स्वप्न सियारामशरण गुप्त की किरण, पथ, दूरागत तान, पत की छाया, पल्लव, बादल, आँसू, और निराला की जूही की कली, शेफालिका, यमुना के प्रति, सन्ध्यासुन्दरी आदि प्रतिनिधि रचनाये हैं।

प्रकृति विषयक साधारण रचनायें, जिनका आरम्भ श्रीधर पाठक और बालमुकुन्दगुप्त ने किया था, भी इस काल में पर्याप्त हुई। उपमाओं के लिये उपदेश के लिये, शांति और सुख के लिये भी प्रकृति का आश्रय लिया गया। साराश यह कि प्रकृति का महत्व बहुत बढ गया। यहा तक कि पंत जी ने

प्रकृति सुषमा के समक्ष बालाओं का अपूर्व सौन्दर्य भी भुला दिया। प्रकृति के नाना रूपों को देखकर वे विस्मय विमुग्ध रह जाते हैं और कहते हैं—

'पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर झर,
झींगुरों की झीनी झनकार,
घनों की गुरु गम्भीर घहर,
बिन्दुओं की छनती छनकार,
दादुरों के वे दुहरे-स्वर,
हृदय हरते थे विविध प्रकार,
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर'[1]।

प्रेम का भी परिष्कार किया गया। उसे शृंगार या विलासी वासना के रूप में नहीं बल्कि आदर्श जीवनदर्शन के रूप में देखा गया। द्विवेदी युग के आरम्भ में रीतिकालीन शृंगार के विरोधी भावों के कारण प्रेम पर कोई उल्लेखनीय काव्य रचना नहीं हो सकी। जो रचनायें हुईं उनमें प्रेम का उच्च आदर्श ही प्रस्तुत किया गया। इसे हृदय की एक निश्छल और निःस्वार्थ वृत्ति माना गया, जीवन का पवित्र लक्ष्य और त्याग की शिक्षास्थली कहा गया। 'प्रेम पथिक' में प्रसाद जी ने लिखा है—

'पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल भूलकर चलना है,
घनी छाह है जो ऊपर तो नीचे काटे बिछे हुए,
प्रेमयज्ञ में स्वार्थ और वासना हवन करना होगा,
तब तुम प्रियतम स्वर्ग विहारी होने का फल पावोगे।'

प्रसाद जी ने इसे राह ही नहीं जीवन का वह अन्तिम लक्ष्य भी माना है जिसके 'आगे राह नहीं' है। प्रसाद जी के अलावा प्रेम को काव्य रचनाओं का मुख्य विषय बनाने वाले कवियों में रामनरेश त्रिपाठी और पंत जी विशेष उल्लेखनीय हैं। त्रिपाठी जी ने प्रेम का एक दूसरा पक्ष अपने काव्यों में प्रस्तुत किया। इनमें वैवाहिक जीवन के बाद प्रेम आरम्भ होता है और वह विकसित होकर क्रमशः देश प्रेम से विश्वप्रेम तक पहुँचा है।

१—पंत-'आँसू' (पल्लव १९२६ पृ० २३)

इस प्रकार साधारण मनुष्य से लेकर महावीर और अवतार तक मानव के विविध रूप, प्रकृति के नाना प्रकार के चित्र तथा प्रेम का उदात्त स्वरूप सब कुछ काव्य का उपादान बना। काव्य-विषय का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि उसे किसी एक ही वर्ग या विचारधारा के अन्तर्गत रखकर देखा नहीं जा सकता। इन विविध विषयों का अत्यन्त सुबोध वैज्ञानिक वर्गीकरण डा० श्रीकृष्णलाल ने अपने प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' में किया है। आगे उसकी एक संक्षिप्त झाँकी द्वारा आधुनिक काव्य के विषय का विस्तृत प्रसार समझने का प्रयत्न किया जा रहा है। अपने प्रबन्ध के 'कविता' शीर्षक अध्याय में काव्य के उपादानों को स्थूल रूप से डा० श्रीकृष्ण लाल ने पाच वर्गों मे बाँट दिया है—(१) मानव, (२) प्रेम, (३) प्रकृति, (४) राष्ट्र या जन्मभूमि और (५) अन्य विषय।

'मानव' के अन्तर्गत उन्होंने अवतार, देवी देवता, महावीर और सामान्य मानवता पर विचार किया है। ईश्वरावतारों में राम और कृष्ण ने प्रमुख रूप से कवियों को आकृष्ट किया है। इन पर की गई रचनाओं का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। देवी देवताओं पर रचनायें कम हुई क्योंकि उनके अलौकिक अस्तित्व पर विश्वास कम पड़ा। मैथिलीशरण गुप्त ने 'शक्ति' नामक सुन्दर रचना दुर्गा के पौराणिक कथा के आधार पर की। यह कथा वस्तुतः एक रूपक है और संगठन का उपदेश देती है। महावीरो की चर्चा भी महापुरुषों के अन्तर्गत अभी की जा चुकी है। सामान्य मानवता के अन्तर्गत वे सभी रचनायें ले ली गई हैं जो साधारण मनुष्यों को लक्ष्य करके लिखी गई।

'प्रेम'—द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में प्रेम सम्बन्धी कविताओं की रचनायें बहुत हुईं। परन्तु रीतिकालीन और आधुनिक प्रेम मे अन्तर है। रीतिकालीन प्रेम परम्परागत था और नायिका भेद के नियमानुसार ही उसका चित्रण होता था परन्तु आधुनिक प्रेम संस्कृत नाटकों और अँग्रेजी प्रेमाख्यानों में वर्णित प्रेम की भाति शुद्ध और स्वच्छन्द है। आधुनिक काल में प्रेम को जीवन तत्व के रूप में स्वीकार किया गया। जिस प्रकार भक्तिकाल मे भक्ति जीवन का तत्व माना गया उसी प्रकार आधुनिक युग में प्रेम। मिलन में रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है—

गन्ध विहीन फूल है जैसे चन्द्र चन्द्रिका हीन,
यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम विहीन।

प्रेम का साधारण रूप भी चित्रित हुआ। उसके विरह, मिलन का दुःख-सुख भी काव्य का विषय बना। प्रसाद का 'आँसू' या पंत की 'ग्रन्थि' में इनका अच्छा चित्रण हुआ है। प्रेम के दो रूप दिखाई पड़े। एक तो ग्रन्थि वाला प्रेम जो प्रथम दर्शन में ही आरम्भ होता है, दूसरा मिलन या पथिक का प्रेम जो विवाह के बाद शुरु होता है।

'प्रकृति'—वर्णन की विविध शैलियां हैं। प्रथम शैली के अन्तर्गत परम्परागत रूपों का वर्णन आता है जैसे नगरवर्णन, प्रभाववर्णन, ऋतु वर्णन। इस शैली में 'निदाघवर्णन' उत्तम रचना है। प्रकृति निरीक्षण से उत्पन्न स्वाभाविक हर्षोद्रेक की अभिव्यञ्जना प्रकृतिवर्णन की दूसरी शैली है। इसका उदाहरण श्रीधर पाठक के प्रसंग में दिया जा चुका है। प्रकृति वर्णन की तीसरी शैली मानवीय भावनाओं और कार्यों की भूमिका या पृष्ठभूमि के रूप में मिलती है। इस शैली की कवितायें प्रियप्रवास के प्रायः प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में, पंचवटी, मिलन, बुद्धचरित आदि सभी काव्यों में बिखरी हैं। प्रकृति को उपमा और रूपक के रूप में चित्रित करना भी आधुनिक युग की विशेषता है। जैसे—

शशि मुख पर घूंघट डाले अंचल में दीप छिपाए,
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए।

प्रकृति का वासनामय सौन्दर्य भी आरम्भ हो चुका था यद्यपि इसका अधिक विकास १९२० के बाद ही हुआ। प्रकृति को चेतन रूप में चित्रित करना पाचवीं शैली है जिसका पीछे विवरण दिया जा चुका है।

राष्ट्र या जन्मभूमि से सम्बद्ध कवितायें भी चार प्रकार की हैं। इसका महत्वपूर्ण पक्ष राष्ट्र का दैवीकरण है। मैथिलीशरण गुप्त की 'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है' वाली कविता इस शैली की प्रतिनिधि रचना है। इसका आरम्भ श्रीधर पाठक ने कर दिया था परन्तु इस काल में इसका अद्भुत विकास हुआ। इस प्रकार की रचनाओं पर बंकिम के 'वन्देमातरम्' का प्रभाव है। रूपनारायण ने मातृभूमि, कामताप्रसाद गुरु ने जन्मभूमि,

गोपालशरण सिंह ने मातृभूमि, रामनरेश त्रिपाठी ने जन्म-भूमि भारत, लोचन प्रसाद पाण्डेय ने 'हमारा देश' सियारामशरण गुप्त ने 'जननी' और मन्नन द्विवेदी ने मातृभूमि आदि कवितायें लिखीं। इसके अलावा देश का गौरव गान तथा वर्तमान के प्रति विक्षोभ प्रकट करना राष्ट्रगीतों की दूसरी शैली है। राष्ट्र के प्रति स्वाभाविक प्रेम प्रकट करना राष्ट्रीय कविता का तीसरा पक्ष है। कानपुर के साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' का सिद्धान्त वाक्य ही था—

'जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है।'

ऐसी कविताओं के अन्तर्गत सत्याग्रहियों के गीत भी रखे गये हैं जिनकी चर्चा पीछे महापुरुषों के साथ हो चुकी है।

अन्य विषय के अन्तर्गत रहस्यवादी कविताएँ और नीति तथा सूक्ति को स्थान दिया गया है। रहस्यवाद की व्याख्या करते हुए डा० श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है—रहस्यवाद आध्यात्मिक अनुभूति की वह अवस्था है जिसमें साधक ईश्वर के अपरोक्ष साक्षात् का चरम प्रयत्न करता है। इसमे एक गम्भीर आध्यात्मिक सूक्ष्म दृष्टि और परिपक्व आत्मानुभूति के द्वारा समस्त ससार मे व्याप्त एक ही दिव्य सत्ता के देखने की चेष्टा की जाती है[१]। 'यह रहस्यवाद बुद्धिवाद से प्रभावित है तथा प्राचीन भक्ति परम्परा से भिन्न है। मैथिलीशरण गुप्त की दूती, यात्री, खेल, अनुरोध, स्वयमागता आदि, रायकृष्णदास की 'खुलाद्वार', 'शुभकाल', अहोभाग्य आदि, मुकुटधर पान्डेय का विश्वबोध, उद्गार, रूप का जादू आदि कविताओं द्वारा हिन्दी काव्य मे इस भावना का प्रवेश हुआ। आगे चलकर महादेवी, प्रसाद, निराला के हाथों ऐसी कविताएँ विशेष गूढ हो गईं। आरम्भ में ये रचनाएँ नीति प्रधान ही थीं। मुकुटधर पाण्डेय के 'दुस्साहस' की कुछ पंक्तियां देखिये—

'एक दिन की बात है, हे पाठकों, नौम की जय एक छोटी मी डली,
विन्दु के जलपूर्ण दुर्गम गर्भ की, थाह लेने के लिये घर से चली।

१—डा० श्रीकृष्णलाल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास पृ० सं० पृ० ८८।

किन्तु थोड़ी दूर भी पहुँची न थी, और उसमें वह स्वयं सी घुल गई[1]।'

ये नीति और सूक्ति की पंक्तियां स्पष्ट उपदेश न रहकर एक मनोहर आवरण में सजकर रहस्य का आभास देने लगी पर मूल में उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही रही। बदरीनाथ भट्ट की 'मनुष्य और संसार' या 'सागर में तिनका' यद्यपि अन्योक्तियां हैं परन्तु इसकी दार्शनिक ध्वनि एक विराट्सत्ता की ओर संकेत करती है यथा—

'सागर में तिनका है बहता
उछल रहा है लहरों के बल मैं हूँ! मैं हूँ, कहता,
इस तरंग में मारे फिरते बद, पीपल अभिमानी,
उनकी व्यथा जानकर भी यह बना हुआ अज्ञानी[2]।'

१—मुकुटधर-'दुस्साहस' सरस्वती १९१८ भाग १ पृ० ४१

२—बदरीनाथ भट्ट-'सागर में तिनका' सरस्वती १६१६ भाग २ पृ० २०६।

(ख) काव्य-रूप

काव्य भावातिरेक का अन्तःप्रेरित उद्‌गार है। भावोल्लास का अतिरेक सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। कवि किसी शास्त्रीय सीमा में बंध कर काव्य रचना करने नहीं बैठता। वेदों में कवि को 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू' कहा गया है। वस्तुतः शेर की तरह सच्चा कवि (शायर) भी लीक पर नहीं चलता। लीक उसके पीछे चलती है। कवि काव्य रचना कर लेता है, पीछे शास्त्रकार उन्हीं रचनाओं के आधार पर लक्षण ग्रन्थों का निर्माण करते हैं। मनःस्थिति की विविधता के कारण कवि की अनुभूतियाँ भी विविध रूपों में व्यक्त होती हैं, इसीलिए काव्य के अनेक रूप हो जाते हैं। काव्य रूपों को स्थूलरूप से दो वर्गों में बाँटा जाता है—(१) प्रबन्ध, (२) मुक्तक या अप्रबन्ध।

गीति

मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही संगीतमय हो सकते हैं। संगीत का साहित्य से अटूट सम्बन्ध है। हमारे ऋषियों ने सरस्वती की कल्पना 'वीणा-पुस्तकधारिणी' के रूप में की है। संगीत और साहित्य, दोनों का जन्म मानव-हृदय की रागात्मिका वृत्ति से होता है। काव्य में छन्दों का बन्धन रूप और प्रवाह के लिए स्वीकार किया गया था, जैसे संगीत में राग-रागनियों का। साहित्य में संगीत तत्व के मिल जाने पर मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही गेय हो जाते हैं। इन गेय काव्यों के इतने अधिक रूप मिलते हैं कि उन्हें पूर्वनिर्दिष्ट दोनों में से किसी एक भी वर्ग के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। हिन्दी में ऐसे अनेक गीत हैं जिनमें मुक्तक तत्व के साथ ही प्रबन्ध तत्व (कथा) का समावेश तो है ही, कवि की स्वानुभूति भी पंक्तिपंक्ति में झलकती है। विद्यापति, सूर, मीरा, तुलसी के अनेक भजनों और पदों, तथा लोकगीतों में ये तत्व एक साथ देखे जा सकते हैं। अतः इनका एक वर्ग अलग स्वीकार कर लेना ही उत्तम है।

एक अंग्रेज समालोचक विलिएम वेब ने (१५८६ ई०) कविता को चार वर्गों में बाँट कर गीतियों का एक स्वतंत्र वर्ग माना था। पाश्चात्य

साहित्य के आरंभिक आलोचकों ने गीतों की उत्पत्ति संगीत या नृत्य से मानी थी और उनका गेय होना अनिवार्य बताया था, परन्तु आज कल जाफरे आदि विद्वान् गीतों को साधारण कविता से भिन्न नहीं मानते। कुछ भी हो, पद्य जब संगीतमय हो जाता है तब उसे गीत कहते हैं, और जब उसमें आत्मव्यञ्जकता का भी समावेश हो जाता है तब वह लीला पदों, भजनों और अन्य गीतों से भिन्न हो जाता है जिसे गीति कहना उत्तम है। गीत में गेयता अनिवार्य है पर गीति में गेयता से अधिक आत्मव्यञ्जकता। यद्यपि इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में गीति काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'जो कविता किसी वाद्य-यंत्र के साथ गाई जा सके, वही गीति है'[1] और इसीलिये 'लिरिक' को गीति के स्थान पर कुछ विद्वान् वेणु के आधार पर वैणुक-गीत कहना चाहते हैं। परन्तु आधुनिक गीतियों को देखते उनमें आत्मव्यंजकता अनिवार्यतः होनी चाहिये।

गीत काव्य का प्रबन्ध और मुक्तकों से अन्तर

प्रबन्ध काव्य वर्णन-प्रधान होता है। उसमें इतिवृत्त आवश्यक है। कथा का पूर्वापर सम्बन्ध और उसका संतुलित निर्वाह भी अपेक्षित है। प्रबन्धों में बाह्य-जगत का सौंदर्य विशेष चित्रित किया जाता है। गीतियों का सम्बन्ध विशेषतया अन्तर्जगत से ही है। उनमें कवि की सूक्ष्म और आन्तरिक मनोगतियों की सुषमा दर्शनीय होती है। प्रबन्ध युग-निर्माण में सहायक होता है, नैतिक और धार्मिक आदेश-निर्देश भी देता चलता है, परन्तु गीतिकार विशुद्ध कवि होता है। गीतियों की उत्पत्ति शुद्ध भाव चेतना या भावावेश के फलस्वरूप होती है। उसके पीछे उपदेश या अन्य कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती। कवि-कल्पना की पूर्ण तथा संतुलित अभिव्यक्ति का उच्चतम स्वरूप गीतियों में दिखाई पड़ता है। गीतियों में कुछ कथातत्व भी आ सकता है, परन्तु उसके विषय छोटे तथा प्रसंग अति रमणीय होने चाहिएँ। एक प्रसंग दो-तीन छंदों या पदों तक भी चल सकता है।

---

1. Lyrical poetry—The poetry which can be sung or can be supposed to be sung to the accompaniment of a musical instrument.

Encyclopaedia Britanica 14th Vol,

साहित्यदर्पणकार ने दो दो, तीन तीन छंदों के मुक्तक भी माने हैं और उन्हें युग्मक, कुलक आदि नाम दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीति-काव्य मुक्तकों और प्रबन्धों से कुछ न कुछ भिन्न है। उन्हें पूर्णतया किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता। बहुत से मुक्तक ऐसे मिलते हैं जिनमें वर्णनात्मकता तो है, परन्तु वे प्रबन्ध नहीं हैं, न गीति हैं। अतः काव्यरूपों के केवल दो वर्ग स्वीकार करने से कुछ असत्यता बनी रह जाती है। अंग्रेजी में कविता को स्वानुभूतिनिरूपिणी और वाह्यार्थ निरूपिणी दो वर्गों में बाँटा गया है। इसी प्रकार बंगला के पद और मंगल, उर्दू के बज्म और रज्म तथा तामिल के एकम और पूरम भी हर प्रकार की कविताओं को अपने अन्तर्गत नहीं समेट पाते। आधुनिक हिन्दी साहित्य में गीतियों का सबसे अधिक विकास हुआ और उनपर स्वतन्त्र रूप से विचार करना आवश्यक भी है। अतः काव्यरूपों के तीन वर्ग-प्रबन्ध, मुक्तक और गीति-मानना अधिक समीचीन है। डा० श्रीकृष्णलाल ने भी अपने 'प्रबन्ध' में काव्यरूपों के तीनवर्ग माने हैं।

इन तीनों रूपों के भी अनेक भेद दिखाई पड़ते हैं। प्रबन्ध काव्य के अन्तगत महाकाव्य, खण्डकाव्य और आख्यानक गीतियों को लिया जा सकता है। महाकाव्य में उपन्यास जैसा विस्तार होता है और खण्डकाव्यों में कहानी जैसी संक्षिप्तता। आख्यानक गीतियों में एकाकी नाटकों की विशेषतायें वांछित हैं क्योंकि आख्यानक गीतियों में यदि नाटकीयता, भावातिरेक और गति न हो तो उनमें और कथात्मक पद्यों में अन्तर ही क्या रहा? इसी प्रकार मुक्तकों के भी दो स्पष्ट भेद मिलते हैं। कुछ मुक्तक केवल वक्रोक्ति और चमत्कारपूर्ण अभिव्यन्जना तक ही सीमित रहते हैं जब कि कुछ अन्य मुक्तकों में कई छन्दों तक एक ही वस्तु का वर्णन मिलता है। इस प्रकार वे वर्णनात्मक होते हैं, फिर भी कथा के अभाव में हम उन्हें प्रबन्धों से भिन्न ही मानते हैं।

गीति शुद्ध मुक्तक भी हो सकते हैं और कथात्मक भी विभिन्न तत्वों के मिश्रण से गीति के अनेक रूप मिलते हैं। हिन्दी साहित्य में प्राचीन काल से ही विविध काव्य रूप प्रचलित थे। वीरगाथा काव्य में अनेक प्रबन्ध और गाथा गीत (बैलेड) लिखे गए। मुक्तकों की रचना हर युग में ही प्रचुरमात्रा में होती रही। आज भी वे कम नहीं हैं। भक्तिकाल में मुक्तकों के

अतिरिक्त गीत और प्रबन्ध भी लिखे गए। परन्तु रीतिकाल में जब कवि लक्षण ग्रन्थों की लीक पर बंध कर चलने लगे, तो अधिकतर भाव एक ही साँचे में ढलकर मुक्तकों के रूप में व्यक्त हुए और दो-तीन सौ वर्षों के शृंगारी-साहित्य मे एक यही काव्य रूप सर्वथा छाया रहा। रीतिकाल मे कुछ प्रबन्ध अवश्य लिखे गए परन्तु काव्यत्व की दृष्टि से उनका बहुत कम महत्व है। वस्तुतः रीति साहित्य दरबारी साहित्य है। आज भी कवि दरबारों में चमत्कारपूर्ण उक्तियों की ही प्रशसा अधिक होती है, उसी प्रकार प्राचीन दरबारों में भी 'वाहवाह' के लिए प्रबन्ध सुनाना लाभप्रद नहीं था। वहाँ अद्भुत उक्तियों द्वारा ही शीघ्र सफलता मिलती थी जिनकी अभिव्यक्ति मुक्तकों में सफलतापूर्वक होती है।

गीति काव्य का विकास

गद्य के विविध रूपों लेख, निबन्ध, उपन्यास, कथा-कहानी आदि का अस्तित्व भारतीय वाङ्मय मे मिलता है, परन्तु अधिकतर पद्यात्मक रूप में। हमारा प्राचीन साहित्य ही पद्य प्रधान रहा है। यद्यपि कुछ नये गद्य-पद्य रूपो का इस युग मे ही चलन हुआ है, परन्तु अधिकतर रूप पहले से ही पद्यबद्ध रूप मे मिलते हैं। अभी कहा जा चुका है कि प्रबन्ध काव्य, खंडकाव्य और कथात्मक पद्यो मे उपन्यास, कथा और कहानी के तत्व विद्यमान हैं, उसी प्रकार गद्य के उस रूप को भी, जिसे निबन्ध या लेख कहते हैं तथा जिसकी आज पद्य में हम कल्पना भी नहीं करते, पहले पद्य मे ही रखा गया था। ये निबन्ध पद्य में हम मुक्तक माने गए थे। संस्कृत में भी 'ऐसे' पद्यबद्ध निबन्ध होते थे[१]। अंग्रेजी में भी पोप ने ऐसे पद्यबद्ध निबन्ध लिखे थे।

हिन्दी में गद्यरूपों का पूर्ण विकास हो जाने पर पद्य-रूपों के भी विकास की बारी आई। भारतेन्दु युग तक कवियों को पद्य का अभ्यास इतना अधिक था कि कभी-कभी वे गद्य रूपों को भी पद्यात्मक कर देते थे। भारतेन्दु युग से लेकर द्विवेदी युग तक ऐसे पद्यात्मक निबन्ध बहुत लिखे गए। इनमें सामान्य

१—'यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद, कुतार्किका ज्ञान निवृत्ति हेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः' (श्री भरद्वाजोद्योतकर-न्यायवार्तिक श्लोक १७)

विषयों को लेकर उनका कई छन्दों में वर्णन किया जाता था और तर्कों द्वारा विषय का प्रतिपादन किया जाता था। उनमें बुद्धि तत्व अधिक, हृदय का भावातिरेक कम मिलता है। इनमें गेयता की भी कमी है। हरिश्चन्द्र ने *राजकुमार सुस्वागतः, विजयवल्लरी, श्री राजकुमार शुभागमन वर्णन, विजयिनी विजय पताका* और *हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान* आदि पद्यात्मक निबन्ध लिखे। प्रतापनारायण मिश्र की गोरक्षा, सभावर्णन, तृप्यन्ताम, हरगगा आदि भी ऐसी ही रचनाएँ हैं, परन्तु प्रतापनारायण के इन पद्यात्मक निबन्धों में हास्य और व्यंग्य तथा वीरछन्द का लय होने के कारण ये हरिश्चन्द्र के पद्यों की अपेक्षा गीतियों की ओर कुछ अधिक बढ़े हुए दिखाई पड़ते हैं। प्रबन्धों की प्राचीन परम्परा के अन्तर्गत व्रजभाषा में हरिश्चद्र ने कुछ छोटे छोटे प्रबन्ध लिखे, जैसे देवीछद्म लीला, दानलीला आदि। उन्हें आख्यानक भी नहीं कहा जा सकता और वे मुक्तक भी नहीं हैं। ये कथात्मक पद्य ही हैं। जो पद्य कथात्मक न .होकर वस्तुवर्णनात्मक लिखे गये वे सब पद्यात्मक निबन्ध ही कहे जायँगे।

हरिश्चन्द्र ने गीतों की परम्परा भी चलाई। ये गीत तीन शैलियों में लिखे गये (१) भक्तिकालीन पद-शैली (२) लोकगीतों की शैली और (३) उर्दू की गजल शैली। भक्तों की पदशैली तो प्राचीन काल से ही चली आ रही थी और उस शैली में हरिश्चंद्र तथा उनके साथियों ने बहुत से पदों और गीतों की रचनाएँ कीं, परन्तु लोकगीतों और गजलों की शैली को साहित्य में समादृत करने वाले हरिश्चन्द्र ही हैं। *हरिश्चन्द्र काल में लोकगीतों का बड़ा जोर रहा और वे लोकशिक्षा के साधन* माने गए थे। लावनी, कजली के अलावा रामकृष्णवर्मा ने विरहानायिका भेद लिखा है। इस काल में प्रतापनारायण मिश्र ने वीरछन्द (आल्हा) में, जो बहुत ही लोकप्रिय और संस्कृत वृत्त से मुक्त होते हुए भी अतुकान्त छन्द है, कई कविताएँ लिखीं जैसे कानपुर की महिमा, सभावर्णन आदि। *प्रतापनारायण मिश्र ने अपने आल्हे को तुकान्त ही रखा है। सभावर्णन से* उदाहरणस्वरूप निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये—

'लगी कचेहरी नबु लाला की भस्माभूत लगो दरबार,
रंगबिरंगे कपड़ा झलकै, शोभा तिलक त्रिपुंडन वयार,

गरें जञ्जीरें हैं सोने की, मानो बधुआ कल्युग क्यार ।
बांह अनन्ता कोड कोड पहिरे टड़िया मनों मेहरियन क्वार[१] ।

लावनियों का उदाहरण लोकगीतों के साथ पर्याप्त दिया जा चुका है। लावनियों और अधिकतर अन्य लोकगीतों की एक यह विशेषता होती है कि इनकी एक पंक्ति बारबार दुहराई जाती है। इसी पंक्ति का पीछे पीछे कई गायक दुहराते चलते हैं। लावनी में पाँच चरण के बाद एक पंक्ति दुहराई जाती है। आधुनिक गीत काव्य में भी इसी प्रकार कुछ विशेष अन्तर पर एक चरण दुहराया जाता है। श्रीधर पाठक पर पन्ना लावनी-बाज और प्रतापनारायण मिश्र पर ललित लावनीबाज का प्रभाव पहले ही कहा जा चुका है। फलत लावनी कजली आदि लोक गीतों के लय पर अनेक नए नए लयों की उद्भावना की गई।

उर्दू के काव्यरूप गजल, मर्सिया, रुबाई आदि के आधार पर भी पद्यरचनाएँ की गई। उर्दू छन्दविधान में मात्रा, वर्ण या गण का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वहाँ पर कुछ विशेष प्रकार के बह्र (लय) हैं जिनमें लघु-गुरु की पर्याप्त स्वतन्त्रता है। उर्दू से प्रभावित गजल गीतों का आरम्भ हरिश्चन्द्र ने किया। 'कहां हो ऐ हमारे राम प्यारे' वाली कविता उन्होंने उर्दू लय पर ही लिखी है। प्रतापनारायण मिश्र ने भी इस प्रकार के अनेक गजलगीत लिखे। उनकी प्रसिद्ध गजल—

"बिवादी बढ़े हैं यहाँ कैसे कैसे, कलाम आते हैं दरमियां कैसे कैसे,
जहाँ देखिए म्लेच्छ सेना के हाथों, मिटे नामियों के निशा कैसे कैसे।[२]"

उर्दू की बहर 'फउलुन, फउलुन, फउलुन, फउलुन' में है। बालमुकुन्द गुप्त ने 'भैंस का मर्सिया' लिखा। वास्तव में मर्सिया अंग्रेजी की एलेजी या शोक गीत का पर्याय है, परन्तु बालमुकुन्द गुप्त ने यहां पर केवल शोक का स्वरूप मात्र खड़ा किया है। अंग्रेजी काव्यरूपों से प्रभावित शोकगीतों का प्रचलन भी इसी काल में आरम्भ हुआ। आवू के मिश्रारसिक ने 'ग्रे' की एलेजी का 'ग्रामस्थ शवागार लिखित शोकोक्ति' के नाम से सन् १८९७ ई०

१—प्रताप पीयूष, पृ० २०३।

२—वही पृ० १८५।

में अनुवाद किया। इस प्रणाली पर अनेक शोकगीत लिखे गए। प्रतापनारायण मिश्र ने हरिश्चन्द्र, स्वामीदयानन्द और चार्ल्स ब्रैडला की मृत्यु पर शोकगीत लिखे। श्रीधरपाठक ने हरिश्चन्द्र की मृत्यु पर 'हरिश्चन्द्राष्टक' और बालमुकुन्दगुप्त ने प्रतापनारायण मिश्र की मृत्यु पर 'स्वर्गीय कवि' शीर्षक से शोकगीत लिखा। अम्बिकादत्त व्यास, देवकीनन्दन तिवारी, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त ने व्यंग्य गीत भी लिखे। इनमें बालमुकुन्द गुप्त का 'सरसैयद का बुढापा' उल्लेखनीय व्यंग्यगीत है। इस काल के गीतों में किसी भावना का आरोप या आत्मगतता (सब्जेक्टि-विटी) बहुत कम पाई जाती है। केवल गेयता ही प्राप्त होती है अतः इन्हें *गीति कहना उचित नहीं प्रतीत होता। यह गीति काव्यों की विकसित अवस्था* में ही संभव होता है। श्रीधर पाठक ने कुछ प्रगीत और सबोध गीति लिखे, जैसे घनविनय (क्लाउड मेमोरियल)। कुछ अन्य कवियों में भी गीतितत्व का आभास मिलता है, परन्तु बहुत कम। वस्तुतः द्विवेदी युग के पूर्वार्द्ध तक गीत तो लिखे गये पर गीति बहुत कम।

द्विवेदी युग के आरम्भिक काल में उच्चकोटि के गीत भी नहीं लिखे जा सके। उस समय तक न तो काव्योचित भाषा का विकास ही हो सका था और न संगीतात्मक छन्द ही थे। खड़ी बोली को अनेक प्रकार के छंदों में *ढालने और शुद्ध तथा प्रवाहमय भाषा की चेष्टा में ही कवि लगे रहे।* गद्यात्मकता और उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति बढ़ी हुई थी। यह स्थिति गीतों के लिए अनुकूल नहीं थी। अतः आरम्भ में पद्यात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे गए। आचार्य द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त स्वयम् अपनी कविताओं को काव्य या गीत नहीं पद्य कहा करते थे। 'समालोचक' पत्र ने 'सरस्वती के *आरम्भिक पद्यों के लिए लिखा था कि उसमें (सरस्वती) भिन्न-भिन्न लेखकों के* 'हिन्दी पद्यमय अच्छे-अच्छे निबन्ध छपते हैं[1]।' ठीक यही विचार मैथिलीशरण गुप्त ने 'पद्य प्रबन्ध' की भूमिका में व्यक्त किया है। अपनी कविताओं को पद्य कह कर उससे वास्तविक कविता का भेद समझाया है। इस प्रकार के पद्यात्मक निबन्ध पद्यप्रबन्ध, कविता कलाप, काव्योपवन, कविताकुसुममाल, शंकरसरोज आदि संग्रहों में भरे पड़े हैं। इनकी प्रवृत्ति *मुख्यतया वर्णनात्मक*

१—समालोचक भाग १ अंक ४, (१६०२)

या उपदेशात्मक है। वर्णनात्मक पद्य निबन्धों के लिये मैथिलीशरण गुप्त की 'प्रयाग की प्रदर्शिनी' या प्रेमघन की 'आनन्द बधाई' रचना देखी जा सकती है।

> लह्यो देशभाषा अधिकार सबै निज देशन।
> राज काज आलय विद्यालय बीच ततच्छन॥
> पै इत विरचि नाम उर्दू को 'हिन्दुस्तानी।'
> अरबी बरनहुँ लिखत सकै नहिं बुध पहिचानी॥
> हिन्दुस्तानी भाषा कौन ? कहाँ हैं आई ?
> को भाषत किहि ठौर कोउ किन देहु बताई[1] ?

उपदेशात्मक कविताओं की तो भीड़ ही लगी हुई थी। द्विवेदीजी, मैथिलीशरण गुप्त, गिरिधर शर्मा आदि लोगों ने ऐसी रचनाएँ बहुत अधिक कीं। द्विवेदी युग में उपदेश की प्रवृत्ति इतनी प्रधान रही कि पद्यात्मक निबन्धों द्वारा ही नहीं, कथात्मक पद्यों, व्यंग्यकाव्यों द्वारा भी उपदेश की योजना की जाती थी। इनका यथास्थान विवरण दिया जायगा। शुद्ध पद्यात्मक निबन्धों में क्रमशः भावुकता का समावेश हुआ। उनमें सरलता के साथ हृदय की तीव्रता और भाषा का प्रवाह दिखाई पड़ा। यहाँ आकर इनकी एक मंजिल पूरी हो गई। 'भारत भारती' ऐसी रचनाओं की चरम उपलब्धि है।

उपदेश की दृष्टि से ही द्विवेदी जी ने पौराणिक चित्रों और उनका परिचय देने वाली कविताओं के प्रकाशन की परम्परा चालू की थी। इन रचनाओं द्वारा पद्यबद्ध कथा-कहानी की परम्परा का सूत्रपात हुआ। यह स्थिति सभी साहित्य के आरंभ में दिखाई पड़ती है। इनके आधार पर लिखी गई उत्तम पद्यात्मक कहानी 'रंग में भंग' है। ये पद्यात्मक कहानियाँ खंडकाव्यों, प्रबन्ध काव्यों और आख्यानगीतियों के पूर्वरूप हैं। इनकी शैली बहुत सरल और स्पष्ट है। इनमें पराक्रम, वीरता, आदर्श की व्यञ्जना होती है। साहित्यिकता, भाषा-सौष्ठव तथा शिल्पविधि का इनमें पूर्ण विकास नहीं दिखाई देता। कथा और भाषा में एक प्रकार की सरलता, ऊर्जस्विता तथा प्रवाहशीलता मिलती है। मैथिलीशरण गुप्त की आमगुप्त

१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, फरवरी १९१२, पृ० २२-२३।

वाली शिक्षा—'एक मूर्ख निज वृद्ध पिता को मार रहा था खूब'—पद्यकथा ही है। इनका विस्तृत रूप सैयद अमीर अली मीर की रचना 'बूढे का ब्याह' में देखा जा सकता है। यह पद्यकथा और प्रबन्ध के बीच की कड़ी है। आगे चलकर इन पद्यकथाओं में संगीत तत्व का योग हुआ। उनमें प्रवाह आया और उसका पाठक पर आकर्षक प्रभाव पड़ने लगा। 'झांसी की रानी' इस प्रकार का उत्कृष्ट आख्यानगीति है। इसमें गेयता, कथा का प्रवाह, भाषा का ओज और वर्णन की मोहकता तथा उत्सुकता बनाये रखने की विधि का एकत्र संयोग हुआ है। इसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं—

'हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झांसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झांसी में,
राज महल में बजी बधाई, खुशियां छाई झांसी में,
चित्रा ने अर्जुनको पाया, शिवसे मिली भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

भाषा के सशक्त होने पर कथा को छोड़कर भी गीत लिखे जाने लगे और उनमें रवीन्द्र की रहस्यवादी प्रवृत्ति का आभास मिलने लगा। इस प्रकार की कवितायें झंकार, झरना आदि संग्रहों में मिलती हैं। यथाः—

'कुछ खोल भीतर आता हूँ
तो वैसा ही रह जाता हूँ।
तुझको यह कहते पाता हूँ
अतिथि कहो क्या लाऊँ मैं।'

आधुनिक गीतों की सबसे प्रमुख विशेषता स्वानुभूतिव्यंजकता है। इनमें कवि का व्यक्तित्व ही प्रधान रूप से व्यञ्जित होता है। यह पाश्चात्य शैली है। भारतीय गीतों में लोकानुभूति को ही प्रमुखस्थान दिया जाता था। वेदों के गीत, गाथाओं के गीत लोकानुभूति से प्रेरित हैं। विद्यापति, मीरा, सूरदास के गीतों में 'आत्मनिवेदन भी दिखाई पड़ता है, परन्तु वह आधुनिक गीतों से भिन्न एक भक्त का निवेदन है। भाषा के मँज जाने पर जब कवियों का ध्यान भावपक्ष पर अधिक गया तो ऐसे गीतों की रचनायें हुईं। इस प्रकार के स्वानुभूतिव्यंजक, रहस्यवादी गीतों का विस्तार पंत, प्रसाद, महा-

देवी और निराला आदि की कविताओं मे स्पष्ट दिखाई देता है। द्विवेदीयुग की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप इन गीतो में मानसिक शृंगार का निरूपण हुआ। शब्दों की योजना मे कवि ऐसी कला कुशलता का परिचय देने लगे कि संगीत के साथ ही वर्ण्य का चित्र भी पाठकों के सामने चित्रित होने लगा, यथाः—

'दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही थी,
वह संध्या सुंदरी
परी सी धीरे धीरे धीरे।'

गीति काव्य के भेद

अंगरेजी साहित्य मे गीतो को छ भागो मे बाटा गया है, (१) उपदेशात्मक, (२) व्यंग्यात्मक, (३) विचारात्मक, (४) शोकगीति (५) सबोधगीति और (६) सानेट। सानेट पूर्णतया छन्दविधान की विशेषता के कारण एक स्वतन्त्र काव्यरूप माना गया है। ऐसे गीति हिंदी में बहुत कम लिखे गए। बाद मे आकर प्रभाकर माचवे ने थोडे से सानेट लिखे हैं। आरंभ में प्रसाद जी ने अवश्य कुछ थोडे प्रयोग किए थे।

शेष पाच रूपों में उपदेशात्मक और व्यग्यात्मक गीति द्विवेदी युग मे अत्यधिक लिखे गये। व्यंग्यगीति भी उपदेश की दृष्टि से ही लिखे गये। इनका प्रचार हरिश्चन्द्रकाल से ही हुआ था। इस युग में 'शंकर' प्रमुख व्यंग्यकार हुए। उन्होंने गर्भरंडारहस्य, वायसविजय बडे बडे व्यंग्य-गीति और 'पच-पुकार' आदि छोटे व्यग्य गीति लिखे। वैसे तो आचार्य द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल सनेही आदि सभी कवियों ने कुछ व्यग्य लिखा है। द्विवेदी जी ने टहरौनी गर्दभकाव्य, कल्लू अल्हैत आदि व्यंग्यात्मक पद्य लिखे हैं, परन्तु 'शंकर' के व्यंग्यों में प्रवाह और गेयता सबसे अधिक है। शेष को गीति न कहकर पद्य ही कहना समीचीन है।

शोक गीतों में मिश्रबन्धुओं की 'हा ! काशीप्रसाद', कामताप्रसाद गुरु की 'भ्रामीण विलाप' और बाद में निराला की 'सरोजस्मृति' प्रसिद्ध रचनायें हैं। प्रसाद जी का आसू शोकगीतों मे एक विशिष्ट स्थान रखता है। विचारात्मक गीतों मे दार्शनिकता का पुट अधिक है। 'प्रसाद' के झरना, पंत के

पल्लव और विशेषतया गुञ्जन में ऐसी अधिक रचनायें मिलती हैं। पंत की 'अनुरोध', 'एकतारा', निराला की 'अधिवास' आदि ऐसी ही रचनायें हैं। संबोधगीत भी पहले थोड़े लिखे गये। प्रतापनारायण का 'बुढ़ापा' मैथिलीशरण गुप्त और मन्नन द्विवेदी के 'उद्बोधन' और 'वियोगी चन्द्र' आदि संबोध गीतों के कुछ पूर्व रूप हैं। छायावादी युग में इनकी बड़ी वृद्धि हुई। प्रसाद की किरण, रूप, वसन्त, पंत की पल्लव, आँसू, शिशु, छाया, परिवर्तन और निराला की यमुना के प्रति, जुही की कली, शेफालिका आदि इस वर्ग की कुछ उत्तम रचनायें हैं।

इन रूपों के अतिरिक्त पत्रगीति और नाट्यगीति भी गीतों के अन्तर्गत ही माने गए हैं। पत्र गीतों में गेयता का अभाव और वर्णनात्मकता की अधिकता होती है। मैथिलीशरण गुप्त ने कुछ पत्रगीत लिखे हैं जैसे 'औरंगजेब का पुत्र के नाम' या 'महाराजा पृथ्वीराज का पत्र राणाप्रताप के नाम।' गीतिरूपक या नाट्यगीति वास्तव में पद्यबद्ध नाटक हैं। यद्यपि विज्ञानगीता, देवमायाप्रपंच और सुदामाचरित में इनका पूर्वरूप पाया जाता है परन्तु आधुनिक युग के नाट्यगीत-करुणालय, लीला, अनघ, पंचवटी प्रसंग आदि शिल्पविधि की दृष्टि से पूर्णतया नवीन हैं। गीतिनाट्यों में नाटकतत्व और गीत तत्व का कलात्मक संयोग होता है। उत्तरा मिलन (शिवाधार पाण्डेय) विकट भट (मै० श० गुप्त), प्रलय की छाया (प्रसाद) और वीरसिंह का शस्त्रसमर्पण' आदि गीतिरूपकों के कुछ संक्षिप्त किन्तु उत्कृष्ट रूप हैं।

विषय की दृष्टि से उपदेशात्मक और व्यंग्यात्मक गीतों में राष्ट्रीयता समाजसुधार आदि तथा विचारात्मक और अध्यात्मरित कविताओं में लौकिक प्रेम, रहस्यवाद, आध्यात्मिक विरह मिलन की अनुभूतियां और प्रकृति का मानवीयस्वरूप अधिक चित्रित किया गया है।

गेयता

गेयता की दृष्टि से विचार करने पर भी इन गीतियों के विकास की अनेक अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं। राग रागनियों के आधार पर पुराने गीत तो चले ही आ रहे थे। अतः उनकी पर्याप्त रचना हुई। श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और 'प्रसाद' ने ऐसे गीत अनेक लिखे। श्रीधर पाठक के 'भारतगीत' प्रेममय संसार' 'अपनी ओर निहार' 'ऐसा अब

न करूँगा', 'प्रेम कोर आदि ऐसे ही गीत हैं। बदरीनाथ भट्ट ने बहुत से गीत रागों के नाम सहित सरस्वती में प्रकाशित कराये, जैसे 'अनुरोध' (कलिगँड़ा, १६१४) 'सूरदास' (भैरवी, १९७६) 'मनुष्य और संसार', 'सागर में तिनका' आदि। 'सूरदास' की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

> 'सूर को अन्धा कौन कहे!
> करे लोक को जो आलोकित अन्धा वही रहे।
> क्या प्रभु ने प्रत्यक्ष दिखाया दीपतले तम रूप ?
> नहीं धार तम से दिखलाया दीपक दिव्य अनूप।'

प्रसादजी का 'बीती विभावरी जाग री' निराला का 'दूत अलि ऋतुपति आये' मैथिलीशरणगुप्त का 'राम तुम्हें यह देश न भूले' आदि इसी शैली के कुछ सुन्दर गीत हैं।

गजल शैली के गीत, जिनका हरिश्चन्द्र काल में आरम्भ हुआ था, इस युग में अधिक विकसित हुए। 'प्रसाद' के चित्राधार की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये :

> 'विमल इन्दु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही हैं।
> अनादि तेरी अनन्त माया जगत को लीला दिखा रही है॥
> प्रसार तेरी दया का कितना यह देखना हो तो देखे सागर।
> तेरी प्रशंसा का राग प्यारे तरंग मालाएँ गा रही हैं॥'

ये गजलें भिन्न-भिन्न छंदों (बहरों) में लिखी गईं। कुछ लोगों ने उर्दू का लय अपनाया परन्तु छन्द हिन्दी का रखा और कुछ कवियों ने लय तथा छन्द दोनों ही उर्दू का रखा। पहिली शैली में श्रीधरपाठक और प्रसाद ने तथा दूसरी शैली में गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', लाला भगवान दीन और माधवशुक्ल ने अधिक रचनाएँ कीं। पहले प्रकार का एक उदाहरण नीचे उद्धृत है।

> "तू खोजता किसे अरे आनन्द रूप है।
> उसे प्रेम के प्रभाव ने पागल बना दिया॥
> सबको ममत्व मोह का मदिरा पिला दिया।
> अपने पै आप मर रहा यह भ्रम अनूप है॥" [1]

१—प्रसाद, 'चित्राधार', प्रथम बार, पृ० १९।

दूसरी शैली का नमूना देखिये—

'नहीं है और हवस दिल में है हवाय वतन ।
पसन्द कुछ भी नहीं मुझको है सिवाय वतन ॥
बदल लूँ शौक से मैं इस्फहानी सुर्मे से ।
मिले किसी से अगर मुझको खाके पाय वतन ॥
जनाब लन्दनो पेरिस की है हकीकत क्या ?
न लूँ बहिश्तका भी नाम मैं बजाय वतन ॥' [१]

गीत के कई अतिप्रचलित लय लोकगीतों और गजलों के मिश्रण से बनाये गये । इनमे गेयता का रहस्य टेक या पुनरावृत्ति पर आश्रित है । कजली और लावनी में चार पंक्तियों भिन्न तुकान्त और पाँचवीं स्थायी के तुक म होती है । लावनी की लय के आधार पर विरचित 'शंकर' का पत्र पुकार' इसी शैली का उदाहरण है । संगीत कला की एक दूसरी विशेषता उन गीतों म दिखाई पड़ती है जिनमें उर्दू के गजलों या लयो का हिन्दी के गीतो और पदों से मिश्रण किया गया है । प्रसादजी ने ऐसे अनेक प्रयोग किए हैं, यथा—

'सुहाग मधु पीले, यौवन बसंत खिला ।
शीतल निभृत प्रभात में, बैठ हृदय के कुञ्ज ॥
कोकिल कलरव कर रहा, बरसाता सुखपुञ्ज ।
देख लो बौरा रसाल हिला ।
सुहाग मधु पीले यौवन बसंत खिला' । [२]

या तरलिका का निम्नांकित गीत जिसे सुनकर चन्द्रगुप्त स्वयम् कहता है, 'हे तरलिके ! कविता नई है' सचमुच ही नये लय मे प्रस्तुत किया गया है ।

'पाया जिसमें प्रेमरस, सौरभ और सोहाग,
अली उसी ही कली से मिलता सह अनुराग ।
अली नहिं एक कली का है ॥' [३]

१—गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (काव्य कौमुदी दूसरा भाग पृ० ३४४)
२—प्रसाद, विशाख, पृ० १५ ।
३—प्रसाद, कल्याणी परिणय' नागरीप्रचारिणी अगस्त १६१२ पृ० ५४ ।

इसी प्रकार इस विविधता और वैयक्तिकतावादी युग में न जाने कितने नये लय निकाले गये।

गेयता की अन्तिम उपलब्धि उन प्रगीतों में दिखाई पड़ती है जिनमें गेयता किसी छंद या राग के कारण नहीं है। इनका विकास कवियों ने पूर्णतया अपनी व्यक्तिगत कलाकुशलता के द्वारा किया है। शब्दों में ऐसी नाद, ध्वनि और गति है जिससे ऐसे राग और लय की सृष्टि होती है जो छन्दों की लय से भिन्न एक वस्तु है और गवैया के गीतों से भी इसमें अन्तर विशेष है। यह संगीत, लय और गीत का सुन्दर सामंजस्य है। उदाहरण के लिये निराला का बादल राग सुनिये—

'झूम झूम मृदु गरज-गरज घन घोर,
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर!
झर झर झर निर्झर गिरि सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित तड़ित गति चकित पवन में,
मन में, विजन गहन-कानन में,
आनन-आनन में, रव घोर-कठोर,
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर'[1]।

इस प्रकार की कला का क्रमशः अद्भुत विकास हुआ और भाव, रूप, ध्वनि, गति, चित्र सब कुछ शब्दों के गीत से व्यक्त किया गया।

मुक्तक

केवल पाठ्य मुक्तकों को ही इस वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है। गेय मुक्तकों की चर्चा गीतों के अन्तर्गत हो चुकी है। अतः ये मुक्तक न गेय हैं और न कथात्मक। प्रकृति या जीवन के किसी चमत्कारपूर्ण चित्र की अभिव्यंजना मुक्तकों में होती है। रीतिकाल प्रधानतया मुक्तकों का युग था। दोहे, सवैये और कवित्तों का प्रयोग मुक्तकों में किया जाता था। दरबारी प्रभाव के कारण रीतिकालीन साहित्य पर फारसी और उर्दू की छाप अधिक है। उर्दू में अधिकतर ऊहात्मक प्रसंग और चमत्कारी उक्तियाँ

१—'निराला' परिमल

तथा अत्युक्तियाँ मिलती हैं। उन्हीं की देखा देखी हिन्दी कवियों ने भी अद्भुत उक्तियाँ अपने मुक्तकों में सजाईं; यथा—

'दीपक हिए छिपाय, नवल-वधू घर लै चली,
कर विहीन पछताय, कुच लखि निज सीसैं धुनै।
(रहीम)

रीतिकालीन मुक्तकों में अधिकतर अलंकारों की योजना जाती थी। असंगति का चमत्कारपूर्ण निर्वाह बिहारी के निम्नलिखित दोहे में द्रष्टव्य है—

'दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गांठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥

काव्य परम्परा और लक्षण ग्रन्थों के आधार पर नायिका भेद और नखशिख का गूढ़ वर्णन भी मुक्तकों का प्रमुख विषय रहा। काव्य परम्परा के विद्वान को कारीगरी में आनन्द मिलता था पर साधारण पाठक के लिए वे पहेली मात्र थे। अधिकतर इनकी अन्तिम पंक्तियों में ही चमत्कार और कारीगरी दिखाया जाता था, जैसे सेनापति का पावस वर्णनवाला प्रसिद्ध कवित्त अपनी अन्तिम पंक्ति की उत्कृष्ट उपमा—'दग भई' जावन की सावन की रतियाँ' के कारण रसिकों की जबान पर चढ़ रहा है।

हरिश्चन्द्र कालीन मुक्तक कविता में ब्रजभाषा के माध्यम से प्राचीन परम्परा ही चालू रही। अद्भुत विषयों पर समस्यापूर्तियां होती रहीं। अलंकारों और नायिकाओं पर मुक्तक लिखे जाते रहे, जैसे प्रतापनारायण की निम्नांकित कविता देखिये—

'बूड़ मरे न समुद्र में हाय ये नाहक हाथनि छीके डुबावै।
का तजि लाज गराज किए मुख कारे लिए इतही उत धावैं॥
नारि दुखारिन पै ब्रजमारे वृथा बुद्धिवान दै बान बुलावै,
धीर ह्वै तो बरवीरहिं जायकै, बीरबली पुरवा धमकावै॥'

खड़ी बोली पद्य के आधुनिक काल में भाषा अशक्त थी। कवियोंके लिए यह कठिन था कि वे किसी गम्भीर या अनूठी भावना का दूर तक निर्वाह कर सकें। अतः उस समय एकाध पंक्ति या चरण में कोई सुन्दर उक्ति सुना दी जाय, इतना ही सम्भव था। ऐसी स्थिति में साधारण विषयों पर

कुछ प्रभावशाली बातें और सूक्तियाँ तथा व्यंग्य पद्यबद्ध किए गए। खड़ी बोली के आरंभिक कवि खुसरो की तरह आधुनिक युग के आरम्भ में हरिश्चन्द्र ने भी मुकरियाँ कहीं। उनकी 'नये जमाने की मुकरी मुक्तकों का अच्छा उदाहरण है। जैसे—

रूप दिखावत सरबस लूटे, फँदे में जो पड़े न छूटे।
कपट कटारी जिय में हुलिस क्यों सखि सज्जन नहि सखि पुलिस ॥

प्रतापनारायण मिश्र ने भी लोकोक्तिशतक, ककाराष्टक, जन्म सुफल कब होय, प्रेम-सिद्धांत आदि मुक्तक लिखे। लोकोक्तिशतक से एक उदाहरण दिया जाता है—

'अवसर पर कीन्हों नहीं यदि कछु उपाय हित हेत
फिर पछताए होत क्या जब चिड़िया चुंग गई खेत ॥'

द्विवेदी युग में भाषा के कुछ सबल होने पर ब्रजभाषा की टक्कर के मुक्तक खड़ी बोली में भी लिखे गए। अनुरागरत्न, काननकुसुम, चित्राधार में ऐसे बहुत से मुक्तक संग्रहीत हैं। आधुनिक युग में मुक्तक अधिकतर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए और उपदेशात्मक या व्यंग्य मुक्तकों छोड़कर शेष मुक्तक अपनी प्राचीन परम्परा पर ही चलते रहे। उक्ति और वक्रोक्ति, ऊहा और अलंकार की प्रधानता रही। 'शंकर' की कविता से एक नमूना प्रस्तुत है :

'कंज से चरण कर, कदली से जंघ देखो,
क्षुद्र तण्डुला से दो उरोज गोल गोल हैं।
कृष्ण कुंडला से कान, भृंग वल्लभा से दृग
किंसुक सी नासिका गुलाब से कपोल हैं॥
चंचरीक पटली से केश नई कोंपल से
अरुण अरुण, कलकंठ से बोल हैं।
शंकर बसंतसेना बाई में बसंत के से
सोहने सुलक्षण अनेक अनमोल हैं ॥'[1]

मैथिली शरण गुप्त कृत 'सुकेशी' का नख शिख देखकर खड़ी बोली में रीतिकाल का स्मरण हो आता है।

१—(शंकर-बसंत सेना का विलास, सरस्वती १९०७ पृ० १८३)

द्विवेदी युग में मुक्तकों को भी उपदेश का साधन बनाया गया और उनमें सूक्ति तथा अन्योक्ति रचना का चलन बढ़ा। अन्योक्ति का एक उदाहरण देखिये—

'तू जान के भी अनल प्रदीप, पतंग जाता इसके समीप,
अहो नहीं है इसमें 'अशुद्धि', विनाश काले विपरीति बुद्धि॥'

इस शैली पर पूर्ण जी ने अन्योक्ति विलास लिखा। सैयद अमीरअली मीर ने भी बहुत अन्योक्तियां लिखीं। लक्ष्मीधर वाजपेयी और श्रीधर शर्मा की अन्योक्तियां भी उल्लेखनीय हैं। कलकी को ऐड्रेस देते हुए गिरिधर शर्मा कहते हैं—

'ऐ दोषाकर पश्चिम बुद्धि, कैसे होगी तेरी शुद्धि
द्विजवर को कोने बैठाया, जड़ दिवाध को पास बुलाया'।[1]

उक्ति और विनोक्ति की एक नवीन प्रणाली हरिऔध जी ने अपने चौपदों और छः पदों द्वारा चलाई इनका काफी प्रचार हुआ और गया प्रसाद शुक्ल सनेही, लाला भगवान 'दीन' ने इस शैली पर अधिक लिखा। इनमें कवि लोकोक्ति और मुहाविरों द्वारा चमत्कार की सृष्टि करता है। हरिऔध जी का एक चौपदा देखिये:—

घोंटते जो लोग हैं उसका गला
क्यों नहीं उन पर लहू हम गार लें।
है हमारी जाति का दम घुट रहा।
हम भला किस तरह से दम मार लें।'

भाषा के पूर्णतया मंज जाने पर उत्तम कोटि के कवित्त और सवैये तथा अन्य छंदों में मुक्तक लिखे गए। श्रीधर पाठक ने नवीन सवैया छन्द में अपना 'वनाष्टक' लिखा जो सेनापति के प्रकृति विषयक कवित्तों के टक्कर का है यथा :

'विन्ध्य के धन्य विभाग में एक, सरोवर स्वच्छ सुहावना है।
कमलों से भरा, भ्रमरों से घिरा, विहगों से सजा मन भावना है।
कल हंस स्वतन्त्र कल्लोल करें, खग वृन्द का बोल लुभावना है।
बहै मन्द समीर पराग लिए, अनुराग हिए हुलसावना है।

१—गिरिधर शर्मा—सरस्वती १९०८।

इन सवैयों में भाषा का सौष्ठव, प्रवाह, मनोहारिता और प्रकृति का मुक्त वर्णन दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार रीतिकाल में मुक्तकों के अन्य जो भी रूप चले आ रहे थे उन सबकी परम्परा खड़ी बोली में प्रचलित रही। प्राचीन अष्टकों के अनुकरण पर श्रीधर पाठक ने हरिश्चन्द्राष्टक और धनाष्टक के अतिरिक्त भ्रमराष्टक लिखा। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने रत्नाष्टक और वीराष्टक लिखा। लाष्टक के अन्तर्गत शारदाष्टक, गणेशाष्टक, कृष्णाष्टक, यमुनाष्टक, तुलसी अष्टक, वसंताष्टक, सन्ध्याष्टक आदि १९ अष्टक हैं और वीराष्टक के अन्तर्गत श्रीकृष्ण दूतत्व, भीष्म प्रतिज्ञा, जयद्रथ वध, महाराणा प्रताप, महारानी दुर्गावती, श्री नालदेवी, महारानी लक्ष्मीबाई पर आठ आठ छन्द लिखे गये हैं। प० जगन्नाथ की गंगा लहरी के अनुकरण पर रत्नाकर जी ने भी गंगालहरी, शृङ्गार लहरी और विष्णु लहरी लिखा। शतकों की परम्परा पर उद्धव शतक लिखा। रत्नाकरजी ने इस रूपों को ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया। खड़ी बोली में भी अष्टक लिखे गये परन्तु प्राचीन परम्परा की नकल उनमें कम पाई जाती है।

प्रबन्ध—

प्रबन्धों के दो भेद माने जाते हैं (१) महाकाव्य, (२) खण्ड काव्य। ये दोनों भेद कथा वस्तु पर ही आधारित हैं। जिसमें जीवन की किसी घटना का एक खण्ड, जो अपने में पूर्ण हो, चित्रित किया जाय वह खण्ड काव्य और जिसमें किसी महान चरित्र का आद्यान्त जीवन चित्रित हो, वह प्रबन्ध काव्य है। कथा वस्तु के आधार पर प्रबन्धों के दो और भेद माने जा सकते हैं। एक तो वे प्रबन्ध जिनका कथानक ऐतिहासिक या ख्यात हो, दूसरे वे जिनका कथानक कल्पित हो। प्रबन्ध काव्यों के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन सभी साहित्यशास्त्र की पोथियों में किया गया है, यहाँ उनकी पुनरुक्ति का कोई प्रयोजन नहीं, बल्कि इतना ही दिखलाना उद्देश्य है कि उन लक्षणों में भी आधुनिक कवियों ने पर्याप्त परिवर्तन कर दिया और नवीन परिस्थितियों के अनुकूल कुछ भिन्न प्रकार के प्रबन्ध काव्य रचे।

रीतिकाल में कुछ इने गिने प्रबन्ध अवश्य लिखे गए जैसे रामचन्द्रिका, सुदन चरित्र, हिम्मत बहादुर विरुदावली आदि, परन्तु अधिकतर कवि मुक्तकों में रीतिग्रन्थ ही लिखते रहे। ये प्रबन्ध भी मूलतया लक्षण ग्रन्थों की परिपाटी पर लिखे गये हैं। खड़ी बोली हिन्दी में पहला प्रबन्ध श्रीधर

पाठक का 'एकान्तवासी योगी' है। यह अनुवाद था और कथा कल्पित थी। इसका आख्यान अत्यन्त मधुर और मार्मिक है। अतः यह लोकप्रिय हुआ और इसकी कथा ने अन्य कई परवर्ती प्रबन्धों को प्रभावित किया। प्रसाद जी के 'प्रेम पथिक' और रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' तथा रामचन्द्र शुक्ल के 'शिशिर पथिक' प्रबन्धों पर इसकी कथा का स्पष्ट प्रभाव है।

हिंदी का प्रथम मौलिक प्रबन्ध 'जयद्रथ वध' (खंड काव्य) है। द्विवेदी जी के निर्देशानुसार पौराणिक चित्रों पर कविताएं लिखने वाले, अतीत गौरव की भावना से अनुप्राणित मैथिली शरण गुप्त का यह काव्य भी अतिप्रचलित हुआ। गुप्तजी ने 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा' के समय ही पाठकों को आश्वासन दिया था कि 'अभिमन्यु का यह चरित आदरणीय प्राय है सभी। जो हो सका तो युद्ध भी इसका सुनाऊंगा कभी'। अपने इसी वचन को उन्होंने जयद्रथवध के रूप में पूर्ण किया। काव्य की दृष्टि से इसमें वीर और करुण रस का अद्भुत परिपाक हुआ। प्रत्यक्ष रूप से इसके रचयिता गुप्त जी हैं पर अप्रत्यक्ष रूप से ऐसी रचनाओं के प्रणयन का श्रेय कुछ न कुछ आचार्य द्विवेदी का भी है जिनके प्रोत्साहन से गुप्त जी इधर जुटे। जयद्रथवध के बाद तो गुप्त जी की लेखनी से कई खंड काव्य और साकेत जैसा महाकाव्य निःसृत हुआ जो हिन्दी के लिए गौरव का कारण है। अनूदित प्रबन्धों में आचार्य द्विवेदी का 'कुमार सम्भव सार' और श्रीधर पाठक का 'श्रांत पथिक' आरम्भिक अनुवाद होते हुए भी महत्वपूर्ण हैं। मौलिक प्रबन्धों में सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य विजय' रामनरेश त्रिपाठी का 'मिलन', पंत का 'ग्रन्थि' गोकुलचन्द्र का 'गांधी गौरव' तथा मैथिलीशरण गुप्त का 'पंचवटी' उल्लेखनीय हैं। इनमें मिलन और ग्रन्थि की कथा कल्पित है अन्य की ख्यात। आगे चलकर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का इतना प्रभाव पड़ा कि प्रबन्धों के नायक भी प्राकृतजन होने लगे तथा अति सामान्य व्यक्तियों पर 'अनाथ' 'किसान' और 'आर्द्रा' जैसे प्रबन्ध लिखे गए।

इस काल के प्रसिद्ध महाकाव्यों में प्रियप्रवास, साकेत और रामचरित चिन्तामणि का नाम लिया जाता है। अन्तिम प्रबन्ध पर आधुनिकता का अधिक प्रभाव उसके देश काल निर्वाह में बाधक हो गया है इसके अलावा अन्य कई कारणों से वह सफल तथा लोकप्रिय नहीं हो सका। प्रियप्रवास और साकेत दोनों ही बंगला की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष

रूप से प्रभावित हैं। इन पर मेघनाद वध और व्रजांगना का प्रभाव ही अधिक दिखाई पड़ता है। प्रियप्रवास का कथानक प्राचीन लक्षण ग्रन्थों के अनुसार एक प्रबन्ध काव्य के लिए अपर्याप्त है। मेघनाद वध की तरह इसकी घटना भी अल्पकाल में सीमित है। कुछ विद्वान् इसीलिये इसे 'एकार्थ काव्य' कहते हैं क्योंकि इसमें जीवन की विविधता का अभाव है। फिर भी कथावस्तु का विस्तार, प्रकृति और चरित्र आदि के विशद वर्णन इसे महाकाव्य के समान ही ले जाते हैं। गुप्त जी जैसे रामभक्त द्वारा अपने महाकाव्य के प्रमुख चरित्रों के रूप में सीता राम के स्थान पर उर्मिला और लक्ष्मण को चुनना भी नवीनता का ही परिचायक है। द्विवेदी जी हिंदी कवियों को 'मेघनाद वध' और 'यशवंतराव' महाकाव्यों का उदाहरण दे देकर वैसे ही प्रबन्ध लिखने के लिए प्रोत्साहित करते थे। 'मेघनाद वध' में तो नायक के चुनाव में पूर्णतया स्वच्छन्दता से काम लिया गया है। साकेत की रचना द्विवेदी जी के लेख 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' की प्रेरणा से हुई थी। वह लेख स्वयम् रवीन्द्र के लेख 'काव्येर उपेक्षिता' से प्रभावित था। स्वयं गुप्त जी भी साकेत लिखने के पूर्व माइकेल के व्रजांगना का अनुवाद कर चुके थे और उसके विरह का प्रभाव उर्मिला के विरह वर्णन पर स्पष्ट प्रतीत होता है। बंगला की रहस्यवादी प्रवृत्ति भी साकेत के गीतों में दिखाई पड़ती है। इस शैली का पूर्ण निखार पंत की 'ग्रन्थि' में मिलता है।

इस प्रकार काव्य के सभी रूपों और प्रत्येक रूप के भिन्न भिन्न भेदों में खड़ी बोली की कविता प्रस्तुत की गई। अन्त में, खड़ी बोली में प्राप्त काव्य रूपों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है। काव्य के मुख्य तीन भेद—

(१) प्रबन्ध (२) मुक्तक और (३) गीत। प्रबन्ध के दो उपभेद—(क) महाकाव्य (ख) खंड काव्य) मुक्तक का कोई विशेष उपभेद नहीं, परन्तु गीतों का नाना रूप प्रचलित हुआ। स्थूल रूप से इन्हें हम पांच उपभेदों में बांट सकते हैं—

(१) पद्यात्मक निबन्ध, (२) आख्यान गीत (३) प्रगीत, इनमें पदगीत, गजलगीत दोनों ही शामिल हैं (४) नाट्यगीत और (५) पत्र-गीत। रीतिकाल के मुक्तकों से आधुनिक काव्य के इतने रूपों की तुलना करने पर काव्य रूपों में क्रांति और उनके प्रसार पर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित हो जाता है।

ग—छन्द

छंदों का एक बृहद्शास्त्र है, उसकी शास्त्रीय गहराइयों में जाना इस प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है। यहा केवल इतना स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ने किस सीमा तक छंदों के क्षेत्र में क्रान्ति की। रीतिकाल के कवि अधिकतर, दोहा, कवित्त और सवैया लिखते थे। सोरठा, कुंडलियाँ और बरवै भी अपवाद स्वरूप दिखाई पड़ जाते हैं। अन्य छन्द चाहे वे संस्कृत के वर्णवृत्त हों या हिन्दी के मात्रिक, रीतिकालीन साहित्य से बहिष्कृत से थे। परन्तु आज हिन्दी के सब छन्दों के अतिरिक्त संस्कृत, बगला, अंग्रेजी और उर्दू के छन्दों का प्रयोग स्वच्छन्दता पूर्वक कवि कर ही रहे हैं, साथ ही अनेक ऐसे नये और स्वच्छन्द तथा मुक्त छंदों का प्रयोग हो रहा है जिनके सम्बंध में हमारे पिंगल शास्त्रियों ने सोचा भी नहीं था।

इस अद्भुत विकास की तीन अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं—(१) रीतिकालीन संकीर्ण परम्परा का विरोध करके विभिन्न साहित्य के विविध छन्दों का प्रयोग करना विकास की पहिली अवस्था है (२) छन्दों की दूसरी मंजिल वहा दिखाई पड़ती है जहा नियमों की सीमा में रहते हुए भी कवियों ने दो छन्दों के मिश्रण से नए छंदों की उद्भावना की। (३) छन्द विकास की तीसरी अवस्था में छन्दों ने पिंगल शास्त्र के सभी नियमों से मुक्ति पा ली। वे पूर्णतया स्वच्छन्द हो गये। उन पर वृत्त, गण, मात्रा या तुक किसी का प्रतिबन्ध न रहा।

प्रथम अवस्था—भारतेन्दु युग में नवीन आन्दोलनों के फलस्वरूप छन्द में भी नवीनता का सूत्रपात हुआ। परन्तु आरम्भिक काल में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। नई धारा के कवियों की सम्पूर्ण शक्ति साहित्य को नये नये उपयोगी और समाज हितैषी विषयों की ओर मोड़ने में ही लगी रही। प्राचीन छन्द शास्त्र का अक्षय भंडार उन लोगों के सामने था, आवश्यकता पड़ने पर वे उसका प्रयोग कर सकते थे। इसीलिये आरम्भ में छन्द के सम्बन्ध में साहित्यिकों ने अधिक चिन्ता नहीं की। नई धारा के कवि

अपनी नई कविता में अधिकतर रोला का व्यवहार करते रहे। काम पड़ने पर कुंडलियाँ, छप्पय, अष्टपदी, लावनी, सोरठा, पदगीत, गजल, रेखता और संस्कृत के मालिनी तथा द्रुतविलम्बित का भी प्रयोग किया गया।

खड़ी बोली के विरोध के कारण हरिश्चन्द्र और उनके अन्य साथियों का मत था कि खड़ीबोली उर्दू के कुछ गिने चुने छन्दों (बहरों) में ही ढल सकती है, और वे लोग खड़ीबोली में उसी का प्रयोग भी करते थे। खड़ी-बोली में मुशी स्टाइल की सभी रचनायें उर्दू के बहरों में हैं। फिर भी हरिश्चन्द्र काल में छन्दों के क्षेत्र में रीतिकाल की अपेक्षा विस्तार तो दिखाई देता ही है। रीतिकाल के तीन चार छंदों के स्थान पर संस्कृत और हिन्दी के छन्दों तथा उर्दू के बहरों और लोकगीतों की कजली, लावनी, रेखता, ख्याल आदि का प्रयोग प्रारम्भ किया गया। इतना ही नहीं, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बंगला के पयार छन्द का अपनी 'प्रातसमीरन' कविता में प्रयोग किया। उसके अन्त में लिखा है:

> 'प्रलय पीछे सृष्टि सम जग लखाय।
> मानो मोह बीत्यों भयो ज्ञानोदय आय।
> प्रात पौन लागे जाग्यौं कवि 'हरिचंद्'
> ताकी स्तुति करि कहौं यह बंग छंद'[1]।

खड़ीबोली आन्दोलन से छन्द आन्दोलन का सूत्रपात

खड़ीबोली को विविध छंदों में ढालने का वास्तविक आयोजन श्रीधर पाठक ने खड़ीबोली आन्दोलन के सिलसिले में शुरू किया। छन्द आन्दोलन का खड़ीबोली आन्दोलन से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है अथवा यों कह सकते हैं कि खड़ीबोली आन्दोलन ही छन्द आन्दोलन का कारण है। जब अयोध्या-प्रसाद खत्री ने 'खड़ीबोली का पद्य' प्रकाशित करके वितरित करना आरम्भ किया तो इसके विरोध में राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायण मिश्र का सबसे बड़ा तर्क यही रहा कि खड़ीबोली उर्दू के थोड़े से छन्दों को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के छन्द में सुन्दरतापूर्वक नहीं प्रयुक्त हो सकती। राधा-चरण गोस्वामी ने विवाद आरम्भ करते हुए प्रथम पत्र में ही लिखा था कि 'इस प्रकार की भाषा में छन्द रचना करने में कई आपत्ति है। प्रथम तो

१—प्रात समीरन—भारतेन्दु ग्रन्थावली द्वि० भाग (१९३१ स०)

लोक साहित्य के लावनी, चौगोलों आदि और अंग्रेजी के प्रगीत, सम्बोध गीत आदि का भी आरम्भ किया। सन् १६०० और १९०१ की सरस्वती में क्रमशः मिश्रबन्धु और श्यामसुन्दरदास ने श्रीधर पाठक की कविता के गुण दिखाते समय इस तथ्य पर विशेष रूप से प्रकाश डाला था कि उन्होंने अनेक प्रकार के नए छन्दों का आरम्भ किया। श्यामसुन्दरदास ने पाठकजी के १७ प्रकार के छन्दों का उदाहरण देकर कवियों को खड़ी बोली में इसी प्रकार नवीन छन्दों के प्रयोगार्थ प्रोत्साहन दिया था। १७ छन्दों में प्रायः ८-९ छन्द पूर्णतया नवीन थे और वे पाठकजी की निजी उद्भावना के फलस्वरूप आविष्कृत हुए थे। इस प्रकार खड़ी बोली आन्दोलन के सम्बन्ध में श्रीधर पाठक ने छन्दों के क्षेत्र में भी क्रान्ति की और पुरानी सीमित परिधि के स्थान पर नवीनता और विस्तार को स्थान दिया। 'खड़ी बोली पद्य' में भी छन्दों की दृष्टि से नवीनता को पर्याप्त स्थान दिया गया था। मुंशी स्टाइल में उर्दू बहरों का प्रयोग हुआ था। अग्निहोत्रीजी ने पयार छन्द का और महेश नारायण ने 'स्वप्न' कविता में माइकेल के अमित्राक्षर छन्दों का प्रयोग किया था। अमित्राक्षर छन्दों के आरम्भिक प्रयोगकर्ताओं में अम्बिकादत्त व्यास भी स्मरणीय हैं।

द्वितीय अवस्था

श्रीधर पाठक ने नवीन छन्दों की उद्भावना में अधिकतर लावनी या अन्य लोकगीतों का लय रखा। पुराने छन्दों को थोड़े परिवर्तन से उन्होंने प्रवाहशील बना दिया। एकान्तवासी योगी लावनी के लय पर और घनाक्षरी पुराने सवैये को ३० मात्रा का बनाकर नए रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया। घनाक्षर के सवैयों को लेकर मिश्रबन्धु और आचार्य द्विवेदी में विवाद भी हुआ था। द्विवेदी युग के कवियों ने नये छन्दों की उद्भावना में अधिक प्रगति दिखाई। स्वयम् द्विवेदीजी ने कुछ नए प्रयोग किए। परन्तु पाश्चात्य प्रभाव के विरोध और प्रतिवर्तनवादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप एक बार द्विवेदी युग में वर्णवृत्तों की धूम मची। संस्कृत के वर्णवृत्तों में गण का कठोर बन्धन है, यद्यपि तुक की छूट है। हिन्दी के कवियों ने अभ्यास वश वर्णवृत्तों में भी तुक का प्रयोग किया। अतुकान्त वर्णवृत्तों में प्रथम महान् प्रयोग हरिऔध जी का 'प्रिय प्रवास' है। हरिऔधजी तुकान्तहीन नवीन छन्दों में पद्य रचना के पक्षपाती

थे। उन्होंने हिन्दी में सानेट और तुकान्तहीन पद्य रचना के सम्बन्ध में लिखा था कि 'मैं हिन्दी भाषा का नित नूतन अलंकारों से सज्जित करने का पक्षपाती हूँ फिर चतुर्दशपदी कविता लिखकर उसके भंडार की शोभा क्यों न बढ़ाई जाय।' महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम प्रेषित एक पत्र में उन्होंने लिखा था, मैंने मयक नरक को शार्दूल विक्रीडित छन्द मे नहीं लिखा है। वरन् ३० मात्रा के एक कल्पित छन्द में वह कविता लिखी है। हमारे हिन्दी भाषा के वर्तमान सचालकों को नूतनता से बहुत कुछ विरोध है अतएव सभव है कि कविता प्रकाश होने पर कुछ छद तुक का झगड़ा भी फैले।'[1] कविता की कुछ पक्तियाँ देखिये।

> 'शरद रजनी के समान रंगिणी जिसकी मनोहारिणी।
> रूपवती रोहिणी आदि जिसकी है मत्त विशेति प्रिया ॥
> हा! जगदीश्वर वह कभी द्विपति भी गुरुवाम गामी हुआ।
> कामी जन को अकरणीय कुछ भी ससार में है नहीं ॥'[2]

द्विवेदी युग मे छदो के सम्बन्ध म केवल दो प्रकार की प्रवृत्ति ही क्रिया शील रही। (१) पिंगल शास्त्र के अनुसार विभिन साहित्य के नाना छन्दों का प्रयोग, (२) नियमो के अन्तर्गत ही दो भिन्न भिन्न छन्दों के मिश्रण से एक नए छन्द की उदभावना। विभिन्न छन्दो के प्रयोग म सस्कृत का प्रभाव ऊपर दिखाया गया है। उर्दू के छन्दों का भी हरिऔध ने सफलतापूर्वक अपने चौपदा और छपदो मे प्रयोग किया। चौपदों में उन्होंने उर्दू के 'फायलातुन, फायलातुन फायलातुन' बहर् का क्रम रखा, यथा—

> 'आँख का आँसू ढलकता देखकर।
> जी तड़प करके हमारा रह गया ॥
> क्या गया मोती किसी का है बिखर।
> या हुआ पैदा रतन कोई नया।'[3]

इस छन्द का हिन्दी का पीयूषवर्षी भी कहा जा सकता है। उर्दू के

१—ना० प्र० सभा हस्तलिखित पत्र संग्रह बहल ७ क प० सं०१५०९।
२—'काव्योपवन खड्ग विलास प्रेस पृ० ७३।
३—'आँख क' आँसू' कविता कौमुदी दूसरा भाग पृ० २२४।

छन्दों का हिन्दी में प्रयोग करने वाले कवियों में लाला भगवानदीन भी हैं। उन्होंने वीर पचरत्न में उर्दू के 'मफ्ऊल, मफाईल मफाईल मफाईल' का क्रम रखा है। इसके अलावा उन्होंने गजलें भी लिखीं। चाँदनी, महदी, आँख उनकी प्रसिद्ध गजलें हैं। 'आँख' की कुछ पंक्तियाँ देखिये।

> 'कहो तो आज कह दूँ आपकी आँखों को क्या समझे।
> सिता सिन्दूर मृगमद युक्त अद्भुत कुछ दवा समझे॥
> अगर इसको न मानो तो बता दूँ दूसरी उपमा।
> सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुन्दर सुधा समझें।' [1]

'सनेही' ने भी उर्दू बहरों में कवितायें लिखीं। थोड़ी सी रुबाइयों का भी प्रयोग किया गया। मैथिलीशरणगुप्त ने उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद ही प्रस्तुत किया। रुबाइयों में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण में अन्त्यानुप्रास का नियम है यथा—

> 'नष्ट हों भय-ताप लोचन वृष्टि में,
> दीन क्यों हो मोतियों की सृष्टि में।
> माँगते हैं ईश भी याचक बने,
> उस तुम्हारी एक करुणा वृष्टि में॥' [2]

मिश्र छंदों के आविष्कार में द्विवेदी युग में 'शंकर' कवि विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अनेक नवीन छन्दों का प्रयोग किया तथा कुछ छन्दों का नया नामकरण भी किया। इस समय कई छन्द उनके दिये हुये नाम से ही प्रसिद्ध हैं जैसे भावात्मक लावनी, शंकर छन्द, फलाधरात्मक मिलिन्दपाद और पटपदी आदि। शंकर छन्द का एक नमूना देखिये—

> 'एक इसी को अपना साथी, अर्थ अशेष बताते हैं।
> उच्चारण के साधन सारे, रसना रोक जताते हैं॥
> ऐसा उत्तम शब्द कोष में, मिला न अब तक अन्य।
> ओमुद्भूत नाम शंकर का, सकल कलाधर छंद [3]।'

१—'आँख' कविता कौमुदी दूसरा भाग पृ० २५०।

२—सरस्वती–मई १९१५।

३—अनुरागरत्न सन् १९१३ प्र० सं० पृ० २०।

'धर्मवीरों की वीरता' में मायात्मक लावनी का प्रयोग देखिये—

> 'जिनको उत्तम उपदेश, महाफल पाया,
> उन अनघों ने अखिलेश, एक अपनाया ॥ टेक ॥
> बन गए सुबोध, विनीत महा अनुरागी,
> उमंगे बल, पौरुष, पाप शिथिलता त्यागी[1] ।

उक्त पंक्तियों में लावनी के ढंगपर टेक द्वारा गीत की योजना द्रष्टव्य है।

उन्होंने खड़ीबोली में अत्यन्त शुद्धता पूर्वक दोहे, सोरठे आदि का भी प्रयोग किया। छंदों की शुद्धता के लिए शंकर प्रसिद्ध हैं। उनका निम्नांकित दोहा देखिये—

> 'डूबे संसृति सिन्धु में, देह पोत बहुबार।
> शंकर ! बेड़ा दीन का, अब तो कर दे पार।'[2]

मिश्र छंदों का प्रयोग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और आचार्य द्विवेदी ने केवल नाम मात्र के लिए आरम्भ किया उसको यथोचित प्रोत्साहन 'शंकर' ने ही दिया। पहिलीबार हिन्दी काव्य मे इतने छंदो का प्रयोग हुआ। कुछ कवियों ने विशेष छन्दों में विशेषता भी दिखाई जैसे शंकर ने कवित्तों मे, मैथिलीशरण गुप्त ने हरिगीतिका मे, हरिऔध ने वर्णवृत्तों और उर्दू की बहरों मे। सियारामशरण गुप्त ने रोला छंद मे, सनेही तथा दीन जी ने उर्दू की बहरों मे। इस काल मे बंगला और अंग्रेजी छंदो का उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। बंगला के छंद हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़े और अंग्रेजी के विरुद्ध लोकरुचि ही थी। फिर उसके छन्दों का प्रयोग क्यों होता ?

अतुकान्त—रीतिकाल के कवियो को, जब केवल चार या छः पंक्तियों मे ही अपना चमत्कार दिखा कर छंद पूरा कर लेना रहता था तो तुक के उत्तम, मध्यम, अधम का निर्वाह संभव था। द्विवेदी युग में जब आख्यानक गीत, प्रबंध और इस प्रकार के अन्य विस्तृत काव्यों के लिखने की बारी आई तो तुक का बंधन उनके कथा-प्रवाह मे बाधक सिद्ध होने लगा। वर्णवृत्तों मे अतुकान्त का सफल प्रयोग हरिऔध जी ने 'प्रिय प्रवास' मे

१—वही पृ० १२९।
२—वही पृ० ७७।

किया परन्तु एक तो संस्कृत गर्भित भाषा, जिसमें वर्णवृत्त भलीभाति खिलते हैं, सर्वत्र उपयुक्त नहीं थी, दूसरे गणों का बंधन भी असह्य था, अतः अतुकान्त होते हुए भी वर्णवृत्तों की ओर अधिक कवि नहीं झुके। हिंदी के अन्य छंदों में ही अतुकान्त का विधान किया गया।

ऐसा तो नहीं कि २० वीं शती के पूर्व अतुकान्त का प्रयोग ही नहीं हुआ था। संस्कृत साहित्य का संपूर्ण काव्य ही अतुकान्त था। सिक्खों के ग्रन्थों में भी भिन्न तुकान्त कविता मिलती है। जैसे नानक की निम्नांकित कविताः

> 'हिंदू कहों तो मारिए, मुसलमान भी नाहिं,
> पांच तत्व का पुतरा, नानक मेरा नाम[१]।'

परन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य में भिन्न तुकान्त का प्रथम प्रयास खड़ी-बोली आन्दोलन के सम्बन्ध में ही किया गया। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने अतुकान्त काव्य के सम्बन्ध में लिखा है 'खड़ीबोली का आन्दोलन उस समय तक उत्पन्न हो चुका था और उसमें शब्दों के रूपों को न बिगाड़ने का बंधन तुक भिड़ाने के व्यापार में कवियों को अस्थिर करता हुआ उन पर असमर्थता का दोष लाद रहा था। बस इसी बाधा को जीतने के लिए अतुकान्त या 'ब्लैंक वर्स' की शरण लेने का स्थिर किया[२]'। वस्तुतः केवल इसी बाधा को जीतने के लिये अतुकान्त का चलन नहीं हुआ बल्कि जब ग्रीक में होमर, अंग्रेजी में शेक्सपीयर, मिल्टन तथा बंगला में माइकेल आदि ने अतुकान्त में जगत्प्रसिद्ध रचनायें कीं तो हिंदी के कवियों का ही ध्यान उधर क्यों न जाता। भिन्न तुकान्त आन्दोलन पर राय देते हुए 'पूर्ण' जी ने लिखा था कि 'हिंदी को यह प्रेरणा अंग्रेजी और बंगला से मिली। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से ब्लैंक वर्स का ज्ञान हुआ और उसने २०वीं शती के अंग्रेजी पढ़े कवियों के अंतर हृदय में सुसंचित उनके पैतृक तुक समूह को हिला डुला दिया। तब उस तुक समूह की अल्पता और विचार स्वातन्त्र्य बाधकता को देखकर वे व्यग्र हो उठे।[३]'

१—सरस्वती—१९०१ पृ० ३२६।

२—'हिन्दी में अतुकान्त कविता'—सा० म० का०वि०द्वि० भाग पृ० ६०

३—स० अम्बिकादत्त व्यास—'साहित्य नवनीत' पृ० ६१।

अतुकान्त छन्द में अम्बिकादत्त व्यास के 'कंस वध' की चर्चा पीछे आ चुकी है। सरस छन्द में उनकी कुछ बेतुकी पंक्तियाँ देखिये।

> 'छन ही भर में फैली घर घर बात,
> जावेंगे मथुरा को दोऊ श्याम।
> गोप संग जाने को, थे जो तैयार,
> उनको दुख का कुछ भी था नहिं हेतु।'

ऐसी पंक्तियों को देखकर ही प्राचीन मर्यादावादी विचार के कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' चिढ़े थे और अपने 'समालोचनादर्श' में लिखा था।

> 'जात खड़ी बोली पै कोउ भयो दिवानो।
> कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन में है अरुझानो।'

विरोध अवश्य हुआ, पर स्वच्छन्द विचार वाले कवियों को तुक का अनिवार्य बंधन बराबर खटकता रहा। बालमुकुन्द गुप्त की निम्नांकित पंक्तियों में वही व्यञ्जना है :

> 'विरस सरस तुक जोरहुँ जो तुममों बनि आवे,
> जाको तुक छुटि जाय सोई कविता कहलावे।

आरम्भ में अतुकान्त कविता के प्रचलित न होने का कारण भाषा की असमर्थता ही है। अतुकान्त के लिये निश्चय ही समर्थ भाषा[1] की जरूरत होती है जैसा 'पोप' ने अंग्रेजी के लिये लिखा था वही हिंदी के लिए भी उस समय ठीक था। सरयूप्रसाद मिश्र ने 'रघुवंश भाषानुवाद' अतुकान्त छन्दों में लिखा था। सम्भवत: आधुनिक युग में वे प्रथम अतुकान्त काव्य प्रस्तुतकर्ताओं में हैं। आचार्य द्विवेदीजी ने भी सन् १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित 'कवि

१—'समालोचनादर्श' पोप के ऐसे आन क्रिटिसिज्म का अनुवाद था। पोप भी अतुकान्त कविता का समर्थक नहीं। उसने लिखा है—

"I have nothing to say for rhyme, but that I doubt whether a poem can support itself without it in our language unless it be stiffened with such strange words, as are likely to destroy our langua ge." Geoffrey Grogson. 'Before the Romantics'— First Edition p. 172-3

कर्त्तव्य' नामक लेख मे कहा था कि भिन्न तुकान्त कविता होनी चाहिए परन्तु क्रमश: उधर जाना अच्छा है इसलिये पहले वर्णवृत्तो का ही अतुकान्त के लिए प्रयोग होना उचित है। उन्होने सम्भवतः सरजूप्रसाद मिश्र को लक्ष्य करके लिखा था।

'तुकान्त ही में कवितान्त है यहीं,
प्रमाण कोई मतिमान मानते।
उन्हें नहीं काम कदापि और से,
अहो महामोह! प्रचडता तव।'[1]

द्विवेदीजी की शैली पर अतुकान्त काव्य को सर्वाधिक बल देनेवाले 'हरिऔध' जी का सकेत किया जा चुका है। ब्रजभाषा में 'पूर्ण' जी अतुकान्त के पक्के समर्थक थे। लोचन प्रसाद पाडे ने 'ससार' नामक भिन्न तुकान्त खडकाव्य 'वीर छन्द' मे लिखा। प्रसादजी ने मात्रिक और अतुकान्त छन्द में प्रेम पथिक की रचना की। इस क्षेत्र मे यह पहिली महत्त्वपूर्ण रचना थी। इसके पूर्व जितनी अतुकान्त रचनाएँ हुई थीं वे या तो वर्णवृत्तों मे थीं या वीर छद मे। छोटी मोटी अन्य कवितायें भी भिन्न तुकान्त-पद्य मे प्रकाशित हुई थी। लोचनप्रसाद पाडेय ने डी० एल० राय की ताराबाई और रवीन्द्र की 'राजारानी' का भिन्नतुकान्त पद्य मे अनुवाद किया। ऐसी कविताओ मे सबलता (फोर्स), प्रवाह और सजीवता होनी चाहिए। उन्होंने अपने लेख मे अतुकान्त कविता की ओर कवियों को आकृष्ट करते हुए उसके सबध में लिखा है कि 'वे तुकान्तहीन रचना मे सजीवता और व रभाव लाकर हमारे देश में वीरता का बीज बोयें।' कुछ कवियों ने इस प्रकार के उल्लेखनीय प्रयत्न भी किए। रूपनारायण पाण्डेय की 'ताराबाई' से वीर वचनावली सुनियेः

'क्या कहते हो सेनापति! तुम छोड़कर।
उनको आए यहाँ युद्ध की भूमि से?
तो तुम भागे युद्ध भूमि से, लोमड़ी
ऐसे लेकर खबर हारने की बुरी?
सेनापति हो मर्द और क्षत्रिय? तुम्हे

१—सरस्वती जून, १९०१।

लज्जा आती नहीं ? तुच्छ स्त्री मैं अगर
लौटी रण से, तो दुश्मन को कैद कर—
जय पाकर ! अब फिर मैं जाती हूँ यहाँ
अभी उबारूँगी पति को आपत्ति से ।[1]

तृतीय अवस्था

अतुकान्त के बाद छंदों में तीसरा और अन्तिम परिवर्तन हुआ । कवि स्वच्छन्दतापूर्वक भाव और रसों के अनुकूल एक ही चरण में छन्दों का आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने लगे । जब रीतिशास्त्र से मुक्त होकर कवि को व्यक्तिगत प्रतिभा और कला के विकास का अवसर मिला तो उसने छन्दों में भी सचेतन कला का विधान किया । सर्वप्रथम इस प्रकार के छन्द का प्रयोग कवि पंत ने किया और उसे 'स्वच्छन्द छंद' कहा । स्वच्छन्द का अर्थ मनमानी नहीं लगाया जाना चाहिए । संगीतशास्त्र ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि भिन्न भिन्न भावों तथा परिस्थितियों और समयों के लिये भिन्न भिन्न राग-रागनियाँ उपयुक्त होती हैं, ठीक उसी प्रकार साहित्य में भी भिन्न भिन्न रसों के लिए भिन्न भिन्न छंदों की योजना की गई थी । आरम्भ में जब कवि एक ही भाव या रस एक छन्द या कई छन्दों की एक कविता में व्यक्त किया करता था तो उसका एक ही प्रकार के वर्णिक या मात्रिक छन्द से काम निकल जाता था पर आज विविधता के युग में जब कोई वस्तु, रस, या भाव सरल रूप में नहीं है, सर्वत्र अनेक गुत्थियाँ, उलझनें और जटिलतायें हैं, यह उचित ही है कि उनका विश्लेषण करके प्रत्येक के लिए अलग अलग उपयुक्त छन्दों की व्यवस्था एक ही कविता या कविता के एक ही छंद अथवा चरण में आवश्यकतानुसार की जाय ।

ऐसे स्वच्छंद छन्दों का निर्माण दो ढंग से किया है (१) या तो मात्राओं में अदल बदल करके या (२) अन्त्यानुप्रास क्रम में परिवर्तन करके । कहीं कहीं दोनों का अतिक्रमण कर दिया गया है । मात्रा में परिवर्तन का एक उदाहरण देखिये—

१—साहित्य सम्मेलन कार्य विवरण द्वि० भा० सन् १९१८ ।

"हाय, किसके उर में,
उतारूँ अपने उर का भार।
किसे अब दूँ उपहार—
गूँथ यह अश्रुकणों का हार।

इसमें द्वितीय और चतुर्थ चरण १६—१६ मात्रा के हैं। यदि प्रथम चरण में जो ११ मात्रा का है, एक लघुमात्रा जोड़ दी जाय और उसे तृतीय चरण, जो १२ मात्रा का है, के बराबर कर दिया जाय, तो यह कोई अर्द्ध सम छन्द हो जायगा क्योंकि अन्त्यानुप्रास क्रम बैठता है।

पूर्णतया मुक्त छन्दों का प्रयोग निराला ने किया। उन्होंने शब्दों की योजना द्वारा गति, ध्वनि, कार्य और रूप का चित्र उपस्थित किया। निराला जी स्वयम् संगीत के मर्मज्ञ हैं उन्हें शब्दों के संगीत का रहस्य ज्ञात है। '*जुही की कली*' उनकी इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में है। नायक पवन अपनी प्रियतमा जुही की कली से मिलने को आतुर होकर दौड़ता है, वह कुंजों में उलझता, रुकता नायिका तक पहुँचता है। इसका एक शब्द चित्र देखिये—

"फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित-गहन-गिरि-कानन
कुंजलता-पुंजों को पार कर पहुँचा।"

इन पंक्तियों में छन्द व लय पूर्णतया शब्दों की योजना पर आश्रित है। ह्रस्व वर्णों की योजना द्वारा कवि पवन की द्रुत गति का और दीर्घ ह्रस्व के क्रम द्वारा रुकते रुकते चलने की गति का चित्र शब्दों द्वारा उपस्थित कर देता है। ये कवितायें गण, वृत्त, तुक आदि मात्रा और सम बंधनों से मुक्त होकर पूर्णतया भाव या रस की अनुवर्तिनी हैं। कवि ने उक्त सभी गुण नई नई विधियों से अर्जित किया है। इस कविता में यद्यपि तुक नहीं है परन्तु तुक का श्रुति-सुख स्वरमैत्री और वर्णमैत्री द्वारा अनुरणन उत्पन्न करके पाठकों को प्रदान किया गया है। जुही की कली में प्रत्येक पंक्ति इस प्रकार का अनुरणन उत्पन्न करती है, यथा—

'सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न' में 'स' और 'निर्दय उस नायक' में न तथा 'झांकों की झड़ियों' में झ की आवृत्ति में अनुप्रास का अनुरणन प्राप्त कर लिया गया है। इस प्रकार के छन्दों में अनेक उत्तम रचनायें की गईं और समय ने धीरे धीरे यह सिद्ध कर दिया कि इसका विरोध कोरा पुराने कानों का विकार मात्र था। अभ्यास के बाद इनकी उपयोगिता भी खड़ीबोली की तरह ही लोगों की समझ में आई और दुराग्रह समाप्त हुआ।

घ—काव्यकला

शृंगार रस के विरुद्ध प्रतिक्रिया

काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के छः सम्प्रदाय माने गए हैं। रीतिकाल में अलंकार सम्प्रदाय की ही धूम रही। अधिकतर कवियों ने अलंकारों पर या नायिका भेद पर, जो नाट्यशास्त्र का एक मुख्य अंग है, मुक्तक लिखे। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य और रीतिकालीन साहित्य में प्रमुख पार्थक्य यह दिखलाई पड़ता है कि इस युग में अलंकारों के स्थान पर रसों का महत्व स्वीकार किया गया। रीतिकाल में शृंगार का छोड़कर अन्य रसों की विरल अभिव्यक्ति हुई। शृंगार में भी वासनामय संयोग पक्ष ही प्रधान रहा। परन्तु आधुनिक काल में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। केशवराम भट्ट ने अपने नाटक सज्जाद सुम्बुल में 'इश्क' का कड़ा विरोध किया। प्रगतिशीलता हिंदी भाषी क्षेत्र में बंगाल से आई। हिंदी भाषी क्षेत्र का यह भाग जो बिहार कहा जाता है, बंगाल का एक अंग ही था अतः बंगाल की प्रगति का प्रत्येक प्रभाव पहले बिहार पर पड़ता था, अतः बिहार हिंदी भाषी क्षेत्रों में प्रगति के पथ पर पहले अग्रसर हुआ। 'सज्जाद सुम्बुल' में सज्जाद कहता है कि'''' इस बात को खूब याद रखना चाहिये कि जब तक हम लोग बुरी हालत में हैं तब तक इश्क और ऐश को जो रवा समझेगा वह नमकहराम—दगाबाज, खुदगर्ज, नफ्सपरस्त और अपनी माँ हिन्दुस्तान का कपूत बेटा है[1]।' भट्ट जी इश्क की शायरी करने वाले कवियों और पत्र पत्रिकाओं की कड़ी आलोचना करते थे। उन्होंने क्षत्रिय-पत्रिका, जिसमें शृंगारी-काव्य अधिक छपता था, के लिए लिखा था कि 'इसमें शृंगार और विलास की इतनी बदबू है कि हमारी दानिस्त यह छूने के काबिल भी नहीं है[2]।' इस विषय को लेकर बिहारबन्धु और क्षत्रिय पत्रिका में खूब विवाद

१—केशवराम भट्ट : 'सज्जादसुम्बुल (सं० ब्रजभूषण लाल शर्मा, प्रथम बार पृ० ८)

२—केशवराम भट्ट : (क्षत्रिय पत्रिका, सं० १९३८ ख० १ सं० ३ पृ० ५१)

हुआ। क्षत्रिय-पत्रिका में लाल खगबहादुर मल्ल ने इस आरोप का उत्तर देते हुए जो पत्र लिखा था, उससे भी प्रकट होता है कि जाग्रत लोकरुचि शृंगार के विरुद्ध जा रही थी। इस तथ्य को प्राचीन परम्परा के प्रेमी भी समझ रहे थे, परन्तु जन साधारण को एक बारगी उसके प्राचीन अभ्यास से हटाना कठिन समझ कर धीरे धीरे प्रगतिपथ की ओर मुड़ रहे थे। उन्होंने अपने प्रेरित पत्र में लिखा था कि 'मैं भली भांति जानता हूँ कि आप लोग अपने मन में निस्सन्देह यह कहते होंगे कि शृंगार रस की कविता (जो बहुधा मैं छपवाता हूँ) इस पत्रिका की उन्नति के लिए सहायक न होगी, क्योंकि इसमें कोई बात क्षत्रिय वर्ग की भलाई की नहीं है और विशेषकर वह लोग अंगरेजी प्रबन्धानुसार ऐसी पत्रिकाओं को जाति की भलाई का कारण और कविता आदि को निरा पाखण्ड और व्यर्थ समझते हैं, इससे और इसके छपवाने वालों की सच्ची भलाई का बाधक ठहरावेंगे.......'[1] वस्तुतः भारतीय पीड़ित समाज शृंगारी साहित्य सुनने की स्थिति में भी नहीं था। अतः भारतेन्दु युग से ही साहित्य में करुण रस की प्रधानता होने लगी।

करुण-रस की प्रधानताः—युग युग की परिस्थितियाँ भिन्न भिन्न होती थीं। रीति-साहित्य में शृंगार को आदि रस, रसराज आदि कहकर उसका महत्त्व बहुत बढ़ाया गया, परिस्थिति बदलने पर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। भारतीय वाङ्मय में एक ऐसा युग था जब भवभूति ने 'एकोरस. करुणएव' कह कर करुण को ही प्रधान रस माना था। पुनः उसी भावना का प्रतिवर्तन हुआ। हमारे साहित्य की मूल प्रेरणा ही करुणा मानी गई है। वाल्मीकि ऋषि क्रौंच-वध से करुणा विगलित होकर कह उठे—

> 'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वती. समा।
> यत् क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

१६ वीं शती के उत्तरार्द्ध में करुणा की फिर प्रबलता हुई। भारतीय हिंदू-मुसलमान काममोहित होकर अपना सब कुछ भूल गये थे। उसी समय आंग्ल व्यापारियों ने परतन्त्रता के पाश में उन्हें जकड़ दिया, शोषण और उत्पीड़न से वे कराहने लगे। कवि के लिए करुण रस का नया आलम्बन

१—लाल खग बहादुर मल्ल : पत्र' २८ जून १८८१ (क्षत्रिय पत्रिका, भाग १ सं० २)

पीड़ित समाज और राष्ट्र के रूप में मिला। यह पूर्णतया नया आलम्बन था और नई परिस्थितियों से प्रसूत था। हरिश्चन्द्र ने लिखा—

'आवहु सब मिलि रोवहु भाई
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई।'

उन्होंने अपने नाटकों में भी करुण और दुख का महत्व स्वीकार किया तथा कहा था कि यह संसार ही दुखात है, अतः यहाँ दुख और करुणा का स्थान प्रमुख मानना चाहिए।

क्रमशः यह भावना बढ़ती ही गई। कवियों को द्रवित करने के लिए नित नए आलंबन मिलते गए। दीन-भारत पर करुणा करके भारत भारती का कवि पूछता है :

'किस लिए भारत भला यह दीनता है !
विभव जन्मा क्यों भवोदासीनता है ?
कर्मयोगी किसलिए तू दुःखभोगी ?
लक्ष्य तेरा मुक्ति है, स्वाधीनता है।'

एक अनाथ का शब्द-चित्र देखिए। भला किसका हृदय इसे देखकर न पसीजेगा ?

यह पेट उसका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है ?
मानो निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है।

राष्ट्रीय शोक के कारण कवियों का हृदय इतना भर गया था कि थोड़ी सी ठेस लगते ही वह उमड़ पड़ता था। कवि की सहानुभूति जड़ चेतन सभी दुखियों के प्रति समानरूप से करुणा की वर्षा करती है। रूपनारायण पांडेय एक 'दलित कुसुम' के प्रति समवेदना प्रकट करते हुए आँधी से पूछते हैं :

'अहह ! अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से ?
प्रलय-घन-घटा सी छा गई तू कहाँ से ?
पर-दुख-सुख तूने, हा ! न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही, हाय ! यों तोड़ डाला[1]।'

१—कविता कौमुदी, दूसरा भाग, पृ० ३४८-४६।

'वन विहंगम' में एक कपोत और कपोती की पीड़ा का कारुणिक चित्रण किया गया। लोचनप्रसाद पाडेय एक मृगी का दुःख मोचन करने के लिए तड़प उठते हैं। उनकी पीड़ा मुखर होकर इन पंक्तियों में फूट पड़ती है—

'अब क्या करूँ दीन के बन्धु हरे!
किसका मुझे बाकी भरोसा रहा।
पथ है चहुँओर से मेरा घिरा,
गिरा चाहता काठ का वज्र अहा[1]।'

इस युग में इस प्रकार करुणा का महत्व ही सर्वोपरि स्वीकार किया गया। 'कारुण्य भारती' में मैथिलीशरण गुप्त ने स्पष्ट ही लिखा—

करुणा रस के रुदन से मिलता जितना मोद,
होता क्या हास्यादि से उतना कभी विनोद[2]।'

इसी प्रकार साकेत के नवम् सर्ग में कवि करुणा की पवित्रता का महत्व निम्नांकित शब्दों में स्वीकार करता है—

'सखि, गोमुखी गंगा रहे, कुररी मुखी करुणा यहाँ,
गंगा जहाँ से आ रही है जा रही करुणा वहाँ।'

रसों के सम्बन्ध में हरिश्चन्द्र ने ही नवीनता का समावेश आरंभ कर दिया था। उन्होंने ९ रस के अतिरिक्त भक्ति, सख्य, वात्सल्य और आनन्द नामक चार और रस माने थे। परन्तु पुराण-पंथियों ने प्राचीन शास्त्रों की दुहाई देते हुए उनका विरोध किया। लाचार होकर हरिश्चन्द्र को उनका उत्तर देना पड़ा। उनके उत्तर से स्पष्ट आभास मिलता है कि प्रत्येक क्षेत्र में रीति और रूढि के विरुद्ध विद्रोह की भावना कितनी तेजी से प्रविष्ट हो रही थी। उन्होंने पुराण पंथियों की दुहाई का खंडन करते हुए लिखा है—'वाह वाह! रसों का मानना भी वेद के धर्म का मानना है कि जो लिखा है वही माना जाय और इसके अतिरिक्त करे तो पतित होय। रस ऐसी वस्तु है जो अनुभव सिद्ध है। इसके मानने में प्राचीनों की कोई आवश्यकता नहीं यदि अनुभव से आवे मानिये न आवे न मानिये। अब इस स्थान पर चारों रसों का

१—वही पृ० ४१२।

२—मैथिलीशरण गुप्त कारुण्य भारती (सरस्वती—जुलाई १९०९)।

पृथक् पृथक् स्थापन करते हैं[१]।' उक्त पत्र में इतना स्पष्ट है कि नायक-नायिका के वासनामय सयोग-शृंगार की सकुचित सीमा से स्वतत्र सख्य, भक्ति, वात्सल्य और आनन्द रसों को भी माना गया।

शृ गारः—आधुनिक युग में शृ गार का रूप भी बदलने लगा। शृ गार के सयोग सुख या सस्ते विरह की चर्चा कम होने लगी। वासनामय शृ गार के स्थानपर स्वाभाविक और आदर्श प्रेम को मानव हृदय की उदात्त और त्यागमय वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया। प्रेम का स्वस्थ रूप एकान्त-वासी योगी, पथिक, प्रेमपथिक आदि में दिखाई पड़ता है। पीड़ित समाज और मर्यादावादी युगनेताओं के रहते सयोग के वासनामय चित्र साहित्य में खींचे नहीं जा सकते थे। सयोग के जो यत्र-तत्र चित्रण किये गये वे यथासभव सयत हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में उर्मिला का मिलन वर्णन क्या सफाई से टाल दिया है :

'चंचल सी छिटक छूटी उर्मिला।'

अधिकतर वर्णन वियोग के ही किए गए। वियोग के ये वर्णन विप्रलभ शृंगार की कोटि में नहीं प्रत्युत करुणा की कोटि में पहुँचते हैं। 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा' में गुप्तजी ने पाठकों का ध्यान वीर और करुणा के मिलन की ओर आकृष्ट किया था उसका पूरा परिचय जयद्रथवध में मिला। अभिमन्यु की मृत्यु के बाद उत्तरा साकार करुणा हो गई। उसका विलाप अतिशय कारुणिक है। यथा—

'किसका करूँगी गर्व अब मैं भाग्य के विस्तार से ?
किसको रिझाऊँगी अहो ! अब नित्य नव शृगार से ?
हाता यहाँ अब कौन है मेरे हृदय के हाल का ?
सिन्दूर बिन्दु कहाँ चला हा ! आज मेरे भाल का[२]।'

प्रियप्रवास पूर्णतया करुणा का ही काव्य है। उसमें वर्णित वात्सल्य और वियोग शृगार अन्त में करुण बन जाते हैं। जहाँ प्रिय का पुनः

१—हरिश्चन्द्र—प्रेषितपत्र ५ जुलाई १८७२ कवि वचन सुधा पृ० १७८–१७९।

२—मै० श० गुप्त : जयद्रथवध (चौबीसवाँ संस्करण पृ० २६)

मिलन नहीं होता वह विरह शृंगार की कोटि से निकल कर करुणा की शरण हो जाता है। माता यशोदा और विरहिणी गोपिकाओं की मार्मिक दशा के चित्रणों से इस काव्य में स्थल स्थल पर करुणा रस की अच्छी निष्पत्ति हुई है। राधा की विरह व्यथा का एक कारुणिक रुदन देखिये :

> दृग अति अनुरागी श्यामली मूर्ति के हैं
> युग श्रुति सुनना है चाहते चारु ताने।
> प्रियतम मिलने की लालसा भूरि द्वारा
> प्रतिपल अधिकाती चित्त की आतुरी है[1]।'

इस पर भी ब्रजांगना का प्रभाव दिखलाई पड़ता है जिसमें राधा अपना विरह निवेदन कोकिला, यमुना, वंशी आदि से करती हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने 'विरहिणी ब्रजांगना' में राधा के विरह की मार्मिक और करुण व्यंजना की है।

आगे चलकर अंग्रेजी के शोकगीतों के फलस्वरूप भी करुणा का स्रोत पुष्ट हुआ। मृत्यु पर तो शोकगीत लिखे ही गए, प्रत्येक विषादमय विषय या भावना पर दुःख के आँसू बहाये गये। यह वेदनावाद हिन्दी में नया था और पश्चिम से प्रभावित था। शेली के निम्नलिखित विचारों का भी छायावादी कवियों पर अधिक प्रभाव दिखाई देता है :

'हमारे मधुरतम संगीत वे हैं जो विन हृदय के गंभीरतम विचारों की व्यंजना करते हैं[2]।' पंत जी ने इसी स्वर में लिखा :

> वियोगी होगा पहला कवि,
> आह से उपजा होगा गान
> उमड़ कर आँखों से चुपचाप
> बही होगी कविता अनजान।'[3]

१—हरिऔध: प्रियप्रवास, चतुर्थ संस्करण पृ० २२५।

२—'आवर स्वीटेस्ट सांग्स आर दोज़ देट टेल आफ सैडेस्ट थाट्स' पृ० ११७।

३—पंत : 'आँसू से' (आधुनिक कवि पृ० १४)

वस्तुतः इन कवियों को रोने का कारण भर मिलने की देर रहती थी, अन्यथा रुआँसे तो ये बैठे ही रहते थे। प्रसाद जी ने निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा इसी सत्य की ओर संकेत किया है :

'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।'

आँसू इस प्रकार के विरह काव्यों में उत्कृष्ट है। यह कवि के करुणाकलित हृदय की विकल रागिनी है।[1] और इसमें असीम वेदना व्यक्त हुई है। साकेत का भी मुख्य स्रोत करुणा ही है। उर्मिला पर जो करुणा आदि कवि वाल्मीकि नहीं बरसा सके उसे द्विवेदी जी ने देना चाहा और गुप्त जी ने अपने गुरु की इच्छा पूर्ण की। द्विवेदी जी तुलसी बाबा से पूछते हैं :

'आपके इष्टदेव के अनन्य सेवक 'लखण' पर इतनी सख्ती क्यों ? अपने कमण्डलु के करुणावारि का एक भी बूँद आपने उर्मिला के लिए न रक्खा। सारा का सारा कमण्डलु सीता को समर्पण कर दिया। एक ही चौपाई में सीता की दशा का वर्णन कर देते।'[2] इस प्रकार करुणा से प्रेरित होकर ही साकेत काव्य की रचना हुई थी। इसके नवम् सर्ग में अनेक मार्मिक गीत बिखरे पड़े हैं। गुप्त जी की उर्मिला स्वयम् कहती है :

"करुणे ! क्यों रोती है, 'उत्तर' में और अधिक तू रोई
मेरी विभूति है जो, उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई।"

वीर—यह तो हुई युग की मुख्य प्रवृत्ति सम्बन्धी चर्चा। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि करुण रस के अतिरिक्त अन्य रस उपेक्षित रहे। यदि करुण रस ही सब कुछ हो जाता तो फिर वह भी एक रीति ही हो जाती। इस युग की यही तो विशेषता है कि किसी एक ही रस या अलंकार की ओर सब कवि नहीं ढुलक पड़े। अन्य रसों पर भी अच्छी कविताएँ की गई।

१—'इस करुणाकलित हृदय में क्यों विकल रागनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती' ? (आंसू)

२—भुजंगभूषण भट्टाचार्य: कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता, सरस्वती

द्विवेदी युग मे करुणा और शृंगार के अतिरिक्त वीर रस और उसके बाद हास्य (व्यंग्य) का सुन्दर विधान दिखाई पड़ता है। इन रसों के लिए भी युग ने नये नये आलम्बन उपस्थित किये गये। वीररस के प्राचीन आलम्बन स्वरूप युद्ध वीरो, दानवीरो, धर्मवीरों और दयावीरों की चर्चा तो साहित्य में होती ही रही, आधुनिक युग में नये ढंग के वीर भी दिखाई पडे जो राष्ट्र के लिए सत्याग्रह करने वाले, सत्य पर जीवन दान करने वाले कर्मवीर थे। इन पर अनेक सुन्दर कवितायें की गईं। कर्नल टाड के राजस्थान और प्रतिवर्तनवादी प्रवृत्ति के कारण राजपूत वीरो के प्रति आकर्षण बढ गया था। उनके अद्भुत वीरत्व का खूब वर्णन हुआ। गुप्त जी की रंग में भग, विकटभट, लाला भगवानदीन की वीरपंचरत्न आदि ऐसी ही रचनायें हैं। निम्नलिखित पक्तियों में वीरत्व साकार हो उठा है–

> "फराते अधर दोनों हैं भुजदण्ड फड़कते।
> उत्साह से छाती के किवाडे हैं धड़कते।
> नथने हैं बने धौंकनी हैं दांत कड़कते।
> पहनी हुई चोली के हैं बन्द तड़कते।"

वस्तुतः ऐतिहासिक और पौराणिक चरित्रों की वीरता का चित्रण द्विवेदी युगीन काव्य की विशेषता है। सन् १९१९ के आसपास गांधी का प्रभाव भी साहित्य पर पड़ने लगा। उनकी अहिंसा का कीर्तन किया गया। सत्याग्रही वीरो की विरुदावलि बखानी गई। एक सत्याग्रही वीर की निम्नाङ्कित वाणी में उत्साह साकार होकर बोल उठा है :

> "यदि धर्म रक्षा इष्ट है तो मान पर मरते रहो,
> सहते रहो, सकट सहो पर देश हुए हरते रहो।"

हास्य (व्यग्य):—देश की दुर्दशा के कारणस्वरूप पुरानी लकीर के फकीरों, नई सभ्यता और फैशन के गुलामों, कंजूसों और सूमों को व्यंग्य तथा हास्य का आलंबन बनाया गया। यह हास्य रस शुद्ध हास न होकर व्यंग्य से अनुप्राणित था। उनका उद्देश्य केवल पाठकों को हँसाना नहीं बल्कि उनकी कमजोरियों पर हँसना और पाठकों को उधर से विरत करना था। व्यंग्यमय हास के उदाहरण हरिश्चन्द्र काल से लेकर द्विवेदीयुग तक की कविता में सर्वत्र भरे पड़े हैं। हरिश्चन्द्रकालीन व्यंग्यप्रधान-प्रहसन्न्दन्द

मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, देवकीनन्दन तिवारी के व्यंग्यों की चर्चा यथास्थल की जा चुकी है। इन लोगों के बाद व्यंग्य न केवल सामाजिक कुरीतियों पर बल्कि साहित्यिक संकीर्णताओं पर भी लिखे जाने लगे। रीतिकालीन नखशिख, नायक नायिका, शृंगार, कवि-समय-सिद्धि आदि को व्यंग्य का आलम्बन बनाया गया। पीछे बालमुकुन्द गुप्त के व्यंग्य की चर्चा की जा चुकी है। इस प्रकार व्यंग्य का क्षेत्र समाज से लेकर साहित्य तक विस्तृत हो गया था। द्विवेदी युग के प्रमुख व्यंग्यकार 'शंकर' गर्भरंडा रहस्य में लिखते हैं।

"कूद पड़े गुरुदेव चेलियों के शुभ दल में।
सदुपदेश का सार भरा फागुन के फल में
अड़ के अंग उघार पुष्पप्रण के पट खोले।
सबके जन्म सुधार कृपा कर मुझपै बोले॥[1]"

इसके अतिरिक्त अन्य रसों पर भी कविताएँ की गईं।

'वात्सल्य रस' की ओर अयोध्यासिंह उपाध्याय ने सूर और तुलसी के बाद एक बार पुनः पाठकों को आकृष्ट किया। 'प्रियप्रवास' में यशोदा का कृष्ण के प्रति अलौकिक स्नेह सहज ही पाठकों को अपनी ओर खींचता है—

"मुझ विजित-जरा का एक आधार जो है
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा॥
धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला
सहज जलद की सी कांति वाला कहाँ है ?

यह अंश यशोदा विलाप से उद्धृत किया गया है। परन्तु वात्सल्य रस के अंतर्गत ही माना जायगा। यदि शृंगार के संयोग और वियोग दो पक्ष हो सकते हैं तो वात्सल्य के भी। केवल संबंध भेद के कारण ही कुछ विद्वान् इसीलिये वात्सल्य को शृंगार से भिन्न रूप नहीं देना चाहते। यद्यपि शृंगार और वात्सल्य में केवल आलम्बन का ही अन्तर नहीं है बल्कि स्थायीभाव ही भिन्न प्रकार का है। कुछ हो, इस विषय पर बहुत मतभेद है, फिर भी कई आचार्य वात्सल्य को एक अलग रस मानते हैं। हरिऔध जी वात्सल्य रस को स्वतन्त्र रस मानते थे। उन्होंने द्विवेदी युग में वात्सल्य रस की उन्नति का

१—कविता कौमुदी पृ० १०२।

कारण बताते हुए लिखा है कि "आजकल बालसाहित्य के प्रचार के साथ वात्सल्य रस की विभिन्न प्रकार की सरस रचनाओं का प्राचुर्य है। ज्ञात होता है, कुछ दिनों में शृंगार, हास्य, वीर आदि कतिपय बड़े बड़े रसों को छोड़कर इस विषय में भी वात्सल्य रस अन्य साधारण रसों से आगे बढ़ जावेगा।"[1] इस प्रकार वात्सल्य को भी विकसित होने का अवसर नवीन वातावरण के द्वारा ही मिला। पहले सरस्वती के प्रत्येक स्तंभ में 'बालकविनोद' के अन्तर्गत बालोपयोगी कवितायें लिखी जाती रहीं। इनमें से 'कोयल' कविता की कुछ पंक्तियाँ पीछे उद्धृत भी की जा चुकी हैं। इनके द्वारा बालकों की ओर तथा वात्सल्य की ओर भी कवियों का ध्यान गया। इन मुख्य रसों के अलावा भयानक और वीभत्स तथा शांत पर भी पद्य रचनायें हुईं। द्विवेदी युग में सयोग शृंगार पर कम कवितायें लिखी जाने का मूल कारण यह है कि वे लोग काव्य को मनोरंजन का नहीं लोकरंजन का साधन मानते थे। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने लेख 'कविता किस ढंग की हो' में लिखा है कि कवि को सामायिक विषयों पर कविता लिखनी चाहिये। बुराइयों के प्रति पाठकों के मन में घृणा उत्पन्न करना चाहिए और अच्छाइयों के प्रति अनुराग। 'हमारे कवियों को सर्वदा इसका ध्यान रखना चाहिए और अपनी कविता में यह विरोध और अनुरोध बराबर दिखलाना चाहिए।' सारांश यह कि 'केवल मनोरंजन न कवि कर्म होना चाहिये, उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।' यद्यपि गुप्त जी ने कहा था यह कोरा उपदेश नहीं प्रत्युत कान्तासम्मति की तरह मधुर भी होना चाहिए, परन्तु भाषा की असमर्थता, और कवियों की अशक्तता के कारण आरम्भ में काव्यकला, रस-अभिव्यंजना आदि का अभाव रहा। काव्य अधिकतर उपदेशात्मक और मर्यादावादी रहा। अतः शृंगार का परिष्कृत और मर्यादित रूप ही काव्य में स्थान पा सका।

अलंकार.—आरम्भिक काल में अलंकारों का भी सफल निर्वाह नहीं हो पाया परन्तु द्विवेदी जी क्षेमेन्द्र की तरह चमत्कार को काव्य का मुख्य अंग मानते थे। यह चमत्कार अलंकारों पर निर्भर था। अलंकारों को काव्य

१—हरिऔध—वात्सल्य 'कोशोत्सव स्मारक ग्रन्थ पृ० ४५५।
(ना० प्र० सभा)

का मुख्य अंग माननेवाले कवियों में प्रेमघन, हरिऔध, शंकर और रामचरित उपाध्याय हैं। उन्होंने लिखा है 'स्तुति से गुण से, रस से अलंकृति से कविता हो या वनिता दोनों सबको लुभाती हैं।' अतः अलंकार की प्रधानता इन लोगों के काव्य में रही। अधिकतर यमक, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक आदि का व्यवहार किया। उदाहरणार्थ 'शंकर' की एक कविता देखियेः—

'कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है
कि श्याम घनमंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है
कि राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है॥
शंकर कसौटी पर कंचन की लीक है
कि तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है॥
काली पाटियों के बीच मोहिनी की मांग है
कि ढाल पर खांडा कामदेव का दुधारा है[1] ॥'

कलाकला की दृष्टि से द्विवेदी युग और छायावादी युग में स्पष्ट अन्तर है। द्विवेदी युग में, जब भाषा अशक्त थी इतना ही संभव था कि ठीक ठीक कोई बात सीधे सादे ढग पर कह दी जाय। अलकारों का सफल निर्वाह ही बहुत था परन्तु छायावादी युग में व्यक्तिगत-कला का विकास हुआ। द्विवेदी युग के कवि प्राचीन आचार्यों के निर्धारित मार्ग पर चल कर कुछ रसों का परिपाक या अलकारों का सफल निर्वाह कर देते थे, परन्तु छायावादी कवियों ने प्राचीन शास्त्रों के विरुद्ध कला का नवीन आदर्श अपनाया जिसमें व्यक्तिगत कला प्रदर्शन के लिये पूरा अवकाश था। इस नई कला का विकास बहुत कुछ पश्चिमी आदर्शों पर हुआ। द्विवेदी युग की आदर्शवादी कविता के प्रतिकूल मानसिक शृंगार की अभिव्यक्ति हुई प्रकृति को स्त्री रूप में देखा गया तथा उसके एन्द्रिक चित्र भी खींचे गए। भाषा की अद्भुत शक्ति बढाई गई। शब्दों की तीन शक्तियों में अभिधा का प्रयोग काव्य में बहुत कम हुआ। लक्षणा और व्यंजकता के प्रयोग बढे। तीन शक्तियों के अलावा शब्दों में नवीन शक्ति भरने का कार्य भी इन कवियों ने किया। उनमें चित्रात्मकता,

१—कविता कौमुदी, पृ० १११।

नादात्मकता, ध्वनिव्यंजना की शक्ति भरी गई। उनकी आत्मा का भाव समझ कर उनको काव्य में यथोचित स्थान दिया गया। विभिन्न शब्दों का सूक्ष्म अन्तर समझा गया। भाषा की ऐसी शक्ति बढ़ी जो अभूतपूर्व थी। इसका उदाहरण पीछे दिया जा चुका है।

अलंकारों में विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण का चलन अधिक बढ़ा। विशेषण-विपर्यय में पंत और प्रसाद जी ने विशेषता दिखाई। आप से विशेषण विपर्यय का एक उदाहरण लीजिये :

'शीतल ज्वाला जलती है ईंधन होता दृग जल का,
यह व्यर्थ श्वास चल चल कर करती है काम अनल का।

मूर्त के लिए अमूर्त का विधान और अमूर्त का मानवीकरण भी इस कला की विशेषता है। मूर्त के लिए अमूर्त विधान का एक उदाहरण देखिये :

'गिरिवर के उर से उठ उठ कर
उच्चाकाक्षाओं से तरुवर
हैं झांक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल कुछ चिन्तापर।'[1]

अमूर्त का मानवीकरण (पर्सानिफिकेशन) छायावादी कविता में बहुत किया गया। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी कविता में यह योजना बिल्कुल नई है, हाँ, इसके प्रयोग की पद्धति अवश्य नई है। इसके पूर्व लाक्षणिक ढंग पर घनानन्द ने इसका प्रयोग किया था। हमारे दैनिक जीवन के बोलचाल में भी मानवीकरण की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। बराबर यह कहते सुना जाता है कि 'अभी तो काम करने के दिन बैठे हैं।' 'बात मन में बैठ गई,' 'किस्मत सो गई,' नसीब जग गई'। इन सभी प्रयोगों के मूल में मानवस्वरूप और उसके व्यापारों का आरोप झलकता है। इसी प्रकार प्रसाद जी कविता में लिखते हैं—

'अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना, भींगी पलकों का लगना॥'

यह मानवीकरण केवल मुहाविरों और उक्तियों का ही चमत्कार है।

१—पंत : पर्वत प्रदेश में पावस : आधुनिक कवि पृ० १२।

इससे व्यजना में प्रभाव आ जाता है। उक्त पद्य मे असगति अलकार का उत्तम निर्वाह भी द्रष्टव्य है। इसी प्रकार पुराने अलकारों का प्रयोग किया जाता रहा। उपमा, रूपक, सदेह, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग काव्य में सदैव से होता रहा है और होता रहेगा। इस काल मे कुछ बिल्कुल ही नवीन उपमायें भी ढूँढी गईं। ये उपमायें अधिकतर प्रकृति से ली गईं। दूसरी ओर प्रकृति वर्णन में उसके लिये मानव जीवन से उपमायें ढूँढ कर दी गईं। एक उदाहरण लीजिये—

> "अब हुआ सान्ध्य-स्वर्णाभ लीन,
> सब वर्णवस्तु से विश्वहीन।
> गगा के चल-जल में निर्मल,
> कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
> है मूंद चुका अपने मृदु दल।
> लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड गई नील
> ज्यों अधरों पर
> अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।[1]"

शब्दालकारों मे अनुप्रास का प्रयोग किया गया, परन्तु यहा भी थोड़ी नवीनता के साथ। शब्द मैत्री के बदले उससे अधिक सूक्ष्म स्वर-मैत्री और वर्ण मैत्री के आधार पर अनुप्रास का अनुरणन अर्जित किया गया। इसका उदाहरण तुक के सम्बन्ध में निराला की 'जुही की कली' से दिया जा चुका है।

विविधः-भाषा के तीन गुणो का क्रमिक विकास भाषा के सबध मे दिखाया जा चुका है। यहा सक्षेप में इतना और कहना है कि आरम्भ म भाषा का मुख्य गुण 'प्रसाद' ही माना गया। खड़ी बोली कविता सबलोग समझें, जनमन तक कवि के विचारों को उनकी वाणी पहुँचा दे, यही उद्देश्य रहा।

रीतिकालीन वक्रोक्तियों के स्थान पर स्वभावोक्ति को आधुनिक कविता में प्रमुख स्थान मिला। ऐसा सदैव से ही आरम्भ में होता रहा है। उस समय कला जीवन की अनुवर्तिनी मानी गई थी। अतः उसका पक्ष गौण हो गया

1-पत : एक तारा (आधुनिक कवि, पृ० ५१)

था। रीति-रूढि से मुक्त विकासोन्मुख समाज में कला जीवन की अनुगामिनी ही होती है। यही द्विवेदी युग तक हुआ भी। कवि पंत ने ठीक ही लिखा था कि 'नवीन आदर्श और विचार अपनी उपयोगिता के कारण संगीतमय और अलङ्कृत होते हैं। क्योंकि इनका रूपचित्र अभी स्वतः होता है और उनके रस का स्वाद नवीन।''इसीसे उनकी अभिव्यंजना से अधिक उनका भावतत्व काव्य गौरव रखता है।''संक्रान्ति युग की वाणी के विचार ही उसके अलंकार हैं[1]।' यही अवस्था द्विवेदी युग के काव्य साहित्य की थी। वह अपनी दिशा नवीनता, विषय-नवीनता के कारण उपयोगी और आकर्षक रहा। स्वभावोक्ति ही उसका गुण था। प्रासादिकता ही काव्य भाषा के लिए अपेक्षित थी।

परन्तु छायावादी युग में वह स्थिति बदल गई। उस समय अभिव्यंजना की कला मुख्य और भावना तथा उच्च आदर्शों की उपयोगिता गौण हो गई। 'वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया।' पंत का यह कथन छायावादी काव्य के सम्बन्ध में अवश्य ही सत्य से ओतप्रोत है। वह नए युग की सामाजिक विचारधारा को अपने अन्तर्गत स्थान नहीं दे सका। छायावादी काव्य रहस्यात्मक, भावप्रधान और वैयक्तिक हो गया, तथा केवल टेकनीक और आवरण मात्र रह गया।' इस प्रकार की क्रिया और प्रतिक्रिया काव्य इतिहास में बराबर चलती ही है और चलती रहेगी परन्तु स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन ने हिन्दी कविता को एकबार जिस संकीर्ण सीमा से उन्मुक्त कर स्वच्छन्द बनाया था वह बराबर अक्षुण्ण है।

१—आधुनिक कवि, पृ० १०।

उपसंहार

बोलचाल की लोकभाषा तथा काव्यभाषा में ऐक्य स्थापित कर, काव्य का सामान्य जनता और उसकी भावनाओं से सम्बन्ध जोड़ना ही खड़ी बोली आन्दोलन का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है। जब लोकभाषा और काव्य भाषा का ऐसा सुखद संयोग होता है तभी साहित्य जन-जीवन से प्राणशक्ति प्राप्त कर सम्यक् विकसित होता है। द्विवेदी युग में शतियों के बाद हिन्दी साहित्य को यह सुअवसर खड़ी बोली आन्दोलन के फलस्वरूप प्राप्त हुआ। अतः गद्य के विविध रूपों के साथ ही काव्य में मुक्तक और अनेक प्रकार के गीतों, आख्यानों से लेकर खंडकाव्य तथा प्रबन्धों का प्रणयन हुआ।

काव्यभाषा और लोकभाषा की एकता का प्रयत्न समय समय पर युग प्रवर्तक साहित्यिकों द्वारा हुआ करता है। जिनके पास जनता के नाम कुछ संदेश होता है, जो साहित्य को समाज का साथी तथा लोकरंजन का साधन मानते हैं, वे साहित्य के लिए लोकभाषा का माध्यम आवश्यक समझते हैं। कबीर ने संस्कृत को कूप जल कहकर बहते नीर की भांति लोकभाषा का समर्थन केवल इसीलिए किया था कि उनके पास जनता के लिए संदेश था। यही स्थिति भक्त कवियों की भी थी। आधुनिक युग में सामाजिक परिस्थितियों के बदलने पर पुनः साहित्य समाज से संबद्ध हुआ। साहित्यिक साधारण मनुष्यों के सुख दुःख से अभिभूत हुए, उनका काव्य सामान्य जनता के दुख सुख का साथी हुआ, तब पुनः लोक भाषा को काव्य भाषा बनाने का प्रयत्न किया गया। श्रीधर पाठक के समय में जो भाषा संबंधी आन्दोलन हुआ वही अपभ्रंश साहित्य में देवसेन के समय में हो चुका था।

प्रस्तुत आन्दोलन ने हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण आधुनिक काल को प्रभावित किया है। खड़ीबोली में पद्य रचना की भावना बीज रूप में सन् १८७२ से ही आरम्भ हुई। उसी समय हरिश्चन्द्र ने एक लेख में व्यक्त किया था कि शीघ्र ही खड़ी बोली काव्य की अवश्य उन्नति होगी। उन्होंने उसके लिए स्वयम् कुछ प्रयत्न भी किया। यद्यपि उनके साथियों ने कई कारणों से आरम्भ में आन्दोलन का विरोध किया परन्तु अधिकांश कवियों ने

खड़ी बोली में कुछ न कुछ अवश्य पद्य रचना भी की। इन आरम्भिक रचनाओं की नींव पर ही 'आन्दोलन' की भित्ति खड़ी हो सकी। यह आन्दोलन की आरम्भिक भूमिका थी।

सन् १८८५ ई० में हरिश्चन्द्र का देहान्त हुआ। १८८६ ई० में 'एकान्तवासी योगी' प्रकाशित हुआ और सन् १८८७ ई० 'खड़ी बोली का पद्य'। यहीं से आन्दोलन का प्रथम काल आरम्भ होता है। इस काल में बड़ी अराजकता रही। किसी प्रबल नेता के अभाव में साहित्यिक क्षेत्र में सर्वत्र अव्यवस्था छायी रही। नाना प्रकार के मतवाद और विवाद उठते रहे। परन्तु कोई विवाद किसी अन्तिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सका। यही स्थिति खड़ी बोली आन्दोलन के प्रथम उत्थान की भी इस काल में हुई। राधाचरण गोस्वामी ने कई प्रमुख साहित्यिकों को पंच मानकर इस विवाद का निपटारा कराना चाहा था परन्तु किसी ने किसी की कुछ न सुनी। समय के प्रवाह में स्वभावतः खड़ी बोली आगे बढ़ती गयी। यह स्थिति सन् १६०० ई० तक बनी रही।

सन् १६०० ई० मे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी क्षेत्र मे आये और सरस्वती के सम्पादक के रूप में धीरे धीरे वे अपने युग के अधिनायक हो गये। सन् १९२० तक के साहित्य की सम्पूर्ण गतिविधियों पर उनका अंकुश रहा। यह दो दशकों का काल खड़ी-बोली आन्दोलन का द्वितीय काल है जिसमें खड़ी-बोली ने काव्यभाषा के रूप में अपनी सम्पूर्ण अवस्थायें पार कीं और यौवन की देहली पर चरण निक्षेप किया।

सन् १६२० के बाद छायावादी कवियों की छाया में खड़ी-बोली की अभूतपूर्व उन्नति हुई और सम्पूर्ण विवाद समाप्त हो गया। ब्रजभाषा के समर्थकों के पास ऐसा कोई आरोप नहीं था जिसका प्रतिवाद केवल सैद्धांतिक ढंग से ही नहीं बल्कि व्यावहारिक रूप में भी न कर दिया गया हो। इतना ही नहीं, अब तो स्थिति यह आ गई थी कि ब्रजभाषा पर ही खड़ी बोली की ओर से प्रबल आक्रमण होने लगा था और अधिकांश साहित्यिक खड़ी बोली में सुंदर कविताएं करने लगे थे तथा ब्रजभाषा की परंपराविहित कविता की कटु आलोचना करने लगे थे। स्थिति इतनी विकट हो गई कि वयोवृद्ध साहित्यिकों को ब्रजभाषा की रक्षा के लिये चिंतित होना पड़ा और बहुत समझाने-बुझाने के बाद धीरे धीरे विवाद शांत हुआ।

वैसे तो साहित्य में किसी न किसी रूप में आन्दोलन चलता ही रहता है। छायावाद जब केवल 'टेक्नीक' का आवरण मात्र रह गया, साधारण धरातल को छोड़ कर जब वह कवि कल्पित कुञ्ज में विश्राम करने लगा तो उसके विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई। छायावाद के अग्रदूत कवि पंत ने स्वयं लिखा—

जन मन में मेरे वहन कर सको तुम विचार।
वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिए अलंकार॥

इसी प्रकार छायावाद भी द्विवेदी युग की अतिशय गद्यात्मकता के प्रतिवाद स्वरूप ही उपस्थित हुआ था। भाषा की दृष्टि से गद्य और पद्य में कुछ न कुछ अन्तर तो रहता ही है। गद्य पद्य की भाषा में एकता का अर्थ अनुचित सीमा तक नहीं खींचा जाना चाहिए। जिस प्रकार उपयोगी साहित्य और काव्य साहित्य की मूलप्रेरणा और उनकी प्रकृति भिन्न है उसी प्रकार उनकी अभिव्यक्ति और उनका माध्यम भी भिन्न भिन्न स्वरूप का होता है। राजनीति में हिन्दुस्तानी का आंदोलन कार बार में और दैनिक बोलचाल में भले फलेफूले परन्तु साहित्य में वह सफल हो सकेगा इसमें बहुत बड़ी शंका है। लोक संस्कृति अपने अनुकूल भाषा का स्वतः विकास कर लेती है। अतिवादी परिस्थितियों से हटाकर सामान्य एवं स्वाभाविक धरातल पर ले आने के लिए साहित्य में इस तरह की क्रांति होती रहती है। परंतु खड़ी बोली आंदोलन उसी दिन समाप्त हो गया जिस दिन कवि पंत अपनी संपूर्ण अभिव्यंजना शक्ति के साथ खड़ी बोली में अपनी भावनाओं को सजा कर विरोधियों को निरुत्तर करने के लिये काव्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। अतः आंदोलन की परिधि को सन् १९२० के आगे नहीं खींचा गया है। आंदोलन के मुख्य प्रतिपाद्य की उपलब्धि आचार्य द्विवेदी के नेतृत्व और कवि पंत की कविताओं द्वारा संपूर्ण हो गई।

खड़ी बोली के प्रचार कार्य में नागरीप्रचारिणी और साहित्य सम्मेलन के अतिरिक्त सर्वाधिक योग देने वाली संस्था 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' है। महात्मा गान्धी के प्रेरणादायी नेतृत्व से भी इस संस्था ने भी सुदूर दक्षिण प्रदेश में हिन्दी प्रचार में स्तुत्य योग दिया।

———

परिशिष्ट (क)

(१) श्री राधाचरण गोस्वामी का पत्र—

'हिन्दोस्थान ता: २१ नोवेम्बर सन १८८७ ई०

श्रीयुत हिन्दोस्थान सम्पादकेषु

खड़ी बोली का पद्य।

(बाबू अयोध्याप्रसाद लिखित)

आज कल हमारे कई भाइयों ने इस बात का आन्दोलन आरम्भ किया है कि जैसी हिन्दी में गद्य लिखा जाता है, वैसी हिन्दी में पद्य भी लिखा जाया करे। वास्तव में भाषा के दो ही स्वरूप हैं, गद्य और पद्य। जब कि हिन्दी गद्य की इतनी उन्नति हुई है तब हिन्दी पद्य की भी उन्नति नहीं तो कुछ तो होनी चाहिये। इस मत के पोषण करने वालों से हमारी एक प्रार्थना है, वह यह कि हमारी वर्तमान हिंदी जो है, वह ब्रजभाषा, कान्यकुब्जी, शौरसेनी, बैसवाड़ा, बिहारा, अन्तर्वेदी, बुन्देलखंडा, आदि कई भाषाओं के शब्दों से बनी है। थोड़े दिन पहिले हिन्दी का कोई विशुद्ध रूप न था, अब इसको एक स्वतंत्र भाषा भी कह सकते हैं पर वस्तुतः ब्रजभाषा आदि से इसका भेद नहीं। अब इस प्रकार की भाषा में छन्द रचना करने में कई आपत्ति हैं। प्रथम तो भाषा के कवित्त सवैया आदि छन्दों में ऐसी भाषा का निर्वाह नहीं हो सका और यदि किया भी जाता है तो बहुत भद्दा मालूम होता है। तब भाषा के प्रसिद्ध छन्द छोड़ कर उर्दू के बैत शेर गजल आदि का अनुकरण करना पड़ता है पर फारसी शब्दों के होने से उसमें भी साहित्य नहीं आता फिर जब काव्य में हृदयग्राही गुण नहीं हुआ तो ऐसे काव्य की रचना ही व्यर्थ है। दूसरा यह कि चन्द के समय से बाबू हरिश्चन्द्र तक जो कविता हुई है वह सब ब्रज भाषा में हुई और सब पण्डितों ने संस्कृत के अनन्तर 'भाषा' शब्द से इसी का व्यवहार किया। इसके साहित्य की जैसी उन्नति है, संस्कृत के बिना और किसी भाषा के साहित्य की उतनी उन्नति नहीं, और सिवाय क्रिया पदों के हिन्दी से इसका भेद भी नहीं, तब इतने

बड़े अमूल्य रत्न भाण्डार को छोड़कर नये कंकर पत्थर चुनना हिंदी के लिये कुछ सौभाग्य की बात नहीं, बरन इस ब्रज भाषा के भण्डार को हिंदी से निकाल देने से फिर हिंदी में क्या गौरव की सामग्री रह जायगी, पृथ्वीराज रायसा, सूर सागर, तुलसीकृत रामायण, बिहारी सतसई, पद्माकर, देव, आनन्द घन की अमृतमयी कविता को तिलाञ्जलि दे दीजिये, फिर क्या हजार वर्ष में भी इतनी हिंदी कविता आप इकट्ठी कर सकेंगे, तीसरा हमारी कविता की भाषा अभी मरी नहीं है, जीती है, तब फिर इसमें क्यों न कविता की जाय, चौथा " संस्कृत नाटकों में साहित्य के लालित्य के लिये संस्कृत, प्राकृत, पैशाची आदि कई भाषाओं का व्यवहार होता था फिर हम भी कई भाषा व्यवहार करें तो क्या चोरी है। पांचवा" "इस समय में हमारे परम आतुर आर्य समाजी और मिशनरी आदि भी ने भाषा साहित्य की रीति और अलंकार आदि बिना जाने कविता लिखने का आरम्भ करके अपने हास्य के सिवाय काव्य की भी उलटे छुरे से खूब हजामत का है और इस पिशाची कविता से अपने समाज का भी खूब मुख नीचा किया। बस यह खड़ी बोली की कविता भी पिशाची नहीं तो डाकिनी अवश्य कवि समाज में मानी जायगी। इत्यादि कई कारणों से हम खड़ी बोली के पद्य के विरोधी हैं, हमारे ग्रंथकार महाशय ने जो इसके उदाहरण में कविता दी है, वह सर्वांश में विशुद्ध नहीं है, जिससे वह आदर्श के योग्य नहीं हो सकती। हाँ यदि गद्य और कविता की हिंदी में कुछ अन्तर है तो इतना ही कि एक प्राचीन भाषा, और एक नवीन भाषा। इस दो तरह की भाषा परिपाटी रहने से हिंदी का गौरव है, लाघव नहीं, तो ऐसी कविता के प्रयासी यदि भाषा के झगड़े में न पड़करके एक काम करें तो उत्तम हो। हमारी भाषा में जो कविता है वह सब पुराने ढंग की है, हमारे नवीन कविता प्रिय नवीन समय के अनुकूल नवीन नवीन भावों को लेकर नवीन नवीन विषयों पर कविता करें और यूरोप के विशद साहित्य का भाषा में अनुवाद करें तो परम उपकार हो।

'राधाचरण गोस्वामी'

श्री श्रीधर पाठक का पत्र,

'हिन्दुस्तान ता० २० दिसम्बर सन् १८८७ ई०,

'खड़ी हिन्दी में पत्र'

श्रीयुत् हिन्दोस्थान सम्पादक योग्य

महाशय,

११ नवम्बर के हिन्दोस्थान में एक पत्र देखने मे आया जिसमें राधाचरण गोस्वामी ने यह दिखलाया है कि खड़ीबोली में पद्य लिखना सम्मत नहीं है। क्योंकि 'उसमें कई आपत्ति हैं'...

१ प्रथम यह कि कवित्त सवैया आदि छन्दों में खड़ी भाषा का निर्वाह नहीं हो सक्ता।

२ चन्द के समय से हरिश्चन्द्र तक सब कविता ब्रज भाषा ही में हुई है और उसका साहित्य इतना उन्नत और एक ऐसा अमूल्य रत्न भाण्डार है कि उसे छोड़कर नये ककर पत्थर चुनना हिन्दी के लिये कुछ सौभाग्य की बात नहीं।

३ कविता की भाषा जिससे गोस्वामी जी का तात्पर्य ब्रज भाषा से प्रतीत होता है–जिसमें कि शौरसेनी इत्या० अनेकों प्रांतिक भाषायें सम्मिलित हैं—अभी मरी नहीं है।

४ आर्यसमाजी, मिशनरी इत्यादिकों ने भाषा साहित्य की रीति और अलकार बिना जाने कविता लिख अपना हास्य और काव्य की अप्रतिष्ठा कराई और अपनी पिशाची कविता से अपने समाज का भी मुँह नीचा किया।

और अन्त को खड़ी बोली की कविता को भी 'पिशाची', 'डाकिनी' बना पत्र समाप्त किया।

आजकल दुर्वाक्य और असंगत असभ्य वचनों का वर्ताव, हिन्दी समाचार पत्रों में, विशेष कर प्रेरित पत्रों में इस बहुतायत से देखने में आता है और दिन २ इतना बढ़ता जाता है कि आश्चर्य नहीं थोड़े ही दिनो में इस भाषा के अलकारों में गणना पा जाय और नागरी की सुंदरता का एक अंग हो जाय, पर हमारी समझ में ऐसे वाक्य व्यवहार से केवल हिंदी की

गौरव हानि है, और जितना शीघ्र इसका प्रचार छोड़ दिया जाय उतना ही इस भाषा की प्रतिष्ठा के लिये उत्तम है। हमें विशेष खेद इस बात का है कि प० राधाचरण गोस्वामी सरीखे हिन्दी वेत्ता भी इस अनुचित परिपाटी का अनुसरण करते हैं। और हिन्दी पत्र सरीखे गौरवयुक्त विषय पर अपने लेख को कुवाक्या से कुत्सित करने में सकोच नहीं खाते। अस्तु यह विषय हमारे पत्र के मुख्य विषय से भिन्न और स्वतन्त्र है, इसपर विशेष कहना स्थान से बाहर है। यहाँ पर हम केवल ऊपर दिखाई हुई 'आपत्तियों' पर विचार करते हैं जिनपर गोस्वामी का उद्देश्य आश्रित है, पाठक गण सख्या के अनुसार अनुरोध कर लें।

१ प्रथम तो यह आवश्यक नहीं है कि जिन छन्दों में ब्रज भाषा की कविता की जाती है वे ही पद्य खड़ी बोली के पद्य में काम में लाये जायँ ·· घनाक्षरी, सवैया इत्यादि के अतिरिक्त अनेका छन्द ऐसे हैं कि जिसमें खड़ी कविता बिना कठिनाई और बड़ी सुघराई के साथ आसक्ती है। फिर गोस्वामी जी ने कैसे निश्चय किया कि कवित्त इत्यादि में ख० बो० व्यवहृत नहीं हो सक्ती। कभी ख० बो० में कवित्त लिखने पर श्रम भी किया है। यदि आवश्यकता समझी जायगी, प्राय. प्रत्येक छन्द इस भाषा में दिखला दिया जावगा।

२ गोस्वामी जी के अनुसार चन्द से हरिचन्द्र तक हिन्दी की सब कविता ब्रज भाषा ही म यदि हुई है तो यह किस लिये अवश्य है कि इससे आगे भी अब सब कविता उसी बोली में होवे। हमारा मत है कि दोनों में हो, ब्रजभाषा में भी और खड़ी बोली साधु भाषा में भी वरच खड़ी बोली में कई कारणों से कविता की विशेष आवश्यकता है। सबसे प्रबल कारण यह है कि उस हिन्दी के समझने वाले जिसे कि ब्रजभाषा कहते हैं अधिकतर भारतवर्ष के उन्हीं प्रान्तों में हैं जहाँ के कुछ २ शब्द प्रचलित पत्र भाषा में बर्ताव म आते हैं, वह प्रान्तिक शब्द-समाज गोस्वामीजी ही के अनुसार यह है।

१—ठेठ ब्रज की बोली।

२—कान्यकुब्जी-कन्नौज प्रात की बोली।

३—शौरसेनी ··यह ब्रज की ठेठ बोली ही का नाम प्रतीत होता है। शौरसेन शायद शूरसेन के राज्य का नाम था जो किसी समय में मथुरा का

राजा था। कोई शौरसेनी से भदावरी लेते हैं...परन्तु इस श्लोक के अनुसार भी शौरसेन से व्रजबोली प्रतीत होती है। संस्कृतं प्राकृतश्चैव शौरसेनश्च मागधम्, पारसीकमपभ्रन्शभाषाया लक्षणानि षट्।

४—बैसवाड़ी...अवध के आग्नेय और दक्षिण भाग की बोली।

५—बिहारी...मगध की भाषा।

६—अन्तर्वेदी...गंगा यमुना के बीच की।

७—बुन्देल खंडी।

और इन सब प्रान्तिक बोलियों के साथ फारसी अरबी तुर्की के शब्दों का सम्पर्क है, यह भी न भूलना चाहिये।

अब देखना चाहिये कि इन ऊपर लिखे हुये प्रान्तों का विस्तार अधिक से अधिक पानीपत से पटने तक और हिमालय की तराई से विन्ध्याचल की तलहटी तक है और इसी बीच में व्रजभाषा का पद्य अच्छी तरह समझा और पढ़ा लिखा जाता है। बंगाली,गुजराती; मरहठे और मदरासियों को व्रजभाषा की कविता वैसी ही कठिन है जैसी उन लोगों की हम लोगों को है कारण इसका यही है कि व्रजभाषा और विशेष कर पद्य की व्रजभाषा एक ऐसी भाषा है कि वह बोलने मे कम प्रचलित है यहाँ तक कि अपने मुख्य देशवालों को समझ मे भी कभी-कभी नहीं आती और गद्य से यह नितान्त बहिर्गत है। गद्य सब खड़ी बोली ही के अधिकार मे है और यह खड़ी बोली इतनी प्रचलित है कि भारतवर्ष के सब खंडों मे थोड़ी बहुत समझी जाती है। वास्तव मे ठेट हिन्दुस्तानी जो उर्दू कहलाती है और साधारण खड़ी बोली हिन्दी मे कुछ भी भेद नहीं है। अन्तर उस समय हो जाता है जब कि उर्दू मे अधिकतर फारसी के और हिन्दी में अधिकाश संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का बर्ताव किया जाता है। इस हिन्दुस्तानी या हिन्दी का प्रचार भारत वर्ष मे इतना विस्तृत है कि योरोपियन इसे यहाँ की फ्रेन्च जबान करके समझते हैं और ठीक है जब अंग्रेजी बिना पढ़े बंगाली और मरहठे अथवा मद्रासी और गुजराती आपस मे बात करते हैं तो इसी हिन्दी भाषा का आश्रय लेते हैं। सिंध का रहने वाला नैपाल के निवासी से और कश्मीर का वासी कन्या कुमारी वाले से अंगरेजी के अतिरिक्त इसी बोली में बात चीत कर सकता है। और जब हम यह देखते हैं कि जिन अक्षरों मे

हिन्दी लिखी जाती है उनकी वर्णमाला भी सम्पूर्ण भारतवर्ष से सम्बन्ध रखती है अर्थात् सब स्थानों में पढ़ी लिखी जाती है तो हमको यहां तक कहने का साहस हो आता है कि यदि इस विविध भाषाओं के देश भारतवर्ष की कोई एक भाषा कही या मानी जा सकती है तो हिन्दी ही मानी जा सकती है और वह हिन्दी खड़ी हिन्दी है ब्रज भाषा की हिन्दी नहीं। इस खड़ी हिन्दी की उन्नति भी देश देशान्तरों मे देखने में आती है। इसमें बहुत से समाचार पत्र निकलते हैं, सहस्रा ग्रन्थ बनते चले जाते हैं और निस्सन्देह यह भाषाओं के समाज में दिन दिन अधिक ही अधिक आदरणीय होती जाती है।

(३) एक अगरवाले के मत पर एक खत्री की समालोचना

ब्रजभाषा कविता के पक्षपाती बाबू हरिश्चन्द्र की दुहाई देते हैं इसलिये बाबू हरिश्चन्द्र के वचन का खंडन होना आवश्यक है, बाबू हरिश्चन्द्र ईश्वर नहीं थे, उनको शब्दशास्त्र फिलोलाजी का कुछ भी बोध नहीं था, यदि फिलोलाजी का ज्ञान होता तो खड़ी बोली मे पद्य रचना नहीं हो सकती है ऐसा नहीं कहते, आप लिखते हैं कि 'पश्चिमोत्तर देश की कविता की भाषा ब्रजभाषा है यह निश्चित हो चुका है, मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही मे कविता करना उत्तम होता है, मैंने इसका कारण सोचा कि खड़ी बोली मे कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सबसे बड़ा यह कारण जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होती हैं इससे कविता अच्छी नहीं बनती।' यदि दीर्घ मात्रा के कारण खड़ी बोली मे कविता करने में कठिनता है तो दीर्घ को ह्रस्व कर देना कवियों को पोए-टिकल लाइसेंस बहुत दिनों से हासिल है। 'दूकान उठा लो मैं घोड़ा न हटाऊँगा' हठ करना दूसरी बात है। दीर्घमात्रा रहते ही उर्दू के कवि पद्य रचना करते हैं और बाबू हरिश्चन्द्र भी करते थे, इसीलिए बाबू साहब का काव्य अपने खड़ी बोली का पद्य न० २ मे दिया है। उर्दू में नजीर और अनीस का काव्य बाबू हरिश्चन्द्र को अति प्रिय था, यह अनीस को अच्छा कवि समझते थे। बाबू साहब अपने हिन्दी व्याकरण म लिखते हैं 'वाक्य बनाने में व्याकरण की शुद्धता को छोड़ के मुहाविरे का भी ध्यान आवश्यक है। वाक्य साहित्य और मुहाविरों से ललित होते हैं। जाति पुरुष

और स्त्री दो प्रकार की है और हिन्दी मे नपुसक जाति के शब्द भी इन्हीं दो जाति में मिला दिये जाते हैं जो हिन्दी भाषा मे पारसी अगरेजी इत्यादि भाषा के शब्द गये हैं उसको कहीं तो हिन्दीवालों ने जाति बदल दी है कहीं नहीं बदली है इससे जो ऐसे शब्द आवें जिनकी जाति, हिन्दीवालों ने न बदली हो उसे उसी भाषा की जाति के अनुसार बोलना चाहिए। इसके लिखने से मेरा यह तात्पर्य है कि बाबू साहब पडित जी नहीं थे, मुशीजी थे, आपकी हिन्दी में पारसी अरबी के शब्द आये हैं। नमूने के लिये 'थाना' से उठाकर कुछ लिख देता हूँ। 'आज सुबह सात बज मेहदावल पहुँचे। सड़क कच्ची है राह में एक नदी भी उतरनी पड़ती है उसका नाम आमी है। छ: आना पुल का महसूल लगा।' जिस स्टाइल का यह गद्य है उस स्टाइल में खड़ी बोली में पद्य बहुत हैं। नजीर का कौड़ी नामा गोंचिये। पिंगल और स्टाइल दो भिन्न वस्तु है। माइकल मधुसूदनदत्त ने ब्लैंक वर्स अगरेजी छद को बँगला में लिखा है बाबू महेशनारायण ने 'स्वप्न' निराले छद में लिखा है। इसके लिये खड़ी बोली की कोई क्षति नहीं है। पडित जी से मौलवियों ने सस्कृत पिंगल हिंदी में व्यवहार करने के लिये कोई राजीनामा या मुचलका नहीं लिखाया है। पडित श्रीधर पाठक का यह हिस्सा है।

* * * *

जब तक पश्चिमोत्तर देश की कचहरियों मे पारसी अक्षर जारी रहेंगे गद्य और पद्य मे पारसी अरबी शब्द अवश्य आयेंगे।

पडित शिवनाथ शर्मा: जिनका लखनऊ में जन्म ग्रहण करना व्यर्थ है: १० मार्च १८८८ के हिन्दोस्तान में लिखते हैं 'हरिश्चन्द्र के साथ ही ब्रज-भाषा की समाप्ति बताना सर्वथा भ्रम है।' मेरी समझ में पाठक जी का मत बहुत उत्तम है। जैन मतावलम्बी अभी तक हिन्दुस्थान और एशिया के अन्य देशों में मौजूद हैं इससे हिन्दू धर्म के इतिहास में जैन धर्म का नवीन काल नहीं माना जायगा।'

ग्रंथ-सूची

क—हिन्दी-पुस्तकें

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल ... हिन्दी साहित्य का इतिहास

२—डा० धीरेंद्र वर्मा ... हिन्दी भाषा का इतिहास

३—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ... पुरानी हिन्दी

४—लल्लूजी लाल ... प्रेमसागर

५—सदल मिश्र ... नासिकेतोपाख्यान

६—[सं०] पिन्काट ... खड़ी बोली का पद्य

७—सुधाकर द्विवेदी ... सीधी हिंदी बोली मे राम कहानी

८—कामताप्रसाद गुरु ... हिन्दी व्याकरण

९—बालमुकुन्द गुप्त ... हिन्दी भाषा

१०—डा० धीरेंद्र वर्मा ... ग्रामीण हिन्दी

११—सं० चन्द्रमोहन घोष ... प्राकृत पैंगलम्

१२—सं० मुनिजिनविजय ... उक्तिव्यक्तिप्रकरण

१३—सं० डा० पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल गोरखबानी

१४—डा० रामकुमार वर्मा ...हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

पद्मसिंह शर्मा हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी

१५—ब्रजरत्नदास ... खुसरो की हिन्दी कविता

१६—ब्रजरत्नदास ... खड़ी बोली हिंदी साहित्य का विकास

१७—श्रीराम शर्मा ... दक्खिनी का गद्य और पद्य

१८—नाथूराम प्रेमी ... हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास

१९—[सं] मंगलदास स्वामी... दादू की वाणी

२०—रामनरेश त्रिपाठी ... खड़ी बोली हिंदी कविता का संक्षिप्त परिचय

२१—[सं०] परशुराम चतुर्वेदी... मीराबाई की पदावली

२२—सीतलदास ... गुलज़ार चमन

२३—[सं० राधाकृष्णदास] सूदन... सुजान चरित्र

२४—डा० बाबूराम सक्सेना ... दक्खिनी हिन्दी
२५—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय .. फोर्टविलियम कालेज
२६—राधाकृष्णदास ... हिंदी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास
२७—हरिश्चन्द्र ... हिन्दी भाषा
२८—सं० ब्रजरत्नदास ... भारतेन्दु ग्रंथावली भाग १
२९— " ... " " " २
३०— " ... " " " ३
३१—[सं०] डा० श्रीकृष्णलाल... श्री निवासदास ग्रंथावली
३२—श्रद्धाराम फिल्लौरी ... भाग्यवती
३३—[अनु०] हरिश्चन्द्र ... पूर्णप्रभा चन्द्रप्रकाश
३४—राजा लक्ष्मणसिंह ... शकुन्तला
३५—राजा शिवप्रसाद ... स्वयम् बोध उर्दू
३६— " ... भाषा का इतिहास
३७— " ... भूगोल हस्तामलक
३८— " ... इतिहास तिमिरनाशक
३९— " ... हिन्दी व्याकरण
४०—केशवराम भट्ट ... हिन्दी व्याकरण
४१—डा० श्रीकृष्णलाल ... आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास
४२—डा० सुधीन्द्र ... हिन्दी कविता के युगान्तर
४३—डा० उदयभानुसिंह ... द्विवेदी युग
४४—डा० केसरीनारायण शुक्ल... आधुनिक काव्य धारा
४५—डा० रामरतन भटनागर ... हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि
४६—महावीरप्रसाद द्विवेदी ... रसज्ञ रंजन
४७— " " . काव्य मञ्जूषा
४८— " " ... द्विवेदी काव्यमाला
४९—[प्र०] नागरीप्रचारिणी सभा... द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ
५०— " ... कोशोत्सवस्मारक ग्रंथ
५१— " ... राधाकृष्णदास ग्रंथावली
५२—[डा०] हजारीप्रसाद द्विवेदी... हिन्दी साहित्य की भूमिका

५३—विनयमोहन शर्मा ... साहित्यावलोकन
५४—जगन्नाथदास रत्नाकर ... समालोचनादर्श
५५—[सं०] डा० श्रीकृष्णलाल... श्यामास्वप्न
५६—[अनु०] मैथिलीशरण गुप्त... मेघनाद वध
५७—[सं०] 'निराला' ... रवीन्द्र कविता कानन
५८—बंकिमचन्द्र चटर्जी ... लोकरहस्य
५९—डा० दशरथ ओझा ... हिन्दी नाटक उद्भव और विकास
६०—[सं०] माधवराव सप्रे .. निबन्ध संग्रह
६१—[अनु०] 'मधुप' मैथिलीशरण गुप्त... विरहिणी ब्रजांगना
६२—रामनरेश त्रिपाठी ... कविता कौमुदी दूसरा भाग
६३—रामनरेश त्रिपाठी ... स्वप्नों के चित्र
६४—पट्टाभि सीतारमैया अनु० कांग्रेस का इतिहास
हरिभाऊ
६५—संकलनकर्ता—अयोध्या- ... खड़ी बोली का पद्य दूसरा भाग
प्रसाद खत्री
६६—[सं०] भुवनेश्वर मिश्र ... खड़ी बोली का आन्दोलन
६७—श्यामजी शर्मा ... खड़ी बोली का पद्यादर्श
६८—पर्यालोचक और विचारक खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा
६९—[प्र०] इंडियन प्रेस ... भारतेन्दु नाटकावली
७०—गनेशबख्श महेश्वरबख्श सिंह प्रियाप्रीतम विलास
७१—श्रीधर पाठक ... एकान्तवासी योगी
७२— ,, ... जगत सचाई सार
७३— ,, ... मनोविनोद
७४— ,, ... कश्मीर सुषमा
७५—अम्बिकादत्त व्यास ... आश्चर्य वृत्तान्त
७६—प्रतापनारायण मिश्र ... लोकोक्तिशतक
७७—प्रतापनारायण मिश्र ... तृप्यन्ताम्
७८—प्रतापनारायण मिश्र (सम्पादित)... प्रताप पीयूष
७९—केशवराम भट्ट ... सज्जाद सुम्बुल

८०—अयोध्यासिंह उपाध्याय ... काव्योपवन
'हरिऔध'
८१— " " ... प्रियप्रवास
८२—मैथिलीशरण गुप्त ... साकेत ,,
८३— " " ... जयद्रथ वध
८४—नाथूराम शंकर ... अनुराग रत्न
८५—बालमुकुन्द गुप्त ... स्फुट कविता
८६—जयशंकर प्रसाद ... विशाख
८७—सुमित्रानंदन पंत ... पल्लव
८८— " ... आधुनिक कवि
८९—डा० गोपालशरणसिंह ... आधुनिक कवि
९०—लाला श्रीनिवास दास ... संयोगिता स्वयंवर
सारसुधानिधि प्रेस
९१—लाला शालिग्राम—प्र० वेंकटेश्वर प्रेस अभिमन्यु नाटक
९२—राधाचरण गोस्वामी ... भंगतरंग प्रहसन
९३—[प्र०] सा० सम्मेलन ... प्रेमघन सर्वस्व
९४—रामनरेश त्रिपाठी ... पथिक
९५—जयशंकर प्रसाद ... प्रेमपथिक
९६—मैथिलीशरण गुप्त ... भारत भारती

लोक साहित्य

९७—राहुल सांकृत्यायन आदि हिंदी की कहानियां और गीतें
९८—अमानत इन्दर सभा
९९—श्रद्धाराम फिल्लौरी सत्यधर्म मुक्तावली
१००—काशीगिरि ख्याल अर्थात् लावनी ब्रह्मज्ञान
१०१—संग्रहकर्ता-राजाराम मिश्र लावनी चौदह रत्न
१०२—[सं०] श्रीनारायण बारहमासा 'निदा'
१०३—चिरंजीलाल नत्थाराम सांगीत चन्द्रावली का झूला
१०४—भजनलाल हीर रांझा

१०५—लाला गनेशप्रसाद   शकुन्तला नाटक नवीन
१०६—भा० हरिश्चन्द्र   प्रेम तरंग
(प्र०) हरिप्रकाश यन्त्रालय
१०७—भा० हरिश्चन्द्र—भारतजीवन प्रेस—फूलों का गुच्छा
१०८—अम्बिकादत्त व्यास   रसीली कजरी
१०९—देवकीनन्दन तिवारी   कबीर
११०—प्रतापनारायण मिश्र   मन की लहर
१११—[मु०] गयाप्रसाद   कबीर
११२—चौ० प्रेमघन   श्री वर्षा बिन्दु
* नजीर   आटा दाल नामा
* [स] नकछेदी तिवारी   भड़ौवा संग्रह तृतीय भाग

ईसाई साहित्य

११३—[प्र] नार्थ इंडिया ट्रैक्ट सोसायटी   गीत और भजन
११४—जानपार्सन और जान क्रिश्चियन   ए कलेक्शन आफ् हाइम आन् डेयली वरशिप
११५—[प्र०] नार्थ इंडिया ट्रैक्ट सोसायटी   सत्यशतक
११६—[प्र०] आर्फन प्रेस मिर्जापुर   ज्योतिरुदय

घ—पत्र पत्रिकाएं

१—जर्नल रायल एसियाटिक सोसायटी
२—नागरीप्रचारिणी पत्रिका
३—हरिश्चन्द्र मैगजीन और हरिश्चन्द्र चन्द्रिका
४—कविवचन सुधा
५—सारसुधा निधि
६—हिंदी प्रदीप
७—बिहार बन्धु
८—भारत जीवन
९—बुद्धि प्रकाश
१०—भारत मित्र

११—क्षत्रिय पत्रिका
१२—समालोचक
१३—मर्यादा
१४—सरस्वती
१५—आनन्दकादम्बिनी
१६—माधुरी
१७—हिंदुस्तानी
१८—संमेलन पत्रिका
१९—साहित्य संमेलन के कार्य विवरण
२०—काशी पत्रिका
२१—विशाल भारत
२२—साहित्य पत्रिका
२३—रूपाभ
२४—हिंदी अनुशीलन
२५—व्रजभारती

ग—अंग्रेजी की पुस्तकें

1—G. A. Grierson — Linguistic Survey of India Vol. IX Part I.
2—G. A. Grierson — A Modern Literary History of Hindustan
3—F. E. Keay — A History of Hindi literature.
4—Dr. Suniti Kumar Chaturja — Languages and Linguistic Problems.
5—J. N. Farquhar — Modern Relegious Movment.
6—H. V. Hampton — Biographical Studies in Modern Indian Education.
7—Gribles — The History of Deccan.

8—Harke G. De. Marr — A History of Modern English Romanticism.
6—Charles Seers Baldwin — Renaissance Literary Theory and Practice.
10— — Encyclopaedia Britanica 14th Vol,
11—Geoffrey — Before Romantics.
12—Madan Mohan Malviya — Court Character.
13—Shiv Prasad — Memorandum Court Character.

ग—हस्तलेख

१—धूधलीमल और चौरंगीनाथ की सनदें — प्राप्ति स्थान डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२—भगवतदयाल वर्मा-आदिलशाही दरबार में हिंदी — एम० ए० के लिये प्रस्तुत प्रबंध, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, पुस्तकालय
३—गोरख शतं—प्राप्ति — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४—हस्तलिखित पत्र — श्रीधर पाठक, आचार्य द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्याप्रसाद खत्री, हरिऔध आदि
प्राप्ति स्थान — नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

———